अथर्ववेदीय-

प्रश्नोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिक :

अथर्ववेदीय—

प्रश्नोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः

मूल्य : १५०) रुपये मात्र

पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा

प्रकाशकीय

स्व० पं० मोतीलालजी शास्त्री के द्वारा निबद्ध वैदिक-साहित्य के प्रकाशनक्रम में 'प्रश्नोपनिषत् हिन्दीविज्ञानभाष्य' का प्रकाशन करते हुए मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। इससे पूर्व स्व० शास्त्रीजी के ईशोपनिषत्, केनोपनिषत्, मुण्डकोपनिषत्, माण्डूक्योपनिषत् पर हिन्दीभाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से ईश व केन पर तो हिन्दीभाष्य स्वयं शास्त्रीजी ने ही प्रकाशित करवा दिए थे।

प्रश्नोपनिषत् प्रमुख उपनिषदों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनिषत् है। स्व० शास्त्रीजी ने इसे पिप्पलादोपनिषत् और प्राणोपनिषत् भी कहा है। इस उपनिषत् में कुल ६ प्रश्न हैं। जिनमें क्रमशः १–रयिप्राणात्मक परमेष्ठी महान् का, २–धिषणाप्राणात्मक सौर-विज्ञानात्मा का, ३–प्रज्ञाप्राणात्मक चान्द्र प्रज्ञानात्मा का, ४–भूतप्राणात्मक पार्थिव प्राणात्मा का, ५–अव्यक्तप्राणात्मक स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा का तथा ६–षोडशकलावच्छिन्न पुरुषात्मा का बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। प्राणविद्याप्रतिपादक यह उपनिषद्विज्ञानभाष्य स्व० शास्त्रीजी के श्रेष्ठ भाष्यों में से एक कहा जा सकता है।

स्व० शास्त्रीजी द्वारा विरचित ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य्य से जुड़े हुए प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने प्रस्तुत ग्रन्थ के मूलपाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूल संस्कृत-अंशों के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण में जो बहुमूल्य योगदान किया है, इसके लिए मैं उनका हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

स्व० शास्त्रीजी के सुपौत्र चि० प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा ने इस अत्यन्त दुरूह ग्रन्थ को व्यवस्थित करने, त्रुटित स्थानों को पूर्ण करने, अधूरे सन्दर्भों को ग्रन्थों से खोजकर यथास्थान लगाने, पाद-टिप्पणियों को देने आदि का जो कार्य निभाया है—उसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हीरालाल गहलोत मूलपाण्डुलिपि के सुपाठ्य पुनर्लेखन, प्रूफसंशोधन एवं सन्दर्भ-शोधन में सहायता प्रदान करने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं आशा करता हूँ कि वेद-निष्ठ महानुभाव हमारे इस प्रयास से लाभान्वित होंगे। इसी आत्म-विश्वास के साथ—

कृष्णजन्माष्टमी
वि० सं० २०५२

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री

प्रश्नोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

विषय-सूची

प्रश्नोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषयों का सारसंक्षेप–

'पिप्पलादोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध षट्–प्रश्नात्मिका इस उपनिषत् में प्राणविद्या–प्रतिपादन के द्वारा 'प्रश्नरलक्ष्य' की ओर सङ्केत हुआ है। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, भेद से प्राण के मुख्य तीन विवर्त्त हैं। प्रत्येक के असंख्य विवर्त्त हैं, जैसा कि–को हि तद्वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः' (शत०ब्रा० ७।२।२।२०।) निगम से स्पष्ट है। अनेकधा विभक्त इन आध्यात्मिक प्राणों के कोशभूत पाँच आध्यात्मिक प्राणों का ही इस प्राणोपनिषत् में विश्लेषण हुआ है। 'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मुण्डकोपनिषत्) के अनुसार आध्यात्मिक, अमृतात्मलक्षण षोडशीपुरुष में अव्यक्तप्राण, महत्प्राण, विज्ञानप्राण, प्रज्ञानप्राण, पशुप्राण, भेद से पाँच प्राकृत प्राण प्रतिष्ठित हैं। इसी पञ्चप्राणसमष्टि का पूर्व के पारिभाषिक परिच्छेदों में 'विश्वसृट्' नाम से विश्लेषण हुआ है एवं इन्हीं को 'प्राणः–आपः–वाक्–अन्नं–अन्नादः' कहते हुए इनकी समष्टि को 'ब्रह्मसत्य' कहा गया है। इन पाँच मुख्य प्राणों के साथ एक एक भूतभाग प्रतिष्ठित रहता है। भूत ही प्राण की प्रतिष्ठा (आलम्बन) है। भूत–प्राण–भेद से दो कलाओं में विभक्त पञ्चप्राणनिरूपण–पूर्वक पञ्चप्राणाधारभूत षोडशी पर विश्रान्ति ही उपनिषन्निकर्ष है।

सुकेशा भारद्वाज, सत्यकाम शैब्य, सौर्य्यायिण गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, छओं ब्रह्मसत्य (प्राणपञ्चक) जिज्ञासु समित्पाणि होकर प्राणविद्याचार्य्य महर्षि पिप्पलाद के आश्रम में पहुँचते हैं और क्रमशः प्राणस्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। प्रश्नसम्बन्ध से यह उपनिषत् 'प्रश्नोपनिषत्' पिप्पलादसम्बन्ध से 'पिप्लादोपनिषत्' एवं प्राणप्रतिपादनसम्बन्ध से 'प्राणोपनिषत्' कहलाई है।

प्रथम प्रश्न में रयि–प्राणात्मक 'महत्प्राण' का दूसरे प्रश्न में धिषणाप्राणात्मक 'विज्ञानप्राण' का तीसरे प्रश्न में जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति के अधिष्ठाता प्रज्ञा–प्राणात्मक 'प्रज्ञानप्राण' का, चौथे प्रश्न में भूत-प्राणात्मक 'भूतप्राण' का, पाँचवें प्रश्न में अव्यक्त–प्राणात्मक 'अव्यक्तप्राण' का निरूपण हुआ है। ये पाँचों प्राण 'अरा इव रथनाभौ' के अनुसार नाभिस्थानीय षोडशकल पुरुष में ओत-प्रोत हैं। छठे प्रश्न में उसी पुरुषतत्त्व का विश्लेषण हुआ है।

प्रथम प्रश्न में रयि–प्राणात्मक महत्प्राण के निरूपण के साथ-साथ अहोरात्र, पक्ष, मास, अयनाधिष्ठाता, उत्तरायण–दक्षिणायनप्रवर्त्तक, पञ्चपाद, द्वादशाकृति, सप्तचक्रात्मक संम्वत्सरप्रजापति का तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। द्वितीय प्रश्न में धिषणा–प्राणात्मक विज्ञानप्राणनिरूपण के साथ-साथ प्राणों के स्वाभाविक विधृति, प्रतिष्ठा, ज्योतिः–इन तीन धर्म्मों का विश्लेषण हुआ है। अनन्तर प्राण के अन्नादभाव का उपबृंहण करते हुए इसका सर्वाधिष्ठातृत्त्व सिद्ध किया गया है। तीसरे प्रश्न में प्रधानरूप से प्रज्ञा–प्राणात्मक प्रज्ञानप्राण का निरूपण करते हुए सुप्रसिद्ध 'प्राण–उदान–व्यान–समान–अपान' इन पाँच वायव्य प्राणों की वैज्ञानिक मीमांसा हुई है। इसी में द्वासप्ततिसहस्र (७२०००) नाड़ियों का

स्वरूपपरिचय हुआ है। उद्गार, निमेष, उन्मेष, क्षुधा, पिपासा, जृम्भा, श्वयथु, कम्पन, गमन, रुदन, हसन आदि चेष्टाविशेषों की प्रतिष्ठारूप कृकल, धनञ्जय, देवदत्त, नाग आदि प्राण भी इसी प्रश्न के तात्त्विक विषय हैं। चतुर्थ प्रश्न में प्रधानरूप से भूत-प्राणात्मक मर्त्यप्राण (भूतप्राण) का विश्लेषण करते हुए एवं प्राणाग्निविवर्त्तों की मीमांसा करते हुए कौन जागता है, कौन सोता है, कौन उभयधर्म्मावच्छिन्न है ?—इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान किया है। पाँचवें प्रश्न में अव्यक्त-प्राणात्मक 'अव्यक्तप्राण' का प्रधानरूप से निरूपण करते हुए 'ओङ्कार' की तात्त्विक व्याख्या हुई है। छठें प्रश्न में प्रधानतया षोडशकल पुरुष के निरूपण के साथ साथ पुरुष के क्षरभाग से उत्पन्न भूतसृष्टि का भी तात्त्विक विवेचन हुआ है। यही इसके प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त प्रदर्शन है।

प्रश्न—१—रयि—-प्राणात्माधिकरणम्—रयिप्राणात्मको महानात्मा पारमेष्ठ्यः

प्रश्न—२—धिषणा-प्राणात्माधिकरणम्—धिषणाप्राणात्मको विज्ञानात्मा सौरः

प्रश्न—३—प्रज्ञा—-प्राणात्माधिकरणम्—प्रज्ञाप्राणात्मकः प्रज्ञानात्मा चान्द्रः

प्रश्न—४—भूत—-प्राणात्माधिकरणम्—भूतप्राणात्मकः प्राणात्मा पार्थिवः

प्रश्न—५—अव्यक्त-प्राणात्माधिकरणम्—अव्यक्त-प्राणात्मकोऽव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः

प्रश्न—६—पुरुषात्माधिकरणम्————षोडशकलावच्छिन्नः पुरुषात्मा

———❀———
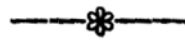
अथ अधिकारिस्वरूपरहस्यम्–

प्राचीन भारत की–वैदिककालीन सभ्यता की एवं सभ्यता में प्रचलित व्यवस्थाओं की यदि आज इस २०वीं शताब्दी की सभ्यता एवं व्यवस्था के साथ तुलना करने लगते हैं तो अहोरात्र का अन्तर पाते हैं। आज का भारतवर्ष विज्ञानशून्य है, असभ्य है–जंगली है–अकर्मण्य है। आज हम भारतीयों में जो कुछ सभ्यता का अंश विद्यमान है–यह पाश्चात्यों की दयादृष्टि का फल है। यदि उन देशों के साथ हमारा संसर्ग न होता तो हम एकान्ततः जंगली ही बने रहते। यह है वर्तमान स्थिति, परन्तु हमारा अतीत कैसा था? हम आज इस प्रश्न का उत्तर देने में भी लज्जित होते हैं। अतीत का स्मरण हमारे चित्त को व्याकुल कर देता है। इसलिए इस प्रश्न के उत्तर में अधिक न कहकर यही कहना पर्य्याप्त होगा कि पाश्चात्यों ने हमारे इतिहास से अपरिचित रहकर अथवा परिचय प्राप्त करके भी हमारे अतीत अभ्युदय के स्मरण से होने वाली योग्यता से हमें वञ्चित रखने की अभिलाषा रखकर हमें एकान्ततः असभ्य बतलाया है। उन सत्यवादियों के प्रति हमें कुछ नहीं कहना। कहना केवल भारतीयों से है। उसमें भी हमारे लक्ष्य प्रधानरूप से भूसुर हैं। इन्हीं भूसुरों के पूर्वज असभ्य नहीं थे, पूर्ण सभ्य थे। संसार की तत्तत्सभ्यताओं को, तत्तद्देशवासियों को सिखाने वाले गुरु ही नहीं, परमगुरु थे। पूर्ण वैज्ञानिक थे, कर्मण्य थे। उसी के फलस्वरूप आज हमारे सामने उपनिषद्–ब्राह्मणादि उपस्थित हैं। उपनिषदों और ब्राह्मणग्रन्थों में वह विज्ञान भरा हुआ है कि उसके सामने मेटीरियल सायन्स को ही सर्वेसर्वा मानने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों के विज्ञान बुरी तरह से परास्त होते हैं। आजकल का सायन्स मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के तीसरे वाङ्मय भूतभाग का निरूपण करता है। मेटिरियल जगत् पर सायन्स की इतिश्री है। परन्तु हमारा विज्ञान वाङ्मयजगत् के आधारभूत प्राण, प्राणप्रपञ्च के आधारभूत मन तक दौड़ लगाता है। भूतसायन्स को हमारे ऋषि रद्दी चीज समझते हैं। वाक् से प्राणविज्ञान को वे अधिक माहात्म्य देते हैं। प्राण से अधिक माहात्म्य मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) को देते हैं। यद्यपि आजकल भी 'साइकोलॉजी' नाम से प्रसिद्ध मनोविज्ञान प्रचलित है, परन्तु हमारा मनोविज्ञान इस साइकोलॉजी से भिन्नतत्त्व है। श्वोवसीयसमन, प्रज्ञाननामक सर्वेन्द्रियमन एवं सुख-दुःखभोक्ता इन्द्रियमन तीनों में से पहला मन आत्ममय है। ऋषियों का लक्ष्य यही है। शेष दो मन तो वाक्रूप भूतप्रपञ्च के ही अन्तर्गत हैं। दोनों अन्नमय हैं। अन्न साक्षात् भूत है। ऐसी अवस्था में इन वैज्ञानिकों की साइकोलॉजी मेटिरियल सायन्स में ही घुस जाती है। हमारे शास्त्रों में इन दोनों भौतिक मनों के जो लक्षण–जो कर्म्म बतलाए हैं, करीब करीब उन्हीं को साइकोलॉजी ने अपनाया है। परन्तु वे इन्हें अनमेटिरियल बतलाते हैं–जो कि पूर्वकथनानुसार सर्वथा मेटिरियल हैं। अस्तु, कौन कितना समझता है? यह शास्त्रार्थ अप्राकृत है। हमें यहाँ अपनी कहनी है। उपनिषत् आत्मा का स्वरूप बतलाता है। आत्मा मन-प्राण-वाक् भेद से त्रिकल है। यह आत्मा का सृष्टिसाक्षीभाग है। इनके भीतर आनन्द-विज्ञान शुद्ध (निर्विषयक मन) मनोरूप मुक्तिभाग है। उपनिषत् इस मुक्तिसाक्षीभाग की ओर लक्ष्य रखता हुआ

सृष्टिसाक्षी आत्मा का निरूपण करता है। मन असली उद्देश्य है। यह प्राण वाक् के विना अनुपपन्न है, अतएव उपनिषत् को गौणरूप से इसका भी निरूपण करना पड़ता है। आत्मा आत्मा है, प्राण प्राण है, वाक् पशु है। तीनों की समष्टि प्रजापति है। आत्मा, प्राण, प्रजापति उपनिषत् के ये ही तीन विषय हैं। किसी उपनिषत् में आत्मा का निरूपण मुख्य है, किसी में प्राण की प्रधानता है, किसी में वाक् की प्रधानता है। इसमें हमारा 'पिप्पलाद' उपनिषत् प्राणप्रधान है। प्राण अनन्त हैं। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, मरीचि, पुलस्त्य आदि अनन्त ऋषि-प्राण हैं। इन ऋषिप्राणों की विद्या को प्रकट करने वाले मनुष्य ऋषि उन-उन नामों से ही प्रसिद्ध हुए हैं। भिन्न-भिन्न ऋषि भिन्न-भिन्न प्राण की परीक्षा करते थे। वहाँ से तत्तत्प्राणविद्या देश में प्रचलित होती थी। प्राचीन भारत में प्राणविद्या की परीक्षाएँ करने वाली यों तो अनेक विज्ञानशालाएँ थीं, परन्तु उन सब में मुख्य १० ही थीं। वे दसों शालाएँ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में 'ब्रह्मपर्षत्' नाम से प्रसिद्ध थीं। अप्राकृत होने पर भी उनका नामोल्लेख कर देना उचित नहीं तो अनुचित भी नहीं होगा—

(१)–तत्कालीन वेदविद्या 'आसुर और देव'- दो भागों में विभक्त थी। आसुरविद्या के आचार्य बलख नाम से प्रसिद्ध बाल्हीक में रहने वाले पश्चिम दिशा के लोकपाल 'वरुण' थे। ये ही आसुरी-वारुणी (मद्य) के आविष्कारक थे। इनके औरस पुत्र भृगु को आगे जाकर पुष्कर में पैदा होने वाले एवं प्राङ्मेरु पर ज्योतिष्मती नगर में रहने वाले कान्तिमती सभा के अध्यक्ष भगवान् ब्रह्मा ने अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। कहना यही है कि आसुरवेद वरुणप्रधान था। इस आसुरी वेदविद्या के प्रवर्त्तक सुप्रसिद्ध पुलस्त्य-पुलह ऋषि थे। यद्यपि किलात, आकुली, स्लाव आदि और और भी आसुर वारुण ब्राह्मण थे–जिनके कि वंशज आज भी केल्ट-स्लाव आदि नामों से प्रसिद्ध हैं–तथापि उन सब में मुख्य पुलस्त्य और पुलह दो ही प्रधान थे। जर्मन रूस के मध्य में जो स्थान आज 'पोलेण्ड' नाम से प्रसिद्ध है–यही इन दोनों आसुर ऋषियों की 'ब्रह्मपर्षत्' थी। पुलस्त्य ही निरुक्तक्रमशः पोलेण्ड बन गया होगा-यह सम्भावना की जा सकती है। बस, आसुरपर्षत् के विषय में अधिक कहना अनधिकार चेष्टा है, अतः इसे यहीं समाप्त कर दिव्यपर्षदों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं।

(२)–दिव्यपर्षत् कुल ९ थीं। इन ९ में एक पर्षत् तो भौमस्वर्ग में थी। एक अन्तरिक्ष में थी। शेष आठ इसी भारतवर्ष में थी। स्वर्ग में कश्यपपर्षत् थी। इसके ब्रह्मा महर्षि कश्यप थे। इस गद्दी पर जो जो प्रतिष्ठित हुए–सब कश्यप कहलाए। प्राङ्मेरु के ऊपर हिरण्यशृंग पर्वत है। यहीं ब्रह्मा की कान्तिमती पुरी है। यही स्वर्गप्रदेश था। इस हिरण्यशृंग पर्वत के समीप तिब्बत है। तिब्बत से उत्तरभाग में ही हमारी यह दूसरी कश्यपपर्षत् थी। इस पर्षत् में प्रधानरूप से 'कश्यप' प्राण की परीक्षा होती थी।

(३)–तीसरी अत्रिपर्षत् थी। सांख्यभौमभेद से अत्रिवंश दो भागों में विभक्त हुआ। इनमें भौमअत्रि के पुत्र चन्द्रमा थे। यही चन्द्रमा ब्रह्मा द्वारा उत्तर दिशा के लोकपाल बनाए गए एवं इन्होंने ही तारा-हरण किया। इन्हीं की कृपा से सोमवल्ली का ध्वंस हुआ। असुरों

का भारतवर्ष में आधिपत्य हुआ। इसीलिए आज भी असुर-सम्प्रदाय में चान्द्रतिथि को ही प्रधानता दी जाती है। चन्द्रमा से इला के गर्भ में बुध पैदा हुए। इन्हीं से सुप्रसिद्ध पौराणिक सोमवंश चला। इसी वंश के लिए पुराणों में-'**ऐलप्रकृतिरुच्यते**'-यह कहा जाता है। दूसरे सांख्य अत्रि के पुत्र '**शांखायन**' हुए। यह परम अधार्मिक हुए। भौम ने बहुत रोका, पर यह न माने। अन्त में भौमअत्रि दुःखी हो-इसे एवं इसके अन्य दुराचारी भाईयों को छोडकर सिन्धुदेश के '**देवनिकाय**' (सुलेमान पर्वत) पर जाकर वहीं रहने लगे एवं इधर शांखायन एवं इसके भाई और वंशधर म्लेच्छप्राय हो गए-जो कि पुराणों में आज भी '**यवन**' नाम से प्रसिद्ध हैं। जिसे आज ईरान कहते हैं-यही हमारा आर्य्यायण नाम से प्रसिद्ध पश्चिम भारतवर्ष है। सिन्धु से पूर्व 'यलो सी' (पीत समुद्र) तक पूर्वीय भारत है। सिन्धु से पश्चिम रेड सी तक पश्चिम भारतवर्ष है। पश्चिम भारत की अन्तिम सीमा '**मेडिटरेनीयेन सी**' है। यही पुराणों में '**महीसागर**' नाम से प्रसिद्ध है। यही स्वर्ग की सन्धि थी। यहीं हमारे भौम अत्रि रहते थे। यहीं इनकी ब्रह्मपर्षत् थी। सुप्रसिद्ध महर्षि काप्य की ब्रह्मपर्षत् की भी यहीं स्थिति थी। प्रसंगागत एक बात और समझ लेनी चाहिए। आज जिस '**ग्रीक**' को यूनान कहा जाता है-वह असली यूनान नहीं है। असली यूनान '**अर्ब**' में है-जिसमें कि सांख्य अत्रि के वंशज रहते थे। अर्ब में, जिसे कि पुराणों में वनायु कहा है, कुल ९ खण्ड हैं। इन ९ओं खण्डों में एक खण्डविशेष ही प्राचीन यवन था। यहाँ पर शांखायन के वंशज आसुरधर्मानुयायी अतएव असुर नाम से प्रसिद्ध '**हेलि**' नाम के असुर यहीं रहते थे। इनके कारण ही यह देश 'यवन' कहलाया। इन यवनों को अर्बों ने परास्त किया एवं इनका देश छीन लिया। ये यवन यहाँ से भागकर यूरोप के जिस खण्ड में जाकर रहने लगे-वह स्थान '**यूनान**' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही नया यूनान आज यूनान नाम से प्रसिद्ध हो गया है एवं अर्बस्थानीय असली यूनान को आज हम भूल गए हैं। प्राचीन यूनान आज पाश्चात्य भाषा में '**पोलेस्टाइन**' कहलाता है। यही यूरोपियनों का तीर्थ स्थान है। कालनेमि, मय आदि सुप्रसिद्ध असुर यहीं रहते थे। हमारे भारतीय ज्योतिषाचार्य्य '**वराहमिहिर**' ने यहीं आकर मयासुरखानदान से ज्योतिषविद्या का अध्ययन किया था।

(४)-चौथी शिविपर्षत् थी-यह काठियावाड़ में थी।

(५)-पाँचवीपर्षत्-अंगिरापर्षत् थी। पञ्चनद (पञ्जाब) पर्य्यन्त त्रिगर्त्त देश में यह पर्षत् थी।

(६)-छठी याज्ञवल्क्यपर्षत् थी। यह 'पर्षत्' मिथिलादेशस्थ सुप्रसिद्ध धनुषा के पास थी।

(७)-सातवीं उद्दालकपर्षत् थी। अयोध्या में एक वाहुदा नदी है। यहीं पर अति सुप्रसिद्ध उद्दालक पर्षत् थी। यहीं सुप्रसिद्ध धर्म्माचार्य शंखलिखित का आश्रम था।

(८)-आठवीं प्रवाहपर्षत् थी। पाञ्चालदेशान्तर्गत कन्नौज में यह पर्षत् थी।

(९)-नौवीं अश्वपति महाराज की अश्वपतिपर्षत् थी। पञ्जाब में जो केकयदेश है-वहीं इसकी सत्ता थी।

(१०)–दसवीं काशिराज प्रतर्द्दनपर्षत् थी ।

इन दस (१०) पर्षदों में १ आसुर पर्षत् थी, ७ (सात) ब्रह्मपर्षत् थीं एवं अन्त की दो क्षत्र-पर्षत् थीं ।

हमारे इस उपनिषत् के आचार्य पिप्पलाद की यद्यपि कोई स्वतन्त्र पर्षत् न थी, तथापि पीपल खाकर कठोर तपश्चर्या द्वारा यह महापुरुष तत्कालीन सभी पर्षदों के ब्रह्माओं से श्रेष्ठ बन गए । इनकी श्रेष्ठता यहाँ तक बढ़ी कि उस समय के सर्वश्रेष्ठ–सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, उद्दालक जैसे माने हुए परमवैज्ञानिक तक समय समय पर इनसे प्रश्न पूछने आने लगे । आज मंगलाचरण के अनन्तर इसी महापुरुष के द्वारा आविष्कृत उपनिषत्-तत्त्व को अपने उपनिषत्प्रेमी पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं—

इस उपनिषत् का प्राचीन नाम **'पिप्पलाद-उपनिषत्'** ही है । शंकराचार्य ने प्रश्नोत्तरमय होने से इसे आगे जाकर 'प्रश्न' नाम दे दिया है । इस उपनिषत् में पूर्वकथनानुसार प्राणतत्त्व का प्रधान रूप से निरूपण है, अतएव इस यौगिक अर्थ की अपेक्षा से हम इसे **'प्राणोपनिषत्'** नाम से भी व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं । उपनिषत्-सम्बन्धी सभी बहिरङ्ग वक्तव्य समाप्त हो चुका, अब एक बात और बतलाकर उपनिषत्-रहस्य प्रारम्भ किया जाता है—

उपनिषत् पढने का अधिकारी कौन है ? उपनिषत्-तत्त्व को आत्मसात् करने के लिए किन-किन नियमों का पालन करना आवश्यक है ? गुरु को किस समय उपनिषत्-तत्त्व बतलाना चाहिए ? –इत्यादि प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् पिप्पलाद कहते हैं—

"ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौशल्यश्चाश्वलायनः, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनः–ते हैते ब्रह्मपराः, ब्रह्मनिष्ठाः, परं ब्रह्मान्वेषमाणाः–'एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यति'-इति (अनुलक्ष्य) ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः" ।।१।।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्'[1]–इत्यादि श्रुति के अनुसार ब्रह्म के शब्द और पर भेद से दो विवर्त्त हैं । इनमें उपनिषत् प्रधानरूप से **'परब्रह्म'** का निरूपण करता है । उपनिषदों में एक ऐतरेय उपनिषत् ही ऐसा है जो प्रधानरूप से बडे विस्तार के साथ **'शब्दब्रह्म'** का निरूपण करता है । दूसरे परब्रह्म के अवर और पर भेद से पुनः दो भेद हो जाते हैं । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिव्यात्मक ब्रह्मसत्य नाम से प्रसिद्ध क्षरतत्त्व अवरब्रह्म है एवं आत्मक्षर, अक्षर, अव्यय, परात्पर विशिष्ट षोडशीपुरुष 'परब्रह्म' है । इन दोनों में से उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य परब्रह्म (षोडशी

१–बृहदा० उप० २।३।१ एवं ब्रह्मबिन्दू उप० १७ ।

आत्मा) है। उसी की इन ६ओं ने जिज्ञासा की है। इन वैज्ञानिकों ने अवरब्रह्म समझ लिया था एवं परब्रह्म की ओर ये आकृष्ट हो चुके थे। ब्रह्मविद्या की ओर झुक पड़े थे। न केवल झुक ही पड़े थे, अपि तु, उसे प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध हो गए थे। न केवल सन्नद्ध ही हो गए थे–अपि तु उसे खोजने निकल पड़े थे। ब्रह्म की ओर झुकना पहला कर्म्म है। झुककर विश्वासपूर्वक उस पर आरूढ हो जाना दूसरा कर्म्म है एवं आरूढ होकर उसके ज्ञान के लिए ब्रह्मज्ञानियों की शरण में जाना तीसरा कर्म्म है। इन तीन व्यापारों के अनन्तर ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति होती है। **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** से पहले ब्रह्मजिज्ञासा है। इसी के लिए **'ब्रह्मपराः'** कहा है। जिज्ञासानन्तर उस पर आरूढ होना दूसरा व्यापार है। इसके लिए **'ब्रह्मनिष्ठाः'** कहा है। विश्वासानन्तर ही उसे प्राप्त करने की–खोजने की इच्छा होती है। यही तीसरा व्यापार है। इसके लिए **'परं ब्रह्मान्वेषमाणाः'** कहा है। ये तीनों काम हैं, परन्तु यदि बतलाने वाला कोई योग्य गुरु नहीं है, तब भी कुछ नहीं, अतः ब्रह्म को ढूंढने वालों का सबसे पहला यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे खूब सोच-समझकर इस बात का निर्णय कर लें कि वह व्यक्ति आज इस धरातल पर ऐसा है–जो अपनी शंका का समाधान कर सकता है–जो चपलधी हठात् चाहे जिसको गुरु बना लेता है–वह आगे जाकर पछताता है। कारण इसका यही है कि यदि गुरु मामूली होता है तो–वह इस शिष्य का समाधान करने में असमर्थ रहता है। ऐसी अवस्था में इसमें गुरु के प्रति अश्रद्धा का उदय हो जाता है। यह अश्रद्धा इसका अनिष्ट करती है। इसलिए सबसे पहले यह निर्णय कर लेना आवश्यक हो जाता है कि यह गुरु अपने प्रश्नों का समाधान कर सकता है। बस, 'गुरु कैसा होना चाहिए'–इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर पिप्पलाद कहते हैं—

"एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति"–इति ॥

यह एक प्राचीन सम्प्रदाय था कि जब कोई किसी का शिष्यत्व स्वीकार करने जाता था तो वह समिधा (प्रादेशमात्र लकड़ी) हाथ में ले जाता था। तीनों वर्णों के लिए क्रमशः पालाश, खदिर, आश्वत्थी समिधाएँ नियत थीं। क्योंकि तीनों क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विड्-वीर्य्यप्रधान हैं। इस समिधा का ग्रहण निदान-रहस्य से सम्बन्ध रखता है। यज्ञाग्नि में जिन प्रादेशमित (१०½ अंगुल) लकड़ियों की आहुति दी जाती है–वे समिध कहलाती हैं। इध्म और समिध–दो नाम हैं। साधारण लौकिक अग्नि को प्रज्वलित करने वाला काष्ठ इध्म कहलाता है, किन्तु मन्त्रपूत अतएव यज्ञाग्नि द्वारा यज्ञिय आत्माओं का समिन्धन करने वाली लकड़िएँ **'समिधा'** कहलाती हैं। समिधाएँ जिन मन्त्रों से आहुत होती हैं–वे मन्त्र याज्ञिक परिभाषा में **'सामिधेनी'** नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा प्रज्वलित अग्नि आत्माग्नि का समिन्धन करती हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"इन्धे ह वा एतदध्वर्युः। इध्मेनाग्निम्–तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात् सामिधेन्यो नाम" ॥[1]

१–शत० ब्रा० १।३।५।१।

अपि च--

"यो ह वा अग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः । अतितरां ह वै स इतरस्मादग्ने-स्तपति । अनवधृष्यो हि भवति-अनवमृश्यः" ।।[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि सामिधेनी ऋङ्मन्त्रित समिधा-निदान से आत्माग्नि को प्रज्वलित करने वाली है । सुप्त आत्मा इसकी आहुति से प्रज्वलित हो जाता है । आज उस समिधा को हाथ में रखकर गुरु के सामने खड़ा हुआ जिज्ञासु यह भाव प्रकट कर रहा है कि-"आप इस समिधा द्वारा मेरी सुप्त आत्मा को प्रज्वलित कीजिए । मैं अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ हूँ-आप उसे दूर कीजिए-अर्थात् उपदेश दीजिए-तद्द्वारा आत्मज्ञान करवाइए"-बस, इसी प्राचीन किन्तु विज्ञानसिद्ध संप्रदाय का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

"ते ह ते समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः" ।।

बस, प्रथम कण्डिका का यही संक्षिप्त अर्थ है ।

।।१।।
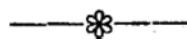
विद्वान् पिप्पलाद के सामने हाथ में समिधा लिए बडे विनीतभाव से खड़े हैं-पिप्पलाद उनकी जिज्ञासा को देखकर कहते हैं—

"तान् ह स ऋषिरुवाच-भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत । यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति" ।।२।।

इस मन्त्र ने शिष्य के अधिकार का निरूपण किया है । गुरु मुख्य हैं-प्रथम हैं, अतः प्रथम मन्त्र में-'**एष वै तत्सर्वं वक्ष्यति**'-इत्यादिरूप से गुरु के अधिकार का स्वरूप बतलाया है । अब क्रमप्राप्त द्वितीयश्रेणित शिष्य का शिष्यत्व बतलाते हैं-ज्ञानप्रधान उपनिषत्-तत्त्व के सीखने का-सीखकर उसे आत्मसात् करने का अधिकारी वही हो सकता है जो कि ब्रह्मचर्य, सत्य, तप-इन तीन व्रतों का पालन करता है । पहले ब्रह्मचर्य है अनन्तर तप है, सर्वान्त में श्रद्धारूप सत्य है । सत्यत्वधारण ही-**इदमित्यमेव**'-यह विश्वास ही श्रद्धा है । यही साक्षात् सत्य है । '**श्रद्धा वा आपः**'[2]-'**आपो वै सत्यम्**'[3]-इत्यादि श्रुतियें स्पष्ट ही श्रद्धा को 'सत्य' बतला रही हैं । शुक्ररक्षा ब्रह्मचर्य है । प्राणरक्षा तपश्चर्या है । मनोरक्षा सत्य है । श्रद्धारूप मन का सत्य से सम्बन्ध है । तपोरूप प्राण का तप से सम्बन्ध है एवं शुक्र का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध है । हमने आत्मा को मनःप्राणवाङ्मय बतलाया है । ब्रह्म, तप, श्रद्धा-

१-शत० ब्रा० १।४।५।१ । २-तै० ब्रा० ३।२।४।१ । ३-शत० ब्रा० ७।४।१।६ ।

इन तीनों के राहित्य से आत्मा के ये तीनों भाग सर्वथा निर्बल रहते हैं। अन्न वाक् है। सौर-तेज प्राण है। चान्द्र-सोम मन है। अन्न प्राण का आधार है। प्राण मन का आधार है। आप जिसे अन्न कहते हैं—उसके भीतर तीनों हैं। जब अन्न खाया जाता है तो रस-मल के क्रमिक विशकलन से वह क्रमशः 'रस, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सात धातुओं के स्वरूप में परिणत होता है। यहाँ तक का भाग पार्थिव है। यह वाक् भूत है। इस शुक्र में से जब पार्थिव भाग निकल जाता है तो अन्त में रहने वाला अन्न का विवर्ता वही आन्तरिक्ष्य सूक्ष्म प्राण रह जाता है। इसी का नाम ओज है। इसमें दिव्य सोम और आन्तरिक्ष्य प्राणात्मक वायु रहते हैं। यह वायु भी जब निकल जाता है तो शुद्ध दिव्यसोम रह जाता है। इसी का नाम 'मन' है। शुक्रभाग पार्थिव होने से अर्थप्रधान है। ओज भाग आन्तरिक्ष्य वायुमय होने से क्रियाप्रधान है एवं मन दिव्य होने से ज्ञानप्रधान है। ज्ञान, क्रिया, अर्थ—ये तीन तत्त्व हैं। 'मन, प्राण, वाक्'—'मन, ओज, शुक्र'—'आत्मा, प्राण, पशु'—'उक्थ-अर्क-अशिति'—कुछ भी कहो, एक ही बात है—

ज्ञानशक्तिः	क्रियाशक्तिः	अर्थशक्तिः
१	२	३
मन	प्राण	वाक्
मन	ओज	शुक्रात्मक सप्तधातवः
आत्मा	प्राण	पशुः
उक्थ	अर्क	अशितिः
सोममयः	आपोमयः	मृण्मयः
कारणशरीर	सूक्ष्मशरीर	स्थूलशरीर

आत्मा का असली रूप आनन्द है। इस पर पहला वेष्टन कारणशरीररूप मन का है। दूसरा वेष्टन सूक्ष्मशरीररूप प्राण है। तीसरा वेष्टन स्थूलशरीरस्वरूप शुक्र है। इन तीनों के भीतर औपनिषद् पुरुष है। उसे देखने के लिए पहले इन तीनों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। तीनों में क्रमशः स्थूलशरीररूप शुक्र, सूक्ष्मशरीररूप तप, कारणशरीररूप श्रद्धा ये विभाग हैं, अतएव यहाँ भी ऋषि ने वही क्रम रखा है। अपि च—कारण-सूक्ष्म दोनों का आधार शुक्र है, अतएव इसे शरीर का अधिपति माना जाता है। ओज एवं मन दोनो शुक्र से बनते हैं। मन पर विज्ञान चमकता है। विज्ञानचक्षु ही उस आनन्दघन के दर्शन कराने में समर्थ हैं। यदि शुक्र प्रबल है तो प्राण प्रबल है। प्राण प्रबल है तो मन प्रबल है। मन प्रबल है तो विज्ञान प्रबल है। विज्ञान प्रबल है तो आत्मसाक्षात्कार हुआ हुआया है। आत्मसाक्षात्कार विज्ञानसापेक्ष है। विज्ञान की प्रबलता मन-प्राण-वाक्रूप श्रद्धा, तप, शुक्र रक्षा पर निर्भर है, अतः उपनिषद् में प्रतिपादित आत्मस्वरूप की स्थिरता के लिए इन तीनों की रक्षा करना परमावश्यक है। शुक्ररक्षा ब्रह्मचर्य्य से होती है। ओज-रक्षा तप से होती है। जो आलसी

होता है–अकर्मण्य होता है–उसमें जरा भी ओज नहीं रहता। ऐसे सालस के मुख पर निरन्तर मक्खिएँ भिनभिनाया करती हैं। एवं मन की रक्षा का साधन श्रद्धा है। यदि श्रद्धासूत्र नहीं तो सारा उपदेश व्यर्थ है। एक संवत्सर में हमारे आत्मा का एक भोग हो जाता है। नवीनता में बन्धन नहीं होने पाता। अभी गुरु का आग्नेय आत्मा और शिष्य का आत्मा भिन्न-भिन्न है–असम्बद्ध है। यदि गुरु–'आज से तुम मेरे शिष्य हुए'–यह कह देता है तो वाग्विद्युत् के कारण दोनों का आत्मा (भूतात्मा) मिल जाता है। इनका यह सहमिलन एक वर्ष में जाकर पूरा होता है। एक वर्ष में पूरी परिक्रमा से आत्माग्नि दोनों ओर से परिपक्व हो जाता है। दूसरे शब्दों में दोनों के आत्मा परस्पर ओतप्रोत हो जाते हैं। अभिन्न हो जाते हैं। अब तक न दोनों में तुल्यफलत्व था–न आशौच था–परन्तु संवत्सरानन्तर **'आवयोस्तुल्यफलदो भव'**–इस तन्त्रसिद्धान्त के अनुसार एक दूसरे के फल का एक दूसरे के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है। दोनों में परस्पर आशौचसम्बन्ध रहता है। यह वंश–**'विद्या-वंश'** नाम से प्रसिद्ध होता है। तात्पर्य्य सारे प्रपञ्च का केवल यही है कि गुरुशिष्य के आत्माग्नियों का एक वर्ष में (पृथिवी द्वारा सूर्य्य की पूरी परिक्रमा करने के कारण) पूर्ण सम्बन्ध होता है। इसके बाद जो कुछ कहा जाता है–उसका दृढ संस्कार हो जाता है। बस, ब्रह्मचर्य्य द्वारा बल बढाओ, आत्मसमर्पणरूप तप द्वारा प्राणमात्रा को बढाओ, श्रद्धा द्वारा मन को बलवद् बनाओ–इन तीनों नियमों का वर्ष भर तक पालन करो। अनन्तर तुम उपनिषत् के अधिकारी बनोगे। इसके अनन्तर वापस लौटकर तुम जो कुछ पूछोगे–जहाँ तक मैं जानता हूँ–बतलाने की चेष्टा करूँगा।

।। इति अधिकारिस्वरूपरहस्यम् ।।

अथ उपनिषद्-रहस्यम्

उपनिषद्-रहस्य प्रारम्भ करते हुए आज हम अपने पाठकों का ध्यान कौषीतकि ब्राह्मण के अतिसुप्रसिद्ध–**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'**–इस निगम की ओर आकर्षित करते हैं। संसार में जो कुछ 'अस्ति' कहने लायक है, वह सब षोडशकल है। एक छोटे से छोटे सर्षप में भी १६ कलाएँ हैं एवं बडे से बडे विश्व में भी वे ही १६ कलाएँ हैं। इन कलाओं की समष्टि को ही **'प्रजापति'** कहते हैं। **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'**[1] कहो या **'सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः'**[2] कहो–एक ही बात है। यह षोडशी प्रजापति प्रजासापेक्ष है, प्रजा से युक्त होकर ही प्रजापति 'प्रजापति' कहलाता है। इसी षोडशी प्रजापति का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

> **"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।**
> **प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी"–इति ।।**[3]

१–शत० ब्रा० १३।२।२।१३। २–शत० ब्रा० ५।१।१।१४। ३–यजुर्वेद ८।३६।

संसार में जो कुछ जातप्रपञ्च है—उत्पन्न वस्तुमात्र है—वह उससे भिन्न नहीं है—अर्थात् प्रजापति ही पदार्थस्वरूपों में परिणत हो रहा है एवं वह अपने एक भाग से सृष्टरूप में परिणत होकर उन सब में प्रविष्ट हो रहा है। सृष्ट भी वही है—प्रविष्ट भी वही है। वह प्रजापति प्रजा से मेल करता हुआ तीन ज्योतियों से युक्त हो रहा है। ऐसा यह प्रजाविशिष्ट प्रजापति **'षोडशी'** है। **सूर्य्य, अग्नि, चन्द्रमा** तीन ही उसकी ज्योतिएँ हैं—अथवा अव्यय, अक्षर, क्षर—ये तीन ज्योति हैं—**अथवा आत्मा, प्राण,** पशुरूप से वह तीन स्वरूपों से प्रकाशित हो रहा है। इस ज्योतित्रयोपेत **षोडशी प्रजापति की १६** कलाओं को भिन्न-भिन्न रूप से निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'**—यह निगमश्रुति है। पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, परात्पर—ये भी १६ कलाएँ हैं। निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, ५ पुर, **जीव, ईश्वर,** प्रजापति भेद से भी १६ कलाएँ हो सकती हैं। जीव, ईश्वर, सत्य, अमृत, परात्पर, **पाँच प्राण, पाँच** पशु, प्रजापति—इस रूप से भी सोलह कलाएँ हो सकती हैं। **बस,** आज इसी तीसरे **विभाग की १६** कलाओं को आपके सामने रखा जाता है—

पूर्व के प्रकरणों में यह विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है कि प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु—ये तीन धातुएँ हैं। तीनों का समन्वय ही 'प्रजापति' कहलाता है। यह प्रजापति पुर में रहने के कारण 'पुरुषप्रजापति' कहलाता है। **'प्राणव्यूढः, पशुग्रामः पुरम्'**—इस लक्षण के अनुसार पञ्चप्राणयुक्त जो पशुग्राम है, उसी का नाम पुर है एवं **'पुरपरिग्रहः पुरुषः प्रजापतिः'**—इस लक्षण के अनुसार पुरपरिच्छिन्न पुरुष ही प्रजापति है। इसमें ५ आत्मा हैं। पाँच प्राण हैं—इन्हीं पाँचों प्राणों के लिए आगे आने वाले 'मुण्डकोपनिषत्' में—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" ।।[1]

—यह कहा है एवं पाँच ही पशु हैं। १५ (पन्द्रह) की समष्टिरूप १६वाँ प्रजापति है। आत्मा, प्राण, पशु—तीनों में से पहले आत्मा को ही लीजिये। आत्मा पाँच नहीं हैं—अपि तु, एक ही आत्मा के पाँच विवर्त हैं। **'एकः सन् पञ्चधा व्यभवत्'**—इस निगमश्रुति के अनुसार वह एक ही रसबलात्मक आत्मतत्त्व पञ्चसंस्थ बन रहा है। उन पाँचों संस्थाओं में सबसे प्रथम एवं मुख्य सर्वालम्बनभूता निरालम्बना **'परात्पर'** संस्था है। सर्वबलविशिष्ट रस का नाम ही परात्पर है। यह असीम है, अतएव अभय है—एक है—व्यापक है। इस परात्पर के उदर में रहने वाले अनन्तबलों में से इस अनन्तबलों को अपने उदर में रखने वाला एक अन्यतम सर्वप्रधान मायाबल है। इस मायाबल से उस व्यापक परात्पर का यत्किञ्चित्प्रदेश परिच्छिन्न हो जाता है, । बस, माया से सीमित जो परात्पर का भाग है—उसी को **'अमृतात्मा'** कहते हैं—यही अव्ययपुरुष कहलाता है। इसके साथ इसकी अन्तरङ्गरूपा अक्षर और आत्मक्षर—ये दो प्रकृतिएँ अविनाभाव से इसके साथ रहती हैं। बस, सप्रकृतिक इस अव्ययपुरुष का ही नाम अमृतात्मा है। यही दूसरी आत्मसंस्था है। संस्था में उत्तर-उत्तर विभाग में पूर्व-पूर्व विभाग का सम्बन्ध रहता है। परात्पर पहली संस्था है—पञ्चदशकल पुरुष दूसरी संस्था है। इनमें वह पहली

१—मुण्डकोप० ३।१।६।

संस्था है, अतएव उस अमृतात्मा को षोडशी मान लिया जाता है। इस षोडशी का आत्मक्षर विपरिणामी है। इसकी मर्त्य ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम-इन पाँच कलाओं से क्रमशः-प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद-ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को 'विश्वसृट्' कहा जाता है। ये पाँचों विश्वसृट् पञ्चीकरण द्वारा पञ्चजन कहलाने लगते हैं। पाँचों पञ्चजनों के सर्वहुत यज्ञ से वेद, लोक, प्रजा, भूत, पशु-ये पाँच पुरञ्जन पैदा होते हैं। पाँचों पुरञ्जनों से (जिनमें कि प्रत्येक में प्राण, आपः, वागादि पाँचों हैं) स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी-ये पाँच पुर पैदा होते हैं। ये ही पाँचों प्रकृति विकृतियाँ हैं। संसार की प्रकृति होने से ये प्रकृतियाँ हैं, षोडशी की विकृति होने से ये विकृतियाँ हैं। इस प्रकार वह षोडशी अपने क्षरभाग से क्रमशः विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर उत्पन्न करता हुआ-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'[1]-के अनुसार इन पाँचों अधियज्ञरूप पुरों में प्रविष्ट हो जाता है। इसी के लिए 'यदस्य त्वम्' कहा जाता है। यही आत्मतत्त्व की तीसरी संस्था है। यह संस्था-'सत्यात्मा' एवं ब्रह्मसत्य नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म मौलिक तत्त्व है। इससे यौगिक तत्त्व पैदा होता है। दो विजातीय ब्रह्मों के मेल से यज्ञतत्त्व उत्पन्न होता है। ब्रह्मसत्यरूप सत्यात्मा के चन्द्रमा और पिण्ड पृथिवी इन दोनों के बीच में-चित्यपृथिवी के अमृतभाग से यज्ञतत्त्व पैदा होता है। यह यज्ञ त्रैलोक्यव्यापक होता है, अतएव इसे 'परमयज्ञ' कहा जाता है। सत्यात्मा ही इस यज्ञात्मा की प्रतिष्ठा है। इस महायज्ञ के भीतर अनन्त अवान्तर क्षुद्रक्षुद्रातिक्षुद्र यज्ञ होते रहते हैं। अग्नीषोमसम्बन्ध ही यज्ञ है। आप जितने भी पदार्थ देख रहे हैं-सब अग्नीषोमात्मक हैं। यह पदार्थ असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ-इन तीन भागों में विभक्त हैं। ये तीनों तीन प्रकार की जीवसृष्टि हैं। इस जीव-यज्ञ को 'विश्वदानि' यज्ञ कहा जाता है। विश्वदानि यज्ञ उसी परमयज्ञ का अंश है। परमयज्ञ ईश्वर है-सर्वभूतान्तरात्मा है। विश्वदानी-रूप सारे भूतयज्ञ इस परम यज्ञ में आहुत होते रहते हैं, अतएव इस ईश्वररूप परमयज्ञ को 'सर्वहुतयज्ञ' भी कहा जाता है। यह सर्वहुत यज्ञेश्वर विश्वदानियज्ञमात्र में व्याप्त रहता है, अतएव इसके लिए 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' (इदं सर्वं-त्रिविधजीवस्वरूपविश्वदानियज्ञकुलम्-ईशा-सर्वहुतयज्ञरूपप रमयज्ञात्मक-देवसत्यमयेश्वरेण-आवास्यम्)- इत्यादि कहा जाता है। इस प्रकार ईश्वरीय देवसत्य, जैवीय देवसत्य-भेद से यज्ञ और परमयज्ञ-ये दो संस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार यज्ञ (जैवीयदेवसत्य), परमयज्ञ (ईश्वरीयदेवसत्य), सत्य (ब्रह्म-सत्य), अमृत (षोडशी), परात्पर भेद से आत्मा के पाँच स्वरूप हो जाते हैं। यह है प्रजापति के आत्मा, प्राण, पशु-तीनों में से आत्मभाग का निरूपण। आत्मा के अनन्तर है-प्राण। प्राण भी कुल पाँच ही हैं। वे पाँचों प्राण परोरजा, आग्नेय, सौम्य, वायव्य, आप्य-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आत्मा और पशु-ये दो तत्त्व भी यद्यपि झगड़े से खाली नहीं हैं, परन्तु मध्यपतित प्राण तो बड़ा ही झगड़ाभरा तत्त्व है। प्राण के विषय में बड़ा मतभेद है-जैसा कि निम्नलिखित निगमानुगत वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

१-प्राणो वै सावित्रग्रहः।[2]   **२-प्राण एव सविता।**[3]

१-तै० उप० २।६।१।   २-कौ० ब्रा० १६।२।

३-शत० ब्रा० १२।६।१।१६।

३–प्राणो वा अर्कः ।[1]	४–प्राणः सोमः ।[2]
५–चन्द्रमा वै प्राणः ।[3]	६–प्राणा अग्निः ।[4]
७–वायुर्वै प्राणः ।[5]	८–वायुर्हि प्राणः ।[6]
९–वायुर्मे प्राणे श्रितः ।[7]	१०–प्राणो वै वनस्पतिः ।[8]
११–प्राणा वै साध्या देवाः ।[9]	१२–प्राणा वा ऋषयः ।[10]
१३–प्राणा रश्मयः ।[11]	१४–प्राणा उ वै प्रजापतिः ।[12]
१५–प्राजापत्यः प्राणः ।[13]	१६–प्राणा उ वै ब्रह्म ।[14]
१७–प्राणदेवत्यो वै ब्रह्मा ।[15]	१८–प्राणा वा आपः ।[16]

इन श्रुतिवचनों से पाठकों को भलीभाँति ज्ञात हो गया होगा कि कहीं अग्नि को प्राण बतलाया जाता है, कहीं वायु को, कहीं सोम को, कहीं वनस्पति को, कहीं ऋषि को, कहीं अर्क को प्राण बतलाया जाता है। कहीं प्राणों को आत्मा की रश्मिएँ बतलाया जाता है तो कहीं प्राण को ही आत्मा बतलाया जाता है। कभी प्राण को प्रजापति से निकलने वाला मानकर प्राजापत्य बतलाया जाता है तो कहीं प्राण को साक्षात् प्रजापति बतलाया जाता है। यह परस्पर का विरोध कैसे हटाया जाय ? आत्मा को प्राण माना जाय, या आत्मरश्मियों को प्राण माना जाय ? इस विरोध का परिहार–पूर्वोक्त पाँच प्रकार के प्राण मानलेने से ही हो जाता है। पाँचों में सबसे पहला मुख्य प्राण परोरजा है। इस परोरजा प्राण को ही विरज भी कहा जाता है। इसी को विरजा-ब्रह्म माना जाता है। यह प्राण अमृत (षोडशी) का भागहै। अव्यय की पाँच कलाओं में जो प्राण है–वही परोरजा प्राण है। इसका विकास स्वयम्भूमण्डल में होता है। स्वयम्भू ब्रह्म है, अतएव इसके लिए–**'प्राणो वै ब्रह्म'**-**'प्राणो वै प्रजापतिः'**–इत्यादि कहना सुसंगत हो जाता है। यह प्राण आत्मरूप है–प्रजापतिरूप है। शेष चारों प्राण इसकी रश्मिएँ हैं–इसके लिए **'प्राजापत्यः प्राणः'** कहा जाता है। प्राजापत्य प्राण आग्नेय, सौम्य, वायव्य, आप्य तीन हैं। अग्नि अंगिरा है। इसके अग्नि, यम (घोर वायु), आदित्य–ये तीन भेद हैं। इसलिए हम–**'आग्नेयः प्राणः'**, **'यमो वै प्राणः'**, **'सविता वै प्राणः'** –कह सकते हैं एवं आपः-वायु-सोम–ये तीन भृगुप्राण हैं, अतएव **'आपो वै प्राणाः 'सोमो वै प्राणः'**, **'वायुर्वै प्राणः'**–यह कहा जा सकता है। वस्तुतस्तु प्राण-कुल तीन ही प्रकार का है। एक स्वयम्भू का परोरजाप्राण है। यह आत्मरूप है। स्वयम्भू से नीचे

१–शत० ब्रा० १०।४।१।२३।
२–शत० ब्रा० ७।३।१।२। ३–जै० उप० ब्र. ४।२२।११। ४–शत० ब्रा० ६।३।१।२१।
५–कौ० ब्रा० ८।४। ६–ऐ० ब्रा० ब्र. ६।३।२६। ७–तै० ब्रा० ३।१०।८।४।
८–ऐ० ब्रा० ब्र. ६।४ एवं ब्र. ७।१०। ९–शत० ब्रा० १०।२।२।३। १०–शत० ब्रा० ६।१।१।११।
११–तै० ब्रा० ३।२।५।२। १२–शत० ब्रा० ८।४।१।४। १३–तै० ब्रा० ३।३।७।२।
१४–शत० ब्रा० ८।४।१।३। १५–षड्विंश ब्रा० २।६ १६–ता० ब्रा० ९।९।४।

परमेष्ठी है । इसमें एक स्निग्ध प्राण है, एक रूक्ष प्राण है । स्निग्ध प्राण भृगु है, तेज प्राण अंगिरा है । दोनों तीन तीन हैं । आपः, वायु, सोम तीनों परमेष्ठी में ही (वस्तु के परमाकाश में ही) रहते हैं । शेष तीनों आदित्य-यम-अग्नि क्रमशः रोदसी त्रिलोकी के सूर्य्य, अन्तरिक्ष,पृथिवी—इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । इस क्रम से पाँचों मण्डल पकड़ में आ जाते हैं । पारमेष्ठ्य सौम्यप्राण ही रोदसी अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित चन्द्रमा में है । इस प्रकार स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष, पृथिवी—इनके कुल—परोरजा, आप्य, वायव्य, सौम्य, आग्नेय (आग्नेय-वायव्य-आदित्य) पाँच प्राण हो जाते हैं । परोरजा स्वयम्भू का ऋषि-प्राण है । आप्य पारमेष्ठ्य आसुर प्राण है, सौम्य पारमेष्ठ्य पितर प्राण हैं । शिववायु रूप वायव्य परमेष्ठी का मुख्य प्राण है । आदित्यरूप आग्नेय सौरप्राण है । वायुरूप आग्नेय प्राण अन्तरिक्ष का है एवं अग्निरूप आग्नेय प्राण पृथिवी का है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि इन पाँच प्राणों में यच्चयावत् प्राणों का अन्तर्भाव हो जाता है एवं परोरजा को छोड़कर शेष प्राणों का तेज, स्नेहात्मक भृगु-अंगिरा में अन्तर्भाव हो जाता है । बस, हमारा यह उपनिषत् प्रधानरूप से इन्हीं दोनों का निरूपण करता है । जैसा कि प्रथम प्रश्नार्थ में स्पष्ट हो जाएगा—

संसार में ऋत-सत्य दो ही तत्त्व हैं । खाली स्थान को ऋत कहते हैं । पिण्ड को सत्य कहते हैं । दूसरे शब्दों में मूर्ति सत्य है, अमूर्त्त तत्त्व ऋत है । अमूर्त्त आप्यवायव्यसौम्यात्मक है । पिण्ड आग्नेय है । जितने भी पिण्ड हैं—सब आग्नेय हैं । पिण्ड के बाहर के आकाश में (जो कि आकाश वैज्ञानिक भाषा में महिमामण्डल कहलाता है एवं याज्ञिक परिभाषा में वषट्कार नाम से व्यवहृत होता है) आपः, वायु, सोम रहता है । आपः के अवान्तर सात विभाग सात समुद्र हैं । वायु के सात विभाग अवान्तर सात द्वीप हैं । ये ही सप्त मरुत् हैं । इनके कारण ही पानी के सात विभाग हो जाते हैं । सर्वान्त में 'सोम' समुद्र है । इसे ही पुराणों ने 'अमृत' समुद्र माना है । अणु से अणु, महान् से महान् यच्चयावत् पदार्थों में यह सारा प्रपञ्च है । एक तिल को ले लीलिए । तिल आग्नेय पिण्ड है । इसके ऊपर क्रमशः आपः, वायु—ये सात वायुस्तर हैं, सात आपः स्तर हैं । ऊपर अमृत है । सर्वान्त में परोरजारूप वेद प्राण हैं । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में पाँचों प्राणों की सत्तासिद्ध हो जाती है । अवान्तर सारे प्राण इन पाँचों प्राणों में अन्तर्भूत हैं । बस, हमारा उपनिषत् इन्हीं पाँचों प्राकृत प्राणों का प्रधानरूप से निरूपण करता है ।

'कठोपनिषत्' में बतलाए गए ईश्वरीय ब्रह्मसत्य का स्वरूप स्मरण में लाइए । उसके स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी—ये पाँच भेद बतलाए हैं एवं पाँचों के क्रमशः—१—वाक् २—प्राण, १—रयि २—प्राण, १—धिषणा २—प्राण, १—प्रज्ञा २—प्राण, १—भूत २—प्राण—ये दो-दो भाग बतलाए हैं । ये कुल १० (दस) हो जाते हैं । इनमें पाँचों में प्राण हैं । वाक्प्राणवाला प्राण परोरजा नाम का आत्मप्राण है । रयिप्राणवाला पारमेष्ठ्य प्राण—आप्य, वायव्य, सौम्यात्मक है । धिषणाप्राणवाला सौर प्राण आग्नेय आदित्य प्राण है । प्रज्ञाप्राणवाला चान्द्रप्राण सौम्यप्राण है । भूतप्राणवाला पार्थिव प्राण आग्नेय प्राण है । आग्नेय, वायव्य, आदित्य—तीनों सत्यप्राणात्मक आग्नेय प्राण हैं । तीनों अवराध्य की वस्तु हैं, अतः तीनों का आग्नेय प्राण से ग्रहण है । चान्द्र प्राण का पारमेष्ठ्य सौम्य प्राण में अन्तर्भाव है । आप्य-वायव्य-सौम्य—तीन पारमेष्ठ्य रयिप्राणवाला प्राण है । सर्वान्त में परोरजा प्राण है । इस प्रकार से

भी कुल पाँच ही प्राण रह जाते हैं। एक ही तत्त्व है–निरूपण में अन्तर है। ये पाँचों प्राण उस अमृतात्मरूप षोडशी के (जिसे कि सर्वान्तरतम रहने से 'गूढोत्मा'–'अणोरणीयान्' कहा जाता है) प्राण है। इन्हीं के लिए पूर्व में—

"एषोऽणुरात्मा चेतना वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" ॥[1]

—यह कहा गया है। यद्यपि इनका क्रम–वाक्प्राणौ, रयिप्राणौ, धिषणाप्राणौ, प्रज्ञाप्राणौ, भूतप्राणौ–यह कहा है। परन्तु किसी विशेष रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्रश्नोपनिषत् ने निम्नलिखित क्रम से इनका निरूपण किया है—

१–रयिप्राणौ

२–प्रज्ञाप्राणौ

३–भूतप्राणौ

४–धिषणाप्राणौ

५–वाक्प्राणौ

इस क्रमव्यत्यास का एकमात्र कारण सृष्टिविज्ञान है। परोरजारूप वाक्प्राणौ वाले प्राण से सृष्टि नहीं होती। वह असंग है। यहाँ पर प्रश्न–'कुतो ह वा इमाः प्रजा प्रजायन्ते'–है यह। प्रजोत्पत्ति सृष्टि है। सृष्टि संसृष्टि है। संसृष्टि मेल है। मेल पारमेष्ठ्य अप्रूप स्नेहतत्त्व से सम्बन्ध रखता है, अतः ऋषि ने पहले इसी का निरूपण किया है। चन्द्रमा पारमेष्ठ्यभाग होने से सजातीय है, अतः रयिप्राण के अनन्तर ही श्रुति ने इस प्रज्ञात्मक प्राण को ले लिया है। प्रज्ञाप्राण भूतात्मा का भाग है, अतएव तदनन्तर भूतप्राण को रखा है। अनन्तर सौर धिषणामय प्राण का निरूपण करते हुए परोरजात्मक वाक् प्राण पर उपसंहार किया है।

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति'[2]- **'अन्नं चैवान्नादं च'**[3]–इस निगम श्रुति के अनुसार अन्न और अन्नाद इन दो के अलावा कोई तीसरी वस्तु नहीं है। यदि इन दो से पृथक् तीसरी वस्तु कोई मानी जा सकती है–तो वह है–'आवपन'। अन्नाद जिस धरातल पर बैठकर अन्न खाता है–वही आवपन है। आवपन 'खं' ब्रह्म है। अन्नाद 'रं' ब्रह्म है, अन्न 'कं' ब्रह्म है। खं ब्रह्म, रं ब्रह्म, कं ब्रह्म-जब तीनों ब्रह्म मिल जाते हैं–तब 'शं ब्रह्म' का स्वरूप बनता है। उदाहरण के लिए आप अपने को ही लीजिए। शरीर आवपन है। यही शरीराकाश 'खं ब्रह्म' है। इस 'खं ब्रह्मरूप' आवपन पर रमणशील 'र' ब्रह्म (मोक्तात्मा) प्रतिष्ठित रहता है। सुखसाधक, अतएव 'कं' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अन्नब्रह्म की जब इस 'रं' ब्रह्म में आहुति होती है तो 'कं' परमशान्ति को–तृप्ति को प्राप्त होता हुआ 'शं' ब्रह्म बन जाता है। बस, इन चार से पृथक् कोई पाँचवीं वस्तु नहीं है, अतएव–**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**–यह कहा जाता है। जिन प्राणों का हमने पूर्व

१–मुण्डकोप० ३।१।९। २–शत० ब्रा० १।६।३।२३। ३–शत० ब्रा० १०।६।२।१।

में निरूपण किया है–वे प्राण अन्नाद हैं। अन्नाद के लिए अन्न और आवपन दो वस्तु और अपेक्षित हैं। इन दोनों के सम्बन्ध से प्राणान्नाद 'शं' ब्रह्म बनेगा। प्रसंगागत प्राणान्नादरूप 'रं' ब्रह्म के–इन दोनों के स्वरूप को बतला देना भी अनुचित न होगा।

सबसे पहले स्वयम्भू को लीजिए। स्वयम्भू में वाक्-प्राण है। स्वयम्भू आवपन है। प्राण अन्नाद है। वाक् अन्न है। तीनों की समष्टि 'शम्' है। यही क्रम सबमें समझना चाहिए। साथ ही में जैसी स्थिति अधिदैवत में है–वैसी ही अध्यात्म में समझनी चाहिए। याद रखिए–इस उपनिषत् के कर्त्ता पिप्पलाद हैं। पिप्पल खाने वाले–पिप्पलाद हैं। इस नाम से भी हमें कुछ सिखाया जाता है। कठोपनिषत् में –'अश्वत्थ वृक्ष' का निरूपण करते हुए हमने बतलाया है कि उसकी एक टहनी पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें एक पिप्पल का स्वाद ले रहा है, एक चौकसी कर रहा है–जैसा कि—

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति-अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"।[1]

—इत्यादि से स्पष्ट हो जाता है। पिप्पल खाने वाला और कोई नहीं वही हमारा भोक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध प्राणात्मा है। प्राण ही पिप्पलाद है। दूसरे शब्दों मे प्राणप्रपञ्च पिप्पलाद है। इस उपनिषत् में क्या है ?–पिप्पलाद का वर्णन है। पिप्पल खाने वाले, अतएव पिप्पलाद नाम से प्रसिद्ध प्राणों का वर्णन है। 'यह उपनिषत् पिप्पलाद उपनिषत् है'–इसका अर्थ यही है कि इस उपनिषत् में पिप्पलाद नाम से प्रसिद्ध प्राणों का वर्णन है। इसीलिए तो हमने इस उपनिषत् को प्रारम्भ में 'प्राणोपनिषत्' कहा है। पाँचों पिप्पलाद प्राणों के अध्यात्म और अधिदैवत में आवपन और अन्न कौन कौन से हैं ? यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

(अधिदैवत पिप्पलाद-प्रपञ्च)

(१)	१–आवपन=स्वयम्भू =खं ब्रह्म	—शं ब्रह्म=स्वयम्भूः–१
	२–अन्नाद =प्राण =रं ब्रह्म	
	३–अन्न =वाक् =कं ब्रह्म	
(२)	१–आवपन =परमेष्ठी=खं ब्रह्म	—शं ब्रह्म=परमेष्ठी–२
	२–अन्नाद =प्राण =रं ब्रह्म	
	३–अन्न =रयि =कं ब्रह्म	

१–मुण्डकोप० ३।१।१।

१-शत० ब्रा० १४।८।१३।३ ।

४–प्रज्ञानात्मा	१–आवपन = प्रज्ञान = खं ब्रह्म २–अन्नाद = प्राण = रं ब्रह्म ३–अन्न = प्रज्ञा = कं ब्रह्म	—**शं ब्रह्म = प्रज्ञानात्मा–४**
५–भूतात्मा	१–आवपन = शरीरभूत = खं ब्रह्म २–अन्नाद = प्राण = रं ब्रह्म ३–अन्न = भूत = कं ब्रह्म	—**शं ब्रह्म = भूतात्मा–५**

——❀——
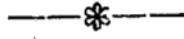
तन्त्र-शास्त्र में 'र' को अग्नि बीज माना गया है । 'र' अग्नि का निदान है । जैसे विज्ञान शास्त्र में सोम को अन्न माना जाता है एवमेव अग्नि को अन्नाद माना जाता है । पाँचों प्राण अन्नाद हैं, अतः अन्नादसाधर्म्यं से अन्नाद पाँचों प्राणों के लिए 'रं' ब्रह्म कहा है ।

सारे प्रपञ्च से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि पूर्वप्रतिपादित आत्माओं के ये पाँच प्राण हैं । इन पाँचों प्राणों से जब तक वह अमृतात्मा अलग रहता है, तब तक तो वह आत्मा ही कहलाता है । परन्तु जब वह प्राकृतात्मारूप इन पाँचों प्राणों से युक्त हो जाता है तो 'सत्यात्मा' नाम धारण कर लेता है । यदि इसमें पाँच पशु और मिला दिए जाते हैं तो पशुविशिष्ट सत्यात्मा न कहला कर 'यज्ञात्मा' कहलाने लगता है–जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा ।

आत्मा और उसके पाँच प्राणों का निरूपण हो चुका–अब क्रमप्राप्त पशुओं का भी संक्षिप्त रूप से निरूपण कर देते हैं । आज पशु शब्द से हमने जिन अश्व, गौ, अज आदि को पशु समझ रखा है–विज्ञानजगत् के 'पशु' शब्द की परिभाषा हमारी समझ से भिन्न है । जो तत्त्व अपने आपको धारण करने में समर्थ होता है–उसका नाम आत्मा है एवं जो तत्त्व आत्मा से धृत रहता है–वही 'पशु' है । अनात्मीय, परतन्त्र, आत्मभोग्य, आत्मा पर प्रतिष्ठित वस्तुमात्र पशु है । पशु अन्न है । प्राणान्नसंन्निविष्ट आत्मा अन्नाद है । भोग्य अनात्मीय वस्तु ही 'पशु' है । संसार में जितने भी 'पशु' हैं–सब किसी न किसी आत्मा के अन्न हैं–जैसा कि 'ईशोपनिषत्' के 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'–इस मन्त्र का अर्थ करते हुए उसी उपनिषत् में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । जब तक वह पशु किसी आत्मसत्ता से आक्रान्त रहता है–किसी एक आत्मा का अन्न बना रहता है–तब तक वह अन्य आत्मा का अन्न नहीं बन सकता । मक्खी में आत्मा और शरीर दो भाग हैं । यह शरीरभाग आत्माधीन होने से 'पशु' है । उस आत्मा का अन्न है । जब तक यह आत्मा है, तब तक मक्खी को छिपकली नहीं खा सकती । पहले उसे उसको आत्मा से पृथक् कर देना पड़ेगा–तब वह उस पशुभाग को अपना अन्न बना सकेगी । इसी

साधारण विज्ञान को बतलाने के लिए-'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**'[1]-यह कहा जाता है। अज पशु है। परन्तु अभी वह उस आत्मा का अन्न है। पहले उसकी आत्म-सत्ता हटाओ-तब वह पशुभाग (शरीर) तुम्हारा अन्न बनेगा। निष्कर्ष यही है कि एक पशु दूसरे का अन्न तभी बन सकता है-जब कि उसको उस आत्मा से अलग कर दिया जाता है। भोग्यजात को 'पशु' कहते हैं। अजादि हमारे भोग्य हैं। अतः ये हमारे पशु हैं। हम सूर्य्यादि के भोग्य हैं, अतः हम उनके 'पशु' हैं। यदि पशु शब्द का और भी स्पष्टीकरण किया जाय तो-'जो वस्तु हम आँखों से देखते हैं-वह पशु है'-यही निष्कर्ष निकलेगा। हम आँखों से 'भूतप्रपञ्च' देखते हैं। भूतप्रपञ्च के भीतर आत्मा है। आत्मा को हम नहीं देखते। आत्मा अर्थात् जीवस्वरूप हम-भूतों को देखते हैं। चूंकि आत्मप्रजापति इन भोग्यरूप भूतों को देखता है, अतएव '**यदपश्यत्०**'-इस व्युत्पत्ति से इन भूतप्रपञ्चों को हम अवश्य ही 'पशु' कहने के लिए तय्यार हैं।[2] पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश-इन पाँच भूतों से सब कुछ बना है। सब का परस्पर आदान-विसर्ग होता रहता है। इस परिभाषा के अनुसार सब अन्न हैं, सब अन्नाद हैं। सब का आत्मभाग अन्नाद ही है, भूतभाग अन्न ही है। दोनों की समष्टि 'वस्तु' है। इन पशुरूप भूतों का आधार वही प्राण है। जब तक प्राण रहता है-तब तक भूत रहते हैं, अतएव प्राण को 'विधर्त्ता' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से इसी उपनिषत् में इस प्राण के लिए—

"वयमेतद् बाणमवष्टभ्य (शरीरयष्टिमवष्टभ्य) विधारयामः"।

—यह कहा है।

१-ये पशु कुल पाँच हैं। वे पाँचों पशु-छन्द, पोष, अन्न, सलिल, अग्नि-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। बस, पशु हो सकते हैं तो कुल पाँच ही हो सकते हैं। इन पाँचों में से पहले 'छन्द' को ही लीजिए। प्रत्येक वस्तु 'वयुन' नाम से प्रसिद्ध है। वयुनरूप वस्तु में वय, वयोनाध-दो पदार्थ रहते हैं। वस्तु वय है, वस्तु का आकार वयोनाध है। आकार कोई वस्तु नहीं है-वस्तु को सुरक्षित रखने वाली सीमा है। जब तक वयोनाध रहता है, तब तक उस वय को कोई अपना अन्न नहीं बना सकता। रोटी वय है। यह आकाररूप वयोनाध से सुरक्षित है। पहले आकाररूप वयोनाध को तोड़ो, तब रोटी तुम्हारा अन्न बनेगी। बस, वयोनाध से प्रसिद्ध इसी आकार को 'छन्द' कहा जाता है। संसार में जितने भी आकार हैं-उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप है-उन सबको-यजुर्वेदसंहिता में गिन डाला है। छन्द यद्यपि अनन्त हैं, तथापि उन सबका गायत्र्यादि ७ (सात) में ही अन्तर्भाव कर लिया गया है। इन सात (७) का भी अन्ततोगत्वा तीन (३) में ही पर्य्यवसान मान लिया गया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ-तीन लोक हैं। तीनों के तीन प्रकार के छन्द हैं-पार्थिव छन्द 'मा' है। आन्तरिक्ष्य छन्द 'प्रमा' है। दिव्य छन्द 'प्रतिमा' है। त्रैलोक्य के इन तीनों छन्दों से अवान्तर सारे छन्द गतार्थ हैं। यह छन्द ही पदार्थभेद का कारण है। कूप-बावड़ी-तालाब आदि छन्दभेद से एक ही पानी भिन्न-भिन्ननामगुणोपेत हो जाता है। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसका कोई छन्द नहीं हो। जिसका छन्द नहीं, वह वस्तु ही नहीं। भूतमात्र में जो आकार है-वही पहला छन्दपशु है-यही निष्कर्ष है।

१-ईशोप० १। २-'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः'-शत०ब्रा० ६।२।१।२।

२–छन्द के अनन्तर है–पोष । बल, वीर्य, द्रविण भेद से पोष तीन प्रकार का है । वित्तसंपत्ति द्रविण है । शरीरसंपत्ति बल है एवं ब्रह्म, क्षत्र, विट्–तीनों में से एक संपत्ति वीर्य्य है । तीनों में से आत्मा के दो तो अन्तरङ्ग हैं–द्रविण बहिरंग है । इन तीनों से आत्मा पुष्ट रहता है–महाशय बना रहता है । विना इनके वह अपने आपको निर्बल, निर्वीर्य्य, भाग्यहीन समझता है । चूंकि इनसे आत्मभाग पुष्ट होता है, अतएव हम इनको **'पोष'** कहने के लिए तय्यार हैं । सादा **कूर्च** (कोच) छन्दपशु से युक्त है । पालिसदार उभारु मेज पोषपशु से युक्त है ।

३–ज्ञान, क्रिया, दाना (पृथिवी), पानी (जल), हवा (वायु), रोशनी (तेज), खुला **मैदान (आकाश)**–ये सात सुप्रसिद्ध **अन्न हैं** । इनको यह आत्मा खाया करता है । विना **इनके यह कथमपि जीवित नहीं रह सकता । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश–ये पाँचों अन्न वाक्रूप हैं । क्रिया प्राण है** । ज्ञान मन है । **इन्हीं तीनों से आत्मा** का स्वरूप बना हुआ है अतएव आत्मा के लिए–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'**–कहा जाता है । यही तीसरा अन्नपशु है ।

४–चौथा है–सलिल । सलिल का **अर्थ** है–**'सरिर'** । पदार्थों में **अवस्था** एवं **ऋतुपरिवर्त्तनादि होते रहते हैं । भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पदार्थ भिन्न-भिन्न स्वरूप में** परिणत होता रहता है । सर्दी **में हमारा चित्त भिन्न प्रकार** का ही रहता है–गर्मी में और ही तरह का रहता है । कभी सर्दी लगती है–**कभी जुकाम लगती है–कभी सुख है–कभी दुःख है । कभी बालक थे- आज युवा हैं–कभी वृद्ध हो जायेंगे । बस,** जो रस **इन नानाभावों में** परिणत होता रहता है–वही 'सरत् (गच्छन्) इरा (रसः) यस्य'–इस व्युत्पत्ति से **'सरिर' कहलाता है** । पानी भी बहता रहता **है**, अतएव वह भी **'सरिर'** ही कहलाता है । **'यत् पर्य्यपश्यत् सरिरस्य मध्ये०'**–इत्यादि में सरिर 'सलिल' का ही वाचक है । सूर्य्यमाण इरायुक्त तत्त्वविशेष ही सरिर (सलिल)पशु है ।

५–पाँचवाँ है–अग्नि । आग्नेय ये पशु–पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज–इन नामों से **प्रसिद्ध हैं** । सौर संवत्सराग्नि–पार्थिव उखा में वर्षभर तक रहकर वैश्वानर बनती है । वैश्वानर चित्ररूप में परिणत होता है । चित्र कुमार बनती है । कुमाराग्नि आगे जाकर पुरुषादिस्वरूप में परिणत होती है । **चेतनमात्र में** शरीरनिर्म्माण करने वाला **वैश्वानर नामक** पुरुषपशु है । औरों की अपेक्षा यह **पुरुषभाग** मनुष्यों में अधिक रहता है, अतएव हम उसी **'पुरुष'** नाम से पुकारे जाने लगते हैं । वस्तुतः वस्तुमात्र पुरुष है । वैश्वानर ही सबका शरीर बना हुआ है । इसी विज्ञान के आधार पर–**'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'**–यह कहा जाता है एवं प्रतिफलित सौर अग्नि **'अश्व'** है । इससे अश्व पशु का आत्मा बनता है, अतएव चेतन-अश्व अश्व कहलाता है । इस उभयविध अश्व का 'कठोपनिषत्' के **'अश्वत्थ'** प्रकरण में विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है । आती हुई सीधी सौर रश्मिएँ **'गौ' हैं** । **इनसे जिस पशु** का आत्मा बनता है–वही पशुओं में **'गौ'** नाम से प्रसिद्ध है एवं वृक्षों में हरियाली पैदा करने वाला–द्यावापृथिव्यात्मक–अब्गर्भित अग्नि 'अवि' है–इससे जिसका आत्मा बनता है–पशुओं में वह **'अवि'** नाम से प्रसिद्ध है । एतदतिरिक्त पार्थिवादि अवान्तर सारे अग्नि **'अज'** हैं । ये पाँचों थोड़ी बहुत मात्रा में प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं । ये पाँचों पशु 'आग्नेय' हैं । यह पशु की एक **जाति है** ।

इस प्रकार छन्द, पोष, अन्न, सरिर, अग्निभेद से पाँच प्रकार के पशु हो जाते हैं। वेद में जहाँ कहीं पशु शब्द आवे-इन्हीं पाँचों में से प्रकरणानुसार किसी एक का सम्बन्ध समझना चाहिए। ये पाँचों पशु आत्मा की श्री हैं-शोभा हैं, अतएव पशुओं के लिए **'पशवो वै श्रीः'**-यह कहा जाता है। यद्यपि पशुओं के विषय में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है, तथापि विस्तारभय से एवं अप्राकृत होने से अगत्या इस प्रकरण को यहीं समाप्त करना पड़ता है। हम अनुपद में ही बतला आए हैं कि प्राणयुक्त आत्मा **'सत्यात्मा'** कहलाता है, परन्तु यदि पशुओं का सम्बन्ध करा दिया जाता है तो वह **'यज्ञात्मा'** कहलाने लगता है। यज्ञ का स्वरूप पशुओं पर निर्भर है। जैसा कि श्रुति कहती है—**पशवो हि यज्ञः'**।[1]

इस प्रकार पाँच आत्मा, पाँच प्राण, पाँच पशु-इन तीनों के समन्वय से एक १६वें (सोलहवें) प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। इन्हीं तीनों को कठोपनिषत् ने अमृत, ब्रह्म, शुक्र कहा है। पाँचों आत्मा अमृत हैं। पाँचों प्राण ब्रह्म हैं। पशुविशिष्ट प्राणभाग शुक्र है। एक के तीन विवर्त्त हैं। कठ में महदक्षर और अश्वत्थ-दोनों के विषय में-**'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'**-यह कहा है। यह है-उपनिषत् पुरुष का स्वरूप। इस उपनिषत् में प्रधानरूप से प्राणभाग का स्वरूप बतलाया गया है।

इस उपनिषत् में जो कुछ बतलाया गया है-सब का सार आपके सामने रख दिया गया है। अब इसके शब्दार्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

॥ २ ॥

"अधिदैवतमध्यात्मं वा वेवसत्यवैश्वानरे परमेष्ठिप्रजापतिजातयोरग्नीषोमीययोस्तेजःस्नेहगुणयोः प्राणरय्योः-सृष्टिरहस्यम्"—

पिप्पलाद की आज्ञानुसार ६ओं विद्वान् वर्षभर के लिए चले गए। जब वर्ष समाप्त हो गया तो उन सबमें से कबन्धी कात्यायन सबसे पहले आगे आए और विनीतभाव से प्रश्न करते हुए बोले-भगवन्!

'यह सारी प्रजा कहाँ से पैदा हुई है? इस प्रजात्मक विश्व का उपादानकारण कौनसा है?

"अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति" ॥३॥

कबन्धी का समाधान करते हुए ऋषि बोले कि "प्रजा की इच्छा रखने वाले उस प्रजापति ने तप किया, तपश्चर्य्या द्वारा 'रयि और प्राणरूप' मिथुन पैदा किया, (पैदा करके उसने कहा कि) ये ही दोनों मेरी इच्छानुसार नाना भेदभिन्न प्रजा उत्पन्न करेंगे"-जैसे प्रजापति का प्राणभाग झगड़ाभरा

१-शत० ब्रा० ३।१।४।६।

हुआ है—एवमेव प्रजापति शब्द भी झगड़े से खाली नहीं है। जैसा कि निम्नलिखित निगमागम श्रुति-वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

१—"प्रजापतिर्वा अग्निः"।[१]

२—"यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेवेन्द्रः"।[२]

३—"वाग्वै प्रजापतिः"।[३]

४—"प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः"।[४]

५—"संवत्सरो वै प्रजापतिः"।[५]

६—"एतद्वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद्वायुः"।[६]

७—"प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः"।[७]

८—"प्रजापतिर्वै महान्"।[८]

९—"प्रजापतिर्वै वसिष्ठः"।[९]

१०—"आत्मा वै प्रजापतिः"।[१०]

११—"पितरः प्रजापतिः"।[११]

१२—"भूतो वै प्रजापतिः"।[१२]

इस प्रकार प्रजापति शब्द भिन्न-भिन्नरूप से उपवर्णित हुआ है। ऐसी अवस्था में श्रौत प्रजापति शब्दों के अर्थों में बड़ा झगड़ा हो जाता है। "अमुक स्थल का प्रजापति अमुक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है"-इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में तो प्रजापति शब्द की प्रकरणानुसार प्रायः उसी स्थल पर (में) व्याख्या कर दी जाती है। परन्तु उपनिषदों में झगड़ा पड़ता है। उपनिषत् केवल 'प्रजापति' शब्द का उल्लेखमात्र कर देता है। उसकी व्याख्या स्पष्टरूप से नहीं करता, एक प्रजापति ही क्या उपनिषत् के सारे विषय ही इतने परोक्ष हैं—केवल अक्षरार्थ से कदापि वे हल नहीं हो सकते। ऋषियों ने उपनिषदों में सारा ब्रह्मविज्ञान भर दिया है, परन्तु बहुत सूक्ष्मरूप से। हमने तो आज तक उपनिषदों के जितने भाष्य देखें हैं—उन सबको अधूरा ही पाया है। किसी ने सन्तोषप्रद अर्थ नहीं किया है। **'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः'**—इस सूक्ति को चरितार्थ करने के लिए हमने भी इस दुरूह कार्य में हाथ डाला है। 'हमारा अर्थ यथार्थ ही होगा'-यह नहीं कहा जा

१—शत० ब्रा० २।३।३।१८ २—तै० ब्रा० १।२।२।५।
३—शत० ब्रा० ५।१।५।६। ४—शत० ब्रा० ५।१।१।१६।
५—शत० ब्रा० २।३।३।१८। ६—कौ० ब्रा० १६।२।
७—शत० ब्रा० ६।१।३।१६। ८—शत० ब्रा० ६।१।३।१६।
९—कौ० ब्रा० २५।२। १०—शत० ब्रा० ४।५।६।२।
११—गो० उ० ब्रा० ६।१५। १२—तै० ब्रा० ३।७।१।३।

सकता, परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि इस अर्थ से पाठकों की वेद की ओर प्रवृत्ति अवश्य ही होगी। अस्तु, कहना यह है कि यहाँ पर कबन्धी कात्यायन के प्रश्न करने पर पिप्पलाद ने 'प्रजापति' को सामने रखा है। यह प्रजापति कौनसा प्रजापति है ? पहले इसी का विचार करना है। चाहे कोई सा भी प्रजापति हो–उसमें आत्मा-प्राण-पशु–ये तीन खण्ड तो अवश्य ही मानने पड़ेंगे। आत्मरूप अमृतात्मक प्रजापति सबमें मुख्य है। पहले सबकी उधर ही दृष्टि जाती है। क्या यहाँ का प्रजापति शुद्ध आत्मा का वाचक है ? नहीं। कारण इसका यही है कि यहाँ के प्रजापति को सृष्टिकर्त्ता बतलाया है। सृष्टि करना कर्म है। कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से कर्म्म कुल तीन प्रकार के होते हैं। काय स्थूल-शरीर है, वाक् सूक्ष्मशरीर है, मन कारणशरीर है। आत्मा तीनों से पृथक् है। सुतरां शुद्ध आत्मा की निष्क्रियता सिद्ध हो जाती है। यह आत्मा (षोडशी प्रजापति) प्रकृति को साथ लेकर ही कर्म्म करने में समर्थ होता है। शुद्ध आत्मा को प्रजापति कह दिया जाता है, परन्तु वस्तुतः शुद्ध आत्मा प्रजापति नहीं है। प्रकृति से युक्त होकर प्रजा पैदा करने के अनन्तर वह प्रजापति नाम धारण करता है, अतएव यहाँ के प्रजापति शब्द को हम प्रकृतिविशिष्टपुरुष कहने के लिए तय्यार हैं। प्रकृतिएँ स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी पाँच हैं। पाँचों से युक्त पुरुष प्रजापति है। इन पाँचों में भी सृष्टि का प्रधान कारण परमेष्ठीरूप महत्–प्रकृति से युक्त पुरुष प्रजापति ही है। सृष्टिभाव, गुण, विकार भेद से तीन प्रकार की होती हैं। इनमें—

"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा"।।

"भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः"।।[1]

–के अनुसार भावसृष्टि का अव्ययपुरुष (शुद्ध आत्मा) से सम्बन्ध है। इस सृष्टि के अभिप्राय से ही हमने शुद्ध आत्मा को भी प्रजापति शब्द से व्यवहृत कर दिया है। इसी को '**मानसी सृष्टि**' कहते हैं। अक्षररूप पराप्रकृति से गुणसृष्टि होती है एवं क्षररूप अपरा प्रकृति से विकारसृष्टि होती है। इसी अभिप्राय से–'**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**'[2]–इत्यादि कहा जाता है। इन तीनों सृष्टियों में–भाव, गुण–दोनों कहने को सृष्टि हैं। क्योंकि संसृष्टि (दो वस्तुओं का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध) सृष्टि कहलाती है। अव्यय, अक्षर–दोनों की भाव, गुणरूप दोनों सृष्टिएँ अलग हैं, अतः वे दोनों सृष्टिएँ संसृष्टिरूप प्रजासृष्टि से बाहर की वस्तु हैं। सुतरां यहाँ पर दोनों अलग हो जाते हैं। बाकी बचती है–विकारसृष्टि। क्षरभाग से विकार उत्पन्न होते हैं। विकारक्षर पञ्चीकरण द्वारा पञ्चजन–पुरञ्जन बनते हैं–इनमें सबसे पहला पुर स्वयम्भू है। इसमें ऋषिसृष्टि होती है। विकारसृष्टि की यह पहली सृष्टि भी कहने भर को ही विकारसृष्टि है, वस्तुतः यह भी पूर्ववत् असंग ही है। संगभाव स्नेहगुण से सम्बन्ध रखता है। यह स्नेहतत्त्व परमेष्ठी में उत्पन्न होता है, अतएव संसृष्टिरूप सृष्टि का मूलकारण स्नेहयुक्त परमेष्ठी प्रजापति को ही माना जाता है। ऐसी अवस्था में–यहाँ का प्रजापति शब्द–'**परमेष्ठी**' प्रजापति का, दूसरे शब्दों में–परमेष्ठिप्रकृतियुत पुरुष

१–गीता १०।५-६। २–गीता १३।१९।

प्रजापति का ही वाचक समझना चाहिए । 'दहर उत्तरेभ्यः'–इस शारीरक सिद्धान्त के अनुसार उस ब्रह्मसत्यात्मक प्रजापति की (प्राकृत प्राणविशिष्ट षोडशी की) क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी–ये पाँच संस्थाएँ हो जाती हैं । पाँचों में सृष्टि का मूलभूत यही स्नेहधर्मा परमेष्ठी प्रजापति है । प्रजासृष्टि से यहाँ मैथुनीसृष्टि अभिप्रेत है । इसीलिए तो–'मिथुनमुत्पादयते' कहा है । मैथुनी सृष्टि दो तत्त्वों के संयोग पर निर्भर है । यह संयोग पानी का धर्म्म है । पानी स्नेहगुणोपेत है । यह परमेष्ठी की वस्तु है, अतः इसी प्रजापति को मिथुनभाव का उत्पादक माना जा सकता है । यह परमेष्ठी प्रजापति सृष्टि की कामना करता है–तदनुकूल तप करता है । श्रम करता है । श्रमानन्तर यथाकाम वस्तु बना डालता है । मानसी-मैथुनी चाहे कोई सृष्टि हो- मन, प्राण, वाक् तीनों के विना वह असम्भव है । ये तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं । मनोव्यापार कामना है, प्राणव्यापार तप है । वाग्-व्यापार श्रम है । इन तीनों अनुबन्धों का पूर्व के उपनिषदों में विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है । यहाँ पर उनका केवल स्मरणमात्र कराया गया है । इन तीनों से उस प्रजाकाम परमेष्ठी प्रजापति ने रयि और प्राण नाम का मिथुन उत्पन्न किया । प्रजापति ने उत्पन्न क्या किया, वह अपने आप इन दो स्वरूपों में परिणत हो गया । परमेष्ठी के ऊपर व्याप्त ऋषिप्राणमय अतएव असंग स्वयम्भू प्रजापति का स्मरण कीजिए । स्वयम्भू प्रजापति प्राणमय है-वेदमय है । ऋग्-यजुः-साम तीनों में ऋक् महदुक्थ है । साम महाव्रत है । यजुः अग्नि है । इस यजुः के यत् और जू–ये दो भाग बतलाए हैं । यत् भाग प्राण है, जू भाग वाक् है । इसी यजुरग्नि का नाम–प्राणाग्नि का नाम–'ब्रह्माग्नि' है । इस स्वयम्भू की ब्रह्माग्नि के घर्षण से पानी पैदा हो जाता है । 'अग्नेरापः'–इस सिद्धान्त के अनुसार विजातीय प्राणाग्नि के घर्षण से पानी उत्पन्न हो जाता है । बस, आपोमय यही दूसरा परमेष्ठी-मण्डल है । इस आपोमय मण्डल के केन्द्रस्थान में परमाणुरूप सर्वव्यापक वही अबग्नि धीरे-धीरे केन्द्र में आती रहती है । आगे-आगे जब वह अग्निपुञ्ज घनभाव में परिणत हो पड़ता है तो वह एकदम प्रज्वलित हो पड़ता है । वही 'हिरण्यगर्भ सूर्य्य' है । सूर्य्य गतिशील है । अपने अक्ष पर प्रबल वेग से घूम रहा है । इस घुमाव के कारण इसका मण्डल में गतिवैषम्य हो जाता है । इस गतिवैषम्य के कारण अगला भाग प्रवर्ग्य बनकर–अलग निकलकर स्वतन्त्र संस्था बनाता हुआ उसी नियत स्थान पर घूमा करता है । सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक उसमें से ९ खण्ड अलग हो चुके हैं । वे ९ खण्ड–इन्द्र (हर्बल), वरुण (नेपच्यून), शनि, बृहस्पति, देवसेना, मंगल, पृथिवी, शुक्र, बुध–इन नामों से प्रसिद्ध हैं । ये सब सूर्य्य के उपग्रह हैं । विज्ञान कहता है कि जिस स्थान पर शनि-इन्द्र या वरुण हैं, पहले उतना बड़ा सूर्य्य था । आज वह उपग्रहों के कारण इतना छोटा हो गया । अभी खण्ड निकलने का सिलसिला बन्द नहीं हुआ है । आज भी उसमें से माठर, कपिल, दण्ड नाम के तीन उपग्रह दिखलाई पड़ते हैं । अभी वे सूर्य्य से पृथक् नहीं हुए हैं । किन्तु शीघ्र ही होने वाले हैं । होते होते इन उपग्रहों के कारण एक दिन सारा सूर्य्य गायब हो जायगा । इधर सौरान्न से जीवित रहने वाले–उसके आकर्षण से अपनी सत्ता रखने वाले सारे उपग्रह नष्ट हो जायेंगे । इसी का नाम प्रलय है । फिर उसी आपोमय परमेष्ठी का परमाणुरूप अग्नि केन्द्र में जमा होकर सूर्य्य बनेगा–फिर उपग्रह बनेंगे । इस प्रकार सृष्टि-प्रलय-सृष्टि-प्रलय–यह धाराचक्र निरन्तर चला करता है ।

जिन अग्निपरमाणुसंघों से सूर्य्य बनता है–वह हमारे शास्त्र में धूम्रकेतु नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कुल हजार हैं। ये सूर्य्य के चारों ओर घूमते रहते हैं। इस प्रपञ्च से बतलाना यही है कि आपोमय परमेष्ठी-मण्डल के पेट में सबसे पहले सत्यरूप सूर्य्य ही गर्भ धारण करता है। सूर्य्य अग्निमय है। यह अन्नाद है। इसके लिए प्रजापति की इच्छा से सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी के नीचे एक सोममण्डल और प्रतिष्ठित होता है। इसी सोम को ब्रह्मणस्पति सोम कहा जाता है। सूर्य्य के बाद चन्द्रमा है, चन्द्रमा के अनन्तर उपग्रहरूपा पृथिवी है। पृथिवी जैसे सूर्य्य का उपग्रह है, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है। पृथिवी में से एक अत्रिप्राण (पारदर्शिकत्वप्रतिबन्धी प्राण) निकलता है। पृथिवी के २१ परिभ्रमण के अनन्तर यही अत्रि चन्द्रपिण्ड बन जाता है,[1] अतएव चन्द्रमा को अत्रिपुत्र कहा जाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वह स्वयम्भूप्रजापति काम, तप, श्रम द्वारा क्रमशः–परमेष्ठी, सोम (ब्रह्मणस्पति-चन्द्रमा) सूर्य्य, पृथिवी–इन चार पिण्डों को उत्पन्न कर देता है। ये चारों उस स्वयम्भू रूप परमप्रजापति की 'प्रतिमा' कहलाती हैं। (अर्थात्) जैसा यह है, वैसे ही ये चारों हैं। उसमें आत्मा (षोडशी), पद (पिण्ड), पुनःपद (महिमा-मण्डल)–ये तीन हैं। ये ही तीनों सब में हैं। मनोता भी पाँचों में तीन तीन हैं। आत्मा-पद-पुनःपद भी पाँचों में हैं। आत्मा-प्राण-पशु भी पाँचों में हैं। इस प्रकार पाँच जगह कई प्रकार से तीन तीन हैं। जो स्वरूप स्वयम्भू का है–वही शेष चारों का है, अतः हम अवश्य ही इन चारों को उसकी 'प्रतिमा' कहने के लिए तय्यार हैं। जो प्रतिमाविशिष्ट परमप्रजापति के पञ्चधा विभक्त पाँचों अवयवों के तीन तीन को जान जाता है–वह सब कुछ जान जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्य श्रुति कहती है—

"यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद् वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति"–इति ॥[2]

श्रुति का विशद विवेचन उसी उपनिषद् में किया जायगा। यहाँ पर केवल परम-प्रजापति और प्रतिमा-प्रजापति का स्वरूप समझ लेना ही पर्य्याप्त होगा। इन्हीं का उत्पत्ति क्रम बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"स ऐक्षत प्रजापतिः। इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि। ता वा एताः। प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्त–अग्निः (पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य्यः), सोमः (चन्द्रमाः) परमेष्ठी प्राजापत्यः" ॥[3]

कहना यही है कि स्वयम्भू प्रजापति का जो वागग्नि था, वही प्राण के व्यापार से आपः बन गया। इसीलिए तो–'**सोऽपोऽसृजत। वाच एव लोकाद्वागेवास्य साऽसृज्यत**'[3]–यह कहा जाता है। इसी आपोमय परमेष्ठी की उत्पत्ति बतलाते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

१–इस विषय का विस्तार के साथ वर्णन पं० ओझाजी प्रणीत 'अत्रिख्याति' के नामक ग्रन्थ पृष्ठ संख्या १६, प्रघटक संख्या २५ एवं स्व० शास्त्रीजी कृत अप्रकाशित अत्रिख्याति विज्ञानभाष्य की पाण्डुलिपि के पृष्ठ संख्या ६० से ६३ में किया गया है।

२–छान्दोग्योप० २।२१।३।

३–शत० ब्रा० ११।१।६।१३-१४।

**"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्"–इति ॥[1]**

परमेष्ठी प्रजापति उत्पन्न हो गए । यह प्रजाकामना से तप-श्रम द्वारा रयि-प्राणरूप में परिणत हो गए । रयि भृगु है, प्राण अंगिरा है । रयि स्त्री है, प्राण पुरुष है । दोनों पति-पत्नी उस आपोमय परमेष्ठी के भाग हैं । इसीलिए तो—

**"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः" ॥[2]**

–यह कहा है ।

मनु कहते हैं–पानी पैदा करके उसमें बीज डाल दिया । वह बीज और कोई नहीं–सूर्य्य है । सूर्य्य गायत्रीमात्रिक वेदमय है, अतएव इसके लिए–**'त्रयी वा एषा विद्या तपति'**–यह कहा जाता है । यह त्रयीमय त्रिगुणात्मक सूर्य्यनारायण उस भृगु-अंगिरोमय पारमेष्ठ्य अप् के बीच में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से–**'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगुनङ्गिरसोऽनुगाः'**–यह कहा है । भृगु की घन-तरल-विरल भेद से आपः-वायु-सोम–ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं एवं अंगिरा की अग्नि-यम-आदित्य–ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं । ये ही ईशोपनिषद् के षड् ब्रह्म हैं । स्वयम्भू का यजुः द्विब्रह्म है । द्विब्रह्मयुक्त षड्ब्रह्म ही शुक्र है । यही संसार का–मैथुनीसृष्टि का मूल प्रभव है । जैसा कि पूर्व के उपनिषदों में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । द्विब्रह्मगर्भित षड्ब्रह्मात्मक शुक्ररूप परमेष्ठी प्रजापति ही सृष्टि का मूल कारण है । शुक्र का भृगुरूप रयिभाग पत्नी है, प्राणभाग पुरुष है । इस पति-पत्नी के संयोग से सबसे पहले विराट् सूर्य्य ही उत्पन्न होता है–जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

**"द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः"–इति ॥[3]**

रयिप्राणात्मक परमेष्ठी से उत्पन्न यही विराट् पुरुष सारी रोदसी प्रजा का उत्पादक है । इसीलिए इस विराट् पुरुष के लिए–**'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः'**,[4] **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**,[5] **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**[6]–इत्यादि कहा जाता है । "परमेष्ठी प्रजापति ने प्रजा-कामना से–रयि-प्राणरूप भृगु और अंगिरा पैदा किए–इस मिथुन से सारा संसार बनाया ।" अब तक के प्रपञ्च से यही निष्कर्ष निकलता है ।

१–मनुस्मृति १।८ ।   २–गोपथ ब्रा० पूर्व १।१।३९ ।
३–मनुस्मृति १।३२ ।   ४–ऋग्वेद मं० ७।६३।४ ।
५–ऋग्वेद मं० १।११५।५ ।   ६–प्रश्नोप० १।८ ।

प्रजाविषयक कार्य्यकारणभाव पितापुत्रवत् नहीं है-अपि तु, मृद्घटवत् है, तन्तुपटवत् है। अर्थात् अभिन्नसत्ताक है। प्रजापति ही प्रजा बनता है, परन्तु पुत्रवत् प्रजा पिताप्रजापति से स्वतन्त्र सत्ता धारण करने में असमर्थ है। यह उसी (उसी सत्ता) पर प्रतिष्ठित रहती है। प्रजापति ही एकभाग से-रयिप्राण बनता है, एक भाग से प्रजा बनता है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है। वह यही है कि प्रजा उत्पन्न करने के कारण परमेष्ठी **'प्रजापति'** कहलाता है। ऐसी अवस्था में प्रजोत्पत्ति से पहले उसे प्रजापति कहना अनुचित है। फिर यहाँ पर 'प्रजोत्पत्ति' से पहले ही उसे प्रजापति कैसे कहा गया? प्रश्न यथार्थ है। परन्तु हम कह आए हैं कि परमेष्ठी के साथ षोडशी है। परमेष्ठी प्रकृति है। यह विना उस पुरुष के नहीं रहती। पुरुष मनःप्राणवाङ्मय है। इन तीनों की परमेष्ठी में सत्ता है। प्रजोत्पत्ति से भी पहले इसमें मन-प्राण-वाक् तीन भाग हैं। मन भाग से यह कामना करता है, प्राण-भाग से तप करता है-वाक् भाग से श्रम करता है। मन भाग आत्मा है, प्राणभाग प्राण है-वाक् भाग पशु है। यद्यपि स्थूलप्रजा उस समय नहीं है, तथापि वाक्रूप पशु-प्रजा तो मैथुनी सृष्टि से पहले ही उस परमेष्ठी में मौजूद है। बस, इसी वाक् प्रजा को लक्ष्य में रखकर मैथुनी प्रजोत्पत्ति से पहले ही हम अवश्य ही परमेष्ठी को 'प्रजापति' कहने के लिए तय्यार हैं। वही प्रजापति एक भाग से आवपन बनता है। एक भाग से अन्नाद बनता है। एक भाग से अन्न बनता है। परमेष्ठी आवपन है। रयि अन्न है। प्राण अन्नाद है। तीनों की समष्टि-'शं ब्रह्म' है-जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है।

प्रजापति का विचार हो चुका-अब क्रमप्राप्त रयि और प्राण का विचार करना चाहिए। **'वीर्यं वै रयिः'**[1]-यह श्रुति वीर्य्य को **'रयि'** बतलाती है। वीर्य्य रेत है। रेत अन्न से पैदा होता है। अन्न चन्द्रमा से पैदा होता है। अन्न औषधि है। औषधियों में चान्द्र रस की प्रधानता है, वनस्पतियों में सौर रस की प्रधानता है। चान्द्र रस साक्षात् सोम है। इसीलिए तो इसके लिए-**'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः'**[2]-यह कहा जाता है। वीर्य्य **'रयि'** है-इसका तात्पर्य्य यही है कि सोम रयि है। यही सोम भृगु है। भृगु की तरलावस्था ही सोम है। सोम स्नेहतत्त्व है-संकोचधर्म्मा है-सर्वथा ऋत है। उत्तरोत्तर संकुचित होना-इसकी प्रधानवृत्ति है। इसीलिए तो रयिरूप इस सोम को **'भृगु'** कहा जाता है। **'बिभ्राणः सन्-भरन् सन् गच्छति'**-इस व्युत्पत्ति से इसे **'भृगु'** कहा जाता है। वस्तु को भरता हुआ यह केन्द्र में जाता है, अतएव-**'भरन् सन्-स्थूलतां प्राप्तः सन् केन्द्रे गच्छति'**-इस व्युत्पत्ति से हम अवश्य ही इसे 'भृगु' कहने के लिए तय्यार हैं। भार्गव सौम्य प्राण एक दूसरे से चिपकना चाहता है-मिलना चाहता है। एक दूसरे के मेल से परस्पर में मूर्च्छित होता रहता है। इस मेल की-दूसरे शब्दों में मूर्च्छा की जब पराकाष्ठा हो जाती है तो-**'मूर्त्ति'** बन जाता है। इसीलिए निरुक्त ने मूर्त्ति का **'मूर्च्छनात् मूर्त्तिः'**-यह निर्वचन किया है। मूर्च्छित सौम्य प्राणसंघ ही-**'मूर्त्ति'** है। रयि ही मूर्त्ति है। स्नेह के कारण परस्पर में एक दूसरे से प्रतिमूर्च्छित होते हुए रयिरूप सौम्य प्राण मूर्त्तिरूप में परिणत हो जाते हैं।

१-शत० ब्रा० १३।४।२।१३। २-शत० ब्रा० १।६।४।५।

अब चलिए प्राण की ओर। यद्यपि प्राण अनन्त प्रकार के हैं, तथापि भृगुरयि के सम्बन्ध से यहाँ प्राणशब्द से **'अंगिरा-प्राण'** का ही ग्रहण समझना चाहिए। **'प्राणा अग्निः'**[1]-के अनुसार यहाँ हम प्राणशब्द से अग्निमय अंगिरा-प्राण का ही ग्रहण करेंगे—

यह अंगिरा-प्राण भृगुप्राण से सर्वथा विजातीय है। वह संकोचधर्मा था, यह विकासधर्मा है। **'अंगी सन् रसति'**-इस व्युत्पत्ति से इसे 'अंगिरा' कहा जाता है। जैसे सौम्य भार्गवप्राण उत्तरोत्तर संकुचित होता हुआ प्रधि से केन्द्र की ओर आता है, ठीक इसके विरुद्ध यह आग्नेय आंगिरस प्राण उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ केन्द्र से प्रधि की ओर जाता रहता है। वस्तुपिण्ड अंगी है। इसमें से वह अग्निरस निरन्तर निकलता रहता है। इसी निर्गत अग्निरस के-अग्नि, वायु, इन्द्र-तीन भेद हो जाते हैं। पिण्ड से निकलकर २१ तक यह अंगिरा रस तीन स्वरूपों में परिणत होकर अपने अपने पिण्ड के त्रैलोक्य में (महिमामण्डल में) व्याप्त होता है। पिण्ड पृथिवी है-पिण्ड की महिमा का २१वाँ अहर्गण द्युलोक है। यह द्यावापृथिवी की व्यवस्था छोटे से छोटे और बडे से बडे यच्चयावत् पदार्थों में समान है। इसी साधारण विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

> **"इत एत उदारुहन्-दिवः पृष्ठान्यारुहन्।**
> **प्रभूर्जयो यथापथो द्यामङ्गिरसो ययुः"-इति॥**[2]

सोम-आगच्छति है। अंगिरा निर्गच्छति है। दोनों के समन्वय से संसार का स्वरूप बना हुआ है। स्त्री का शोणित अंगिरा है। यही प्राण है। पुरुष का शुक्र भृगु है। यही रयि है। इस शुक्रशोणिता-परपर्य्यायक रयि-प्राण के यज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति होती है। प्रजोत्पत्ति का सम्बन्ध पुरुष-स्त्री के मिथुन पर निर्भर नहीं है-रयि-प्राण के मिथुन पर निर्भर है। जब तक रयि-प्राण का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता दोनों की चिति (ग्रन्थिबन्धन) नहीं होती-तब तक पुरुष-स्त्री के निरन्तर संभोग करने पर भी प्रजो-त्पत्ति नहीं होती एवं विना भी स्त्री-पुरुष के मिथुन के जहाँ रयिप्राण मिल जाते हैं-प्रजोत्पत्ति हो जाती है। दोनों प्राण विश्व में व्याप्त हैं। कारणविशेष से दोनों की चिति होते ही जीवसृष्टि हो जाती है। चातुर्मास्य में आप सड़कों की लालटेनों के पास जो लाखों कीड़े देखते हैं-यह उसी रयिप्राण की चिति का प्रभाव है। वर्षा का जल रयिप्राणयुक्त है। दीपप्राण प्राण है। दोनों के मिथुन होते ही लाखों जीव उत्पन्न हो जाते हैं। रयि सोम है-प्राण अग्नि है। बस, संसार की सारी प्रजा इसी अग्नी-षोमापरपर्य्यायक रयिप्राण के मिथुन पर ही निर्भर है। भृगु और अंगिरा-दोनों परमेष्ठी की वस्तु हैं। परमेष्ठि ऋत है, अतएव दोनों भी ऋत ही हैं, अतएव तो इन दोनों को 'आपः' कहा जाता है। इस आपः का भृगुभाग तो सदा ऋत ही रहता है, परन्तु अंगिरा भाग आगे जाकर सत्य बन जाता है। ऋत-सत्य, सोम-अग्नि, रयि-प्राण-एक बात है। कहने मात्र में अन्तर है। बात एक ही है। हमने प्रारम्भ में ही कहा है कि ऋषि यहाँ पाँचों प्राणों का निरूपण कर रहे हैं। इनमें रयिप्राण, प्रज्ञाप्राण

१-शत० ब्रा० ६।३।१।२१। २-सामवेद पू० १।२।१०।२।

भूतप्राण, विषणाप्राण, वाक्प्राण–यह क्रम रखा है। इस क्रम से पाँचों का निरूपण किया है। प्रारम्भ में–रयिप्राण का निरूपण है। इसमें प्राण वाले अंगिरा के–आदित्य, यम, अग्नि–तीन भेद हो जाते हैं। आदित्य सौर प्राण है, यम आन्तरिक्ष्य वायव्य प्राण है। अग्नि पार्थिव भूतप्राण है। आदित्यप्राण विषणा प्राण है, पार्थिवप्राण भूतप्राण है। रयिप्राण प्रज्ञाप्राण है। इस प्रकार केवल रयिप्राण में चारों का अन्तर्भाव हो जाता है। रयिप्राण बिना वाक्प्राण के अनुपपन्न है। सुतरां इसका भी रयिप्राण में अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखने पर प्रथम प्रश्न के रयिप्राण निरूपण से ही पाँचों प्राणों का स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। सारे प्रपञ्च का **'अग्नीषोमात्मकं जगत्'**–यही निष्कर्ष है। इसी निष्कर्ष को हमारे सामने रखते हुए पिप्पलाद कहते हैं—

"तस्मै स होवाच–प्रजाकामो वै प्रजापतिः–स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा–स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेति। एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति" ॥४॥

—❀—
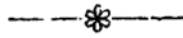
श्रुति के–रयि और प्राण शब्द से स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। रयि और प्राण दोनों ही शब्द अप्रसिद्ध हैं। साधारण मनुष्य–"रयिप्राण के मिथुन से संसार उत्पन्न होता है–इससे कुछ नहीं समझ सकते, अतएव आगे जाकर इन दोनों का स्पष्टरूप से साक्षात् करवाते हुए कहते हैं कि आदित्य ही प्राण है। रयि ही चन्द्रमा है। संसार में जो मूर्त्त और अमूर्त्त हैं–वे सब रयि हैं, अतः मूर्त्ति ही रयि है।" शीर्षक देखने से पाठकों को विदित हुआ होगा कि इस प्रथम प्रश्न में ऋषि ने **'सृष्टिरहस्य'** का निरूपण किया है। सृष्टि संसृष्टि है। संसृष्टि स्नेहगुण से सम्बन्ध रखती है। स्नेहगुण भार्गव है। भृगु रयि है। यह परमेष्ठि की वस्तु है, अतः ऋषि ने उसी सृष्टिमूलक रयिप्राण का सर्वप्रथम निरूपण किया है। सृष्टि ही विश्व है। **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्०'**–इत्यादि ऋक् श्रुति ऋत और सत्य-तत्त्व को सृष्टि का मूलकारण बतलाती है एवं प्रकृत में रयिप्राण को सृष्टि का उपादानकारण बतलाया गया है। इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। संहितामन्त्र के ऋत-सत्य ही उपनिषत्-श्रुति के रयिप्राण हैं। कैसे हैं? इसके लिए निम्नलिखित ऋतसत्यस्वरूप पर ध्यान देना आवश्यक होगा—

सारा विश्व ऋत और सत्य–इन दो भागों में विभक्त है। संसार में हम भाति, सत्ता, भातिसत्ता भेद से तीन प्रकार के पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं। केवल भातिसिद्ध, केवल सत्तासिद्ध–उभयात्मक विश्व के यच्चयावत् पदार्थ कुल तीन ही भागों में विभक्त हैं। जिन पदार्थों का अस्तित्व है, परन्तु हम उन्हें नहीं जानते–ऐसे पदार्थ केवल 'सत्ता'-सिद्ध हैं। सूर्य्य के ऊपर परमेष्ठी है, स्वयम्भू है। फिर ऊपर परात्पर है। ये सब सत्तासिद्ध पदार्थ हैं, परन्तु इनका हमें भान नहीं होता। हम विज्ञानचक्षु से ही इनका भान करने में समर्थ होते हैं। इंग्लैण्ड सत्तासिद्ध है, परन्तु उसका हमें भान नहीं होता, अतः हम भारतवासियों के लिए इंग्लैण्ड सत्तासिद्ध है। परन्तु इंग्लैण्ड में रहने वाले युरोपियनों के लिए एवं जो भारतीय वहाँ जा आए हैं एवं वहाँ रहते हैं–उनके लिए वह इंग्लैण्ड भातिसिद्ध भी है–

सत्तासिद्ध भी है । विश्व के भीतर जितने भी पदार्थ हैं–वे किसी के लिए भातिसिद्ध-सत्तासिद्ध हैं, परन्तु किसी के लिए सत्तासिद्ध ही हैं । इस केवल पक्ष को लक्ष्य बनाकर जिन्हें हम नहीं देखते, किन्तु जिनका अस्तित्व है–उनके लिए हम हमारी अपेक्षा से 'सत्तासिद्ध' शब्द का प्रयोग करते हैं । विश्व के प्राणिमात्र के लिए सत्तासिद्ध तो विश्वातीत केवल परात्पर ही है । उसे कोई नहीं जानता । क्योंकि वाङ्मनसातीत होने से वह जानने की सीमा से बाहर है, अतएव हम परात्पर को अवश्य ही **'शुद्धसत्ता' सिद्ध** पदार्थ कहने के लिए तय्यार हैं ।

दूसरा विभाग है–भातिसिद्ध पदार्थों का । जो हैं नहीं परन्तु मालूम होते हैं, जिनसे संसार का काम चलता है–ऐसे पदार्थ **'भातिसिद्ध'** हैं । ऐसे पदार्थ अनन्त हैं । पूर्वपश्चिमादि दिशाओं से सारा संसार काम लेता है–परन्तु ये भातिसिद्ध हैं । सूर्य्य-पृथिवी आदि की तरह कोई मनुष्य इनका अस्तित्व नहीं बतला सकता । यह केवल व्यावहारिक (काल्पनिक) जगत् है । इसीलिए रामलाल-लक्ष्मणलाल-भरतलाल–तीनों के आगे पीछे बैठे रहने पर भरतलाल से लक्ष्मणलाल-रामलाल पूर्व हो जाता है, परन्तु वही रामलाल से पश्चिम हो जाता है । जो पश्चिम है–वही पूर्व है । पूर्व है जो ही पश्चिम है । इसी प्रकार एक को छोडकर शेष सारी संख्याएँ, दिन, मास, पक्ष, संवत्सर, युग आदि काल, सेर दो सेर, छटांक, पाव, मन आदि परिमाण, पृथक्त्व, समवाय, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व आदि सब भातिसिद्ध पदार्थ हैं । दीखने वाला नीला आकाश स्वयं भातिसिद्ध है । हैं नहीं–परन्तु मालूम होते हैं । यह दूसरा विभाग है ।

एवं जो घट, पट, सूर्य्य, चन्द्र, पशु, पक्षी आदि पदार्थ हैं एवं जिन्हें हम जानते हैं अर्थात् जिनकी अस्ति भी है–भाति भी है–वे उभयसिद्ध पदार्थ हैं । इन उभयों में से हम जिन्हें नहीं जानते, वे सत्तासिद्ध पदार्थ हैं, जिन्हें जानते हैं–वे उभयसिद्ध पदार्थ हैं । दोनों को–दूसरे शब्दों में सत्तासिद्ध पदार्थ को (चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात हो) वैज्ञानिक जगत् में **'सत्य'** कहा जाता है । सत्ता अस्तित्व है । वह पदार्थ सत्ताश्रित रहता है–सत् में प्रतिष्ठित रहता है; अतः **'सत्ताश्रयं-सति भवम्'**–इन दोनों व्युत्पत्तियों से हम उसे अवश्य ही **'सत्य'** कहने के लिए तय्यार हैं । सत्ता के–मन, प्राण, वाक्–तीन खण्ड हैं । तीनों के समुच्चय का नाम **'अस्तित्व'** है । मन हृदय में प्रतिष्ठित रहता है । मन के आधार पर प्राण रहता है, प्राण के आधार पर 'वाक्' रहती है । तीनों का आधार 'हृदय' है । तीनों की समष्टि 'सत्य' है । सत्य पदार्थ का आधार सत्ता है । सत्ता का आधार हृदय है, अतएव इस अक्षररूप 'हृदय' को–**'सत्यप्रजापति'** कहा जाता है । अस्तु, इस विषय को हम अधिक नहीं बढाना चाहते । यहाँ हमें केवल यही कहना है कि सत्तासिद्ध पदार्थ सत्ताश्रय होने से सत्य है एवं भातिसिद्ध आकाशदिक्कालादि ऋत हैं । यह ऋत-सत्य का पहला विभाग है ।।१।।

इनमें भातिरूप सिद्धपदार्थस्वरूप ऋत को छोड दीजिए एवं सत्तासिद्धरूप सत्य को लीजिए एवं इस सत्य के लिए हमने जो पूर्व में 'हृदय' भाव बतलाया है–उसे भी थोड़ी देर के लिए भुला दीजिए । सत्तासिद्ध पदार्थ–चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात हो–उसे 'सत्य' कहते हैं । बस, केवल इतने अंश पर अपनी दृष्टि रखिए । यह सत्य पुनः ऋत और सत्य–दो भेदों में परिणत होता है । यही ऋत-

सत्य का दूसरा अवतार है । इन्हीं दोनों के लिए श्रुति में–'**ऋतं च सत्यं च**', '**मूर्त्तं चामूर्त्तं च**', '**निरुक्तञ्चानिरुक्तम्**'–इत्यादि कहा गया है । अमूर्त्त पदार्थ, मूर्त्त पदार्थ दोनों ही सत्तासिद्ध हैं । दोनों का अस्तित्व है–अतएव हम दोनों को सत्य कहने के लिए तय्यार हैं । दूसरे शब्दों में–सत्य के अमूर्त्त और मूर्त्त–दो रूप मानने के लिए तय्यार हैं । इन दोनों में सत्तासिद्ध अमूर्त्त पदार्थ ऋत हैं । सत्तासिद्ध मूर्त्त पदार्थ सत्य हैं । अशरीर तत्त्व-अमूर्त्त हैं, सशरीर पदार्थ मूर्त्त हैं । पानी-अग्नि-मिट्टी आदि जितने पदार्थ हम आँखों से देखते हैं-वे सब मूर्त्त हैं । इनका एक शरीर है । शरीर से यहाँ आकार, रूप अभिप्रेत है । पानी-अग्नि-मिट्टी आदि का आकार है, अतएव हम इनको सशरीर अतएव मूर्त्त कहने के लिए तय्यार हैं । संसार में प्रत्यक्ष दृष्ट सशरीर जितने भी मूर्त्त पदार्थ हैं–उन सबमें–प्रत्येक में भिन्न-भिन्न शक्तिएँ (पावर) रहती हैं । पानी में भिन्न शक्ति है । अग्नि भी भिन्न शक्ति है । मिट्टी भी भिन्न शक्ति है । जिसमें शक्ति नहीं–वह पदार्थ नहीं । पदार्थ शिव (सुरक्षित) रूप में तभी तक प्रतिष्ठित रह सकता है जब तक कि वह शक्ति से युक्त रहता है । विना शक्ति के वह शव है-नष्टप्राय है । इन शक्तियों को हम आँखों से नहीं देखते । इनसे होने वाले फल का प्रत्यक्ष कर सकते हैं–इनका नहीं । प्रत्यक्षदृष्ट सशरीरी मूर्त्त पदार्थों में यह रहती है–स्वयं यह अमूर्त्त है । अशरीर अतएव अमूर्त्त होने से इन मूर्त्त पदार्थों की शक्तियों को हम '**ऋत**' कहने के लिए तय्यार हैं । परिच्छेद (सीमा) का नाम–'**मात्रा**' है । परिच्छिन्न वस्तुमात्रिक है । जो अमात्रिक है–वह परिच्छेदशून्य होने से अशरीर है । यही ऋत है एवं मात्रिक सशरीरी वस्तुजात 'मूर्त्त' है । यही सत्य है । यह '**ऋतसत्य**' का दूसरा विभाग है ।।२।।

प्रथम ऋतसत्य विभाग में जिस हृदयतत्त्व का निरूपण किया गया था एवं जिसके लिए दूसरे ऋतसत्य विभाग में भूल जाने के लिए कहा था–उसे अब तीसरे 'ऋतसत्य' विभाग में स्मरण कीजिए—

शक्तिरूप ऋत, शक्तिमान् सशरीरी मूर्त्तरूप सत्य-इन दोनों में से शक्तिरूप 'ऋत' को छोड़ दीजिए एवं केवल शक्तिमान् सशरीरी मूर्त्त सत्य पर दृष्टि डालिए । इस मूर्त्तसत्य के फिर ऋत-सत्य–दो विभाग होते हैं । यही ऋत सत्य का तीसरा अवतार है । सारे सशरीरी मूर्त्तपदार्थ-सहृदय-अहृदय भेद से दो भागों में विभक्त हैं । पानी, वायु, सोम, मेघ आदि मूर्त्त पदार्थों का शरीर है । इसलिए तो हम इन्हें पूर्वपरिभाषानुसार '**सत्य**' कहने के लिए तय्यार हैं । परन्तु '**सशरीरं-अहृदयं ऋतम्**'–इस लक्षण के अनुसार इन्हें हम '**ऋत**' कहने के लिए तय्यार हैं । पानी आदि पूर्वोक्त मूर्त्त पदार्थों का शरीर अवश्य है, परन्तु इनमें केन्द्र नहीं है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि पानी के परमाणु जहाँ से उठाए जाते हैं–अलग निकल आते हैं । मेघ विच्छिन्न हो जाता है । जिसमें हृदय होता है–वह पदार्थ एक संस्था से पकड़ा रहता है । सशरीरी मूर्त्त पृथिवी, सूर्य्यादि पिण्ड सत्य हैं । इनमें केन्द्र है । केन्द्र की पकड़ में सारा पिण्ड बद्ध है । सूर्य्यरश्मि के सामने एक तिल रख दो, रश्मि टकराकर वापस चली जायगी, क्योंकि वह सूर्य्य केन्द्र से बद्ध है । परन्तु पानी के आगे हाथ लगा दो फिर भी वह वापस नहीं लौटेगा । अपि तु, हाथ के इधर-उधर होके आगे निकल जायगा । क्योंकि वह केन्द्र से बद्ध नहीं है । बस, मूर्त्त पदार्थों में जितने केन्द्रयुक्त पदार्थ हैं–वे सत्य हैं, एवं अकेन्द्रभावापन्न मूर्त्त पदार्थ ऋत हैं । आपः, वायु, सोम–तीनों भृगु हैं । तीनों अकेन्द्र होने से ऋत हैं । प्राणाग्नि (अंगिराग्नि) आगे जाकर सत्य बन

जाती है। भृगुरूप रयि ऋत है, प्राणरूप अग्नि सत्य है। प्रजोत्पत्ति का सम्बन्ध—इसी अग्नीषोमरूप तीसरे ऋतसत्य से है, अतएव ऋषि ने—ऋतसत्य का प्रयोग न कर 'रयिप्राण' का उल्लेख किया है। ऋत-सत्य शब्द—ऋत-सत्य के तीनों विभागों का संग्राहक है। वह प्रजासृष्टि में अभिप्रेत नहीं है एवं रयिप्राण शब्द—तीसरे मूर्त्त ऋत-सत्य का वाचक है, अतः यहाँ उसी को हमारे सामने रखा है—

मूर्त्ति ही 'मूर्त्त' पदार्थ है। पूर्वोक्त तृतीय विभाग में निरूपित मूर्त्त पदार्थ ही ऋत है, मूर्त्त पदार्थ ही सत्य है। अन्तर केवल हृदय-अहृदय का है। जो मूर्त्त पदार्थ सहृदय है—वह सत्य है। अहृदय मूर्त्त पदार्थ ऋत है। अहृदय आपः-वायु-सोम—तीनों मूर्त्त ऋत पदार्थ हैं। क्योंकि इन तीनों में केन्द्र नहीं हैं। इन तीनों की समष्टि 'रयि' है। इस 'रयि' से ही 'सत्य-मूर्त्त' का निम्मर्णि होता है। प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है कि प्रतिमूर्च्छित सोम प्राण ही मूर्च्छित होकर मूर्त्ति कहलाने लगता है। ऋत-तत्त्व ही सत्यशरीर का आरम्भक है। उदाहरण के लिए पृथिवी को ही लीजिए। पृथिवी अग्नि-पिण्ड है—सत्य है—यह अनुपद में ही बतलाया जा चुका है। इस पृथिवी का निम्मर्णि पानी से होता है। भृगु, अङ्गिरा—दोनों 'आपः' हैं। इसमें भृगु पानी के पेट में अङ्गिरा पानी है। यह पानी तेजोयुक्त है—भार्गव पानी स्नेहयुक्त है। इस स्नेह-तेज के योग से वही 'आपः' पृथिवीस्वरूप में परिणत हो जाता है। आपोमय परमेष्ठी ऋत था। वही सत्य पृथिवी बना, अतएव ऋत को हम अवश्य ही मूर्त्तिरूप सत्य का आरम्भक मानने के लिए तय्यार हैं। ऋत के पेट में सत्य प्रतिष्ठित रहते हैं। पिण्ड सत्य है। इसके परमाकाश में चारों ओर ऋत सोम रहता है। वह एक प्रकार से मूर्त्त होता हुआ भी अमूर्त्त है। तन्मध्यपतित पिण्ड मूर्त्ति है। परमाकाशस्थ ऋत तो रयि है ही, परन्तु तन्मध्यपतित सत्यपिण्ड भी रयि ही है। क्योंकि रयि ऋत ही तो पूर्वकथनानुसार सत्यपिण्ड का आरम्भक है। निष्कर्ष यही हुआ कि संसार में मूर्त्त, अमूर्त्त भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं। पिण्डात्मक पदार्थ सत्य हैं। तरल-विरलात्मक—आपः-वायु-सोम, ऋत हैं। पिण्ड अग्नि प्राणमय है, पिण्डों की महिमा ऋतमय है। ऋत रयि है—पिण्ड प्रसूत है। इस प्रकार यद्यपि दो वस्तु हो जाती हैं, तथापि इनमें प्रधानता रयि की है। मूर्त्त—अमूर्त्त दोनों रयि (ऋत) हैं। दोनों ऋतमय हैं। भृगु, अङ्गिरा ऋत हैं, दोनों आपः रूप हैं। यही आपः रयि है। इस अब्रूप रयि का ही—अङ्गिरा भाग सत्यरूप में परिणत होता हुआ 'मूर्त्ति' बनता है एवं इसी रयि का भृगुभाग मूर्त्ति के बाहर—आपः-वायु-सोम में परिणत होकर चारों ओर से अपने भाग से निर्म्मित पिण्ड को घेरे रहता है। इसी ऋत का प्रधानता की निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

> **"ऋतमेव परमेष्ठि, ऋतं नात्येति किञ्चन।**
> **ऋते समुद्र आहितः, ऋते भूमिरियं श्रिता" ॥**[1]

'ऋतं नात्येति किञ्चन'—इस रूप से दृढतापूर्वक ऋत की व्यापकता बतलाई जा रही है जो कि सर्वांश में यथार्थ है। उसी व्यापकता को लक्ष्य में रखकर यहाँ पर ऋषि ने—

---

१ तै० ब्रा० १।५।५।१।

"रयिर्वा एतत्सर्वं-यन्मूर्त्तं चाऽमूर्त्तं च तस्मान् मूर्त्तिरेव रयिः" ।।

-यह कहा है । वायु, प्राण आदि नीरूप पदार्थ हैं, पृथिवी, सूर्य्य आदि रूपी द्रव्य हैं । हमने द्वितीय विभाग में दोनों को मूर्त्त बतलाया था, यहाँ ऋषि वायु आदि को अमूर्त्त बतला रहे हैं, एवं पृथिवी आदि को मूर्त्त बतला रहे हैं । इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए । आपः, वायु, प्राण, मेघ-इन मूर्त्तों में से आप, मेघ-ये दो तो मूर्त्त ही हैं । ये तो उभयथा मूर्त्त हैं । केवल सत्यपिण्ड की अपेक्षा से इन्हें 'अमूर्त्त' कह दिया जाता है । इन अमूर्त्तों का हमें आँखों से प्रत्यक्ष होता है । परन्तु वायु और प्राण दोनों दूसरे विभाग के अनुसार तो 'मूर्त्त' हैं, परन्तु आँखों से न दिखलाई देने के कारण नीरूप होने से 'अमूर्त्त हैं । यह अमूर्त्त भी 'रयि' है-अंगिरा प्राणमय सत्य मूर्त्तपिण्ड भी रयि है-जैसा कि अनुपद में ही बतलाया जा चुका है । श्रुति के 'अमूर्त्त' शब्द का अर्थ है-अदृष्टमूर्त्ति । उसकी मूर्त्ति अवश्य है, परन्तु 'अत्रि' प्राण के अभाव से सौररश्मियों का प्रतिफलन नहीं होता, अतएव हम उसी वायु-प्राण की मूर्त्ति नहीं देखते अथवा अनियत शरीर को अमूर्त्त समझो । आपः, वायु आदि का कोई नियत शरीर नहीं है । आधार जिस आकार का होता है-ये उसी आकार में परिणत हो जाते हैं । स्वयं इनकी कोई मूर्त्ति नहीं है, अतएव ये अमूर्त्त हैं । हृदययुक्त सत्यपिण्ड नियत शरीरी होने से मूर्त्त हैं । मूर्त्त अमूर्त्त दोनों रयि हैं । अमूर्त्त ऋत रयि का भृगुभाग है । मूर्त्त रयि का अंगिरा भाग है । अग्निगर्भित रयि ही मूर्त्ति है । मूर्त्त अमूर्त्तवेष्टित रहता है । पिण्ड मूर्त्त है । यह परमाकाश में स्थित अमूर्त्ततत्त्व से आक्रान्त है । दोनों की समष्टि रयि है । यही मूर्त्ति है, अतएव हम अवश्य ही 'मूर्त्ति' को ही 'रयि' कहने के लिए तय्यार हैं । रयि सोम है-यही स्त्री है-यही शक्ति है । महर्षि **'तस्मान् मूर्त्तिरेव रयिः'**-से शक्ति की ही प्रधानता सूचित करते हैं । इस रयिप्राण का विकास सूर्य्य और चन्द्रमास्वरूप से होता है । सूर्य्य प्राणघन है । चन्द्रमा रयिघन है । आदित्य अग्नि है, चन्द्रमा सोम है । वह प्रजापति परमेष्ठीरूप अपने भाग का आवपन बना अपने ही एक भाग से रयि बनाता है-प्राण बनाता है । इन दोनों का रोदसी त्रिलोकी में आदित्य और चन्द्रमारूप से विकास कर तद्द्वारा सारी प्रजाएँ उत्पन्न करता रहता है-इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चाऽमूर्त्तं च । तस्मान्-मूर्त्तिरेव रयिः"-इत्यादि ।।५।।

———※———

"परमेष्ठी प्रजापति से उत्पन्न होने वाले-रयिप्राणात्मक अग्नि-सोम ही प्रजासृष्टि के मुख्य उपादान हैं"-अब तक के निरूपण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । यह अग्नीषोमात्मक परमेष्ठी प्रजापति, दूसरे शब्दों में अग्नीषोम किस-किस रूप से इस विश्व में प्रतिष्ठित होकर प्रजानिर्म्माण करते हैं-इस प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है । हमारा यह अग्नीषोमात्मक परमेष्ठी प्रजापति १-विश्वरूप, २-संवत्सर, ३-मास, ४-अहोरात्र, ५-अन्न-इन पाँच स्वरूपों में परिणत होकर प्रजा-निर्म्माण कर रहा है । सबसे पहले यह प्रजापति विश्वरूप में परिणत होता है । अनन्तर संवत्सररूप में

परिणत होता है। संवत्सर से मासरूप में परिणत होता है। मास से अहोरात्ररूप में परिणत होता है एवं अहोरात्र से अन्नरूप में परिणत होता है। अन्न द्वारा वह सारी प्रजा का निर्म्माण करता है। प्रजापति के सत्य और यज्ञ दो रूप होते हैं। सत्य प्रजापति आलम्बन है, यज्ञ प्रजापति आलम्बित है। यज्ञप्रजापति सत्यप्रजापति पर प्रतिष्ठित है। सत्यप्रजापति अमृतात्मा (षोडशी पुरुष) पर प्रतिष्ठित है। षोडशी अमृत है। सत्यप्रजापति ब्रह्म है। यज्ञप्रजापति शुक्र है। अमृतभाग पर प्रतिष्ठित प्रजाकाम सत्यप्रजापति यज्ञरूप में परिणत होकर ही प्रजोत्पत्ति करने में समर्थ होता है। सत्य परब्रह्म है, यज्ञ अपरब्रह्म है। यही अवरब्रह्म प्रजा का उपादान होने से 'शुक्र' नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार—**'तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म- तदेवामृतमुच्यते'**—के अनुसार उस एक ही के—अमृत-ब्रह्म-शुक्र—तीन विवर्त्त हो जाते हैं। शुक्र यज्ञात्मक है। प्रजा यज्ञ के साथ उत्पन्न होती है। अग्नि में सोम की आहुति होने का नाम ही **'यज्ञ'** है। प्रजापति यज्ञरूप में परिणत होकर ही प्रजोत्पत्ति करने में समर्थ होता है। इसी यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रखकर यज्ञेश्वर कहते हैं—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्"—इति ॥[1]

यज्ञ परमेष्ठी से उत्पन्न होता है, अतएव हमने प्रारम्भ में प्रजापति शब्द को परमेष्ठिपरक बतलाया है। **यह परमेष्ठीरूप** प्रजापति रयिप्राणात्मक यज्ञसृष्टि करने में असमर्थ है, अतएव यह सौरयज्ञ का सहारा लेता है। **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'**[2]—के अनुसार यज्ञ पाकयज्ञ, अग्निहोत्र, हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ, विश्वरूप-यज्ञ भेद से पाँच प्रकार का है। अन्नयज्ञ पाकयज्ञ है। अहोरात्रयज्ञ अग्निहोत्र है। मास हविर्यज्ञ है। संवत्सरयज्ञ सोमयज्ञ है। सौरप्राणयुक्त परमेष्ठियज्ञ विश्वरूप यज्ञ है। इन पाँच यज्ञों से युक्त पाङ्क्त प्रजापति सृष्टि का निर्माण करता है। पाँचों यज्ञ अग्नीषोमात्मक हैं। पाँचों में से सर्वव्यापक सौर-प्राणोपेत परमेष्ठी नाम के विश्वरूपयज्ञ का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—**'अथादित्यः'**०—इत्यादि (६-७-८वें मन्त्र)—इन तीनों मन्त्रों से इस विश्वरूपयज्ञ का निरूपण किया गया है। सूर्य्य भिन्न वस्तु है, आदित्य भिन्न वस्तु है। विज्ञानकोटि में—आदित्य को सूर्य्य का प्राण समझना अशुद्ध है। सूर्य्य एक है—आदित्य १२ हैं। १२ आदित्यों में से जो एक इन्द्रनाम का क्षत्र आदित्य है—तद्युक्त चित्याग्निपिण्ड का नाम सूर्य्य है। आदित्य जनक है—सूर्य्य जन्य है। आदित्य परमेष्ठी का भाग है—अंगिरा परमेष्ठी है। इसी के एक भाग का नाम आदित्य है। इस आदित्य का आगे जाकर सूर्य्यरूप में विकास होता है। इसी आदित्यात्मक परमेष्ठी यज्ञ को **'स्वाराज्ययज्ञ'** कहा जाता है। सूर्य्य विराड्यज्ञ है। आदित्य परमेष्ठी 'स्वाराज्ययज्ञ' है। आदित्य ही सूर्य्य बनता है—इसलिए आदित्य को भी सूर्य्य कहा जा सकता है, परन्तु आदित्य ही सूर्य्य है—यह कहना अनुचित है। **'तस्य यद् (परमेष्ठिप्रजापतेः-यत्) रेतसः प्रथममुददीप्यत-तदसावादित्यः'**[3]—के अनुसार परमेष्ठी शुक्र का पहला विकास आदित्यात्मक सूर्य्य है। स्वाराज्य यज्ञ ही—विराट्यज्ञ में

१—गीता—३।१०। २—ऐ० ब्रा० १।५।
३—ऐ० ब्रा० १३।३४।

परिणत होता है। यहाँ उन्मुग्वरूप से दोनों का ग्रहण है। यही सूर्य्यात्मक आदित्य अग्नीषोमरूप से सम्पूर्ण विश्व में अभिव्याप्त है। यह अग्नि-सोम की महादशा है। सारा विश्व इस महादशा से आक्रान्त है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः–छओं दिशाओं में अपनी सहस्र रश्मियों से व्याप्त होता हुआ–यह विश्वरूप आदित्य सबके प्राणों को आकर्षित कर रहा है। इस आदित्य में ज्योति, गौ, आयु–तीन भाग हैं। चान्द्रसोमगर्भित अतएव अग्नीषोमात्मक यही आदित्य सबका आत्मा है। सबका भूत है। सबका देवता है। प्रत्येक पदार्थ में कारण-सूक्ष्म-स्थूल तीन शरीर होते हैं। स्थूलशरीर भूतमय है–यह सौर गौभाग से गृहीत है। सूक्ष्मशरीर देवता है–यह सौर ज्योतिभाग से गृहीत है। कारण-शरीर आत्मा है–यह उसके आयुभाग से निगृहीत है। इन तीनों से सूर्य्य ने सबको आकर्षित कर रखा है। जड़चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व की प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही आदित्ययज्ञ है।

पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है। इससे हम स्थिर सूर्य्य को घूमता हुआ देखते हैं। इस दृश्यमण्डल के अनुसार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः-भेद से सौर रश्मिएँ ६ भागों में विभक्त हो जाती हैं। उसकी रश्मिएँ–प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उत्तरा, ऊर्ध्वा, अधरा–इन ६ स्वरूपों में परिणत हो जाती हैं। प्रातःकाल ३ बजे से ९ बजे तक इसकी प्राची रश्मियों की सत्ता रहती है। इस समय यह इन रश्मियों से जड़चेतनात्मक प्राणियों को अपने में बद्ध रखता है। ९ से ३ बजे तक दक्षिण रश्मियों की सत्ता रहती है। इतने समय तक इन रश्मियों से प्राणों को खैंचा करता है। ३ बजे से रात्रि के ९ बजे तक पश्चिमा रश्मियों की सत्ता रहती हैं–इस समय इनसे प्राणियों के प्राणों का हरण किया करता है। रात्रि के ९ बजे से ३ बजे तक उत्तरा रश्मियों की सत्ता रहती है। इस समय इनके द्वारा प्राणों को लिया करता है। इस प्रकार अहोरात्र में ६-६-६-६ विभाग में विभक्त चारों रश्मियों से चारों ओर के प्राण लिया करता है। बाकी बचता है–मध्य का विषुवद्वृत्त। इस पर सूर्य्य स्वयं स्थिर है। इसके उपरिभाग की रश्मिएँ ऊर्ध्वा हैं। अधोभाग की अधरा हैं। इन पर रहकर सर्वात्मना सर्वरूप से प्राण लिया करता है। प्रातःकाल का सौरप्राण ब्रह्मवीर्यप्रधान है। मध्याह्न का क्षत्रवीर्य्यप्रधान है। सायंकाल का विड्वीर्यप्रधान है। रात्रि का आसुरवीर्य्यप्रधान है। प्रातः से सायं तक सौर प्राण रयिसोम पर सवार रहता है। रात्रि में रयिसोम इस पर सवार है। दिन में सौर प्राण उल्बण है, अतः इतने समय तक प्रकाश है। रात्रि में सोमरूप शुक्र इस पर सवार है, अतः रात्रि में कृष्णसोम का राज्य है, अतएव रात्रि में अन्धकार है। दिन में अग्नि आधेय है–सोम आधार है। रात्रि में सोम आधेय है, अग्नि आधार है–यही प्रजनन का स्वरूप है–जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। अभी केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि इस सूर्य्य ने अपने प्राणों से सबके प्राणों को अपने में बद्ध कर रखा है। जैसे पृथिवी के घूमने से सौर प्राण दिशाओं में विभक्त है, एवमेव पृथिवी में रहने वाली प्रजाओं के प्राण भी इस पार्थिव परिभ्रमण के कारण दिशाओं में विभक्त हैं। बस, तत्तद् दिशाओं में विभक्त सौर प्राण तत्तद् दिशाओं में विभक्त प्रजाओं के प्राणों को अपने तत्तत् प्राणों से आकर्षित किए रहता है। यह सारे प्राणों को लेता है, अतएव **'आदत्ते सर्वान् प्राणान् रश्मिषु'**– इस व्युत्पत्ति से इस विश्वरूप को हम अवश्य ही आदित्य कहने के लिए तय्यार हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते" ।।६।।

वह समष्टि और व्यष्टिरूप से उभयथा प्राणों को अपने में प्रतिष्ठित रखता है। व्यष्टिरूप से–उसने दिग्भेद से सारे प्राणों को अपनी रश्मियों में प्रतिष्ठित कर रखा है–इस अभिप्राय से तो **'प्राचीं' 'यद्दक्षिणां'**–इत्यादि कहा है एवं समष्टिरूप से सर्वात्मना वह अपनी सहस्ररश्मियों से सबके प्राणों पर व्याप्त है। इस अभिप्राय से–**'यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते'**–यह कहा है।

——※——

सर्वव्यापक यह आदित्यप्राण वैश्वानररूप में परिणत होकर ही प्रजा के प्राणों का निग्रहानुग्रह करने में समर्थ होता है। वैश्वानर पृथक् वस्तु है, आदित्य पृथक् वस्तु है। सूर्य्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष तीनों के अग्नि से पैदा होने वाला यह वैश्वानर पृथिवीपृष्ठ से सूर्य्य तक व्याप्त रहता है, अतएव इसके लिए **'वैश्वानरो यतते सूर्येण'**[1] **'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्'**[2]–इत्यादि कहा जाता है। यद्यपि **'स यः स वैश्वानरः–असौ स आदित्यः'**[3]–इत्यादिरूप से आदित्य को वैश्वानर बतलाया जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वैश्वानर का उपादान आदित्य है–इस अभिप्राय से वैश्वानर को **'आदित्य'** कह दिया है। वैश्वानर आदित्य से भिन्न आदित्य, वायु, अग्नि–तीनों नरों से उत्पन्न होने वाला है–जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

"स यः स वैश्वानरः। इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं-अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं-वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं-आदित्यो नरः" ।।[4]

तीन नराग्नियों के मेल से उत्पन्न होने के कारण ही तो इसका नाम **'वैश्वानर'** है। इसमें पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य तीनों अग्नि हैं। इसीलिए इसके लिए–**'वैश्वानरो वै सर्वे अग्नयः'**[5]–यह कहा जाता है। भूतसर्ग चौदह प्रकार का है। ५ तिर्यक् सर्ग हैं, १ मनुष्य सर्ग है, आठ (८) देवसर्ग हैं। देवस्वर्ग दिव्यस्थानीय हैं। मानुषसर्ग आन्तरिक्ष्य है। तिर्यक्सर्ग पार्थिव है। तीनों लोकों की प्रजा पर त्रैलोक्यव्यापक वैश्वानर प्राण की सत्ता है। द्युलोकस्थ केवल आदित्यप्राण तीनों के प्राणों का निग्रह करने में असमर्थ हैं। वह पृथिवी अन्तरिक्षरूप में परिणत होता हुआ संवत्सर-स्वरूप में परिणत होता है। संवत्सर बनकर उषा में रेतः सिञ्चन करके वैश्वानररूप में परिणत होकर तीनों प्रजाओं का शासन

१–ऋग्वेद मं० १।६८।१।
२–यास्कनिरुक्त-दैवतकाण्ड ७।२३।५।
३–शत० ब्रा० ६।३।१।२५।
४–शत० ब्रा० ६।३।१।३।
५–शत० ब्रा० ६।२।१।३५।

करने में समर्थ होता है। जैसा कि अनुपद में ही बतलाए जाने वाले संवत्सरस्वरूप में स्पष्ट हो जायगा। वैश्वानर अग्नि ही त्रैलोक्यव्यापक होने से विश्वरूप हो सकता है। यही लोकत्रय का, तद्गत प्रजा का निग्रहानुग्रह करने में समर्थ हो सकता है। आदित्य ही प्रजाओं के प्राण को अपनी रश्मियों में प्रतिष्ठित करता है-यह सच है। परन्तु ऋषि कहते हैं-आदित्य (सूर्य्य) साक्षात्‌रूप से ऐसा करने में असमर्थ होता हुआ अपने को संवत्सर के द्वारा विश्वरूप वैश्वानराग्निस्वरूप में परिणत करता हुआ विश्वरूप यज्ञ बन रहा है। इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं—

"स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्" ॥७॥

— —※— —

इसी अर्थ का निम्नलिखित ऋचा से स्पष्टीकरण हुआ है—

"विश्वरूपं, हरिणं, जातवेदसं, परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः-प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

इस मन्त्र का अन्वय-'एतं सूर्यं' एतादृशं विदुः यः'-इत्यादि पदों का अध्याहार कर के निम्नलिखित रूप से करना पड़ेगा—

विश्वरूपं, हरिणं, जातवेदसं, ज्योतिः (अनुः) तपन्तं, एकं, परायणं, (विद्वांसः-एतं सूर्य्यं-एतादृशं विदुः)। (एतद्दृश्यश्च) एष सूर्य्यः-सहस्ररश्मिभिः, शतधा, आवर्त्तमानः, प्रजानां प्राणः (सन्) उदयति" ॥

ध्यान रहे-यह मन्त्र शुद्ध सूर्य्य का वर्णन नहीं करता, अपि तु, वैश्वानरात्मक सूर्य्य का वर्णन करता है-जैसा कि तत्तद् विशेषणों से स्पष्ट हो जाता है।

(१)-यह वैश्वानरात्मक सूर्य्य विश्वरूप है। त्रैलोक्यव्यापक है। सूर्य्य से पृथिवी बनी है। इसी से अन्तरिक्ष बना है, इसी से द्युलोक बना। तीनों लोक सूर्य्य के चित्याग्निभाग से बने हैं एवं तीनों लोकों के अग्नि-वायु-इन्द्र तीन नर चितेनिधेयभाग से सम्बन्ध रखते हैं। तीनों विश्व भी यही हैं। तीनों विश्वों के तीन नर भी यही हैं, अतः हम अवश्य ही इसे **'विश्वरूप'** कहने के लिए तय्यार हैं। अपि च-आप हरित, नील, पीतादि जितने रंग देखते हैं-सब सूर्य्य के इन्द्रभाग की महिमा है। त्वष्टा नाम का आदित्यप्राण आकाररूप का अधिष्ठाता है एवं **'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'**[१]-**'इन्द्रो रूपाणि करोकुवचरत्'**-के अनुसार इन्द्र नाम का सौर आदित्यभाग वर्णरूप का अधिष्ठाता है। सूर्य्य की प्रतिरश्मि में सात सात रंग हैं। सात सात रूप हैं। सारे रूप (विश्वरूप) इन्हीं सातों की अवान्तर अवस्थाएँ हैं।

१-ऋग्वेद मं० ३।५३।८।

चूंकि यह सौर इन्द्रभाग ही विश्वरूप (सर्ववर्णरूप) का जनक है, इसलिए भी हम इसे **'विश्वरूप'** कहने के लिए तय्यार हैं।

(२)–वैश्वानरात्मक यह सूर्य्य प्रजाओं के प्राणों का निरन्तर हरण किया करता है। रश्मियों द्वारा तीनों लोकों के रस को लिया करता है। वर्षा के पानी को खैंच लेना–इन्हीं सौर-रश्मियों का काम है। जो यह सूर्य्य आत्मा देता है–वही हमारे आत्मा को खैंच भी लेता है। इसीलिए तो **'तदेव मृत्युः–असौ स आदित्यः'**–इस रूप से मृत्यु कहा जाता है। आत्मसत्ता रखने के समय यह अमृत है, आत्मसत्ता को उच्छिन्न करने के समय वही मृत्यु बन जाता है। अमृत-मृत्यु दोनों इसके स्वरूप हैं। इसीलिए तो इसके लिए–**'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च'**[1]–यह कहा जाता है। इस प्रकार सब तरह से इसकी हरण-शीलता स्पष्ट हो जाती है, अतएव हम अवश्य ही इसे 'हरिण (सर्वरसापहर्त्ता-आत्मापहर्त्ता) कह सकते हैं'।

(३)–हम अच्छा, बुरा जो कुछ जानते हैं–वह इसी की महिमा है। वैश्वानरात्मक सूर्य्य ही ज्ञान का जनक है। यही घोरनिद्रा में निमग्न मनुष्यों को प्रातःकाल में उदित होता हुआ अपनी प्राचीरश्मियों से हमें जगा देता है। प्राणियों में जो ज्ञानशक्ति देखी जाती है–जानने का माद्दा पाया जाता है–वह इसी सूर्य्य की महिमा है। १२ आदित्यों में एक सविता नाम का आदित्य है। यह सवितात्मक आदित्य ही बुद्धि में प्रेरणा करता है। सूर्य्यसत्ता में ही हम पदार्थों को जानने में समर्थ होते हैं। **'जातो वेदो (ज्ञानं) यस्मात्'**–इस व्युत्पत्ति से सौर सावित्रप्राण ही जातवेदा है। इस जातवेदा सावित्र सूर्य्य की जो ज्ञानज्योति है–वही–**'जातवेदसं'** (**जातवेदसः–इदं ज्योतिः-जातवेदसम्'**) है। **'जातवेदसं'** का **'ज्योतिर्विषयिणम्'**–यही अर्थ है।

(४)–वही सूर्य्य त्रैलोक्य का परायण है। पार्थिव प्रजा का अन्तरिक्ष अयन है–द्युलोक अयन है, परन्तु सूर्य्य परायण है–अन्तिम गति है। जब तक आत्मा आत्मा है–तब तक इसकी परप्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। इसके बाहर गए बाद आत्मा आत्मा नहीं रहता–परमात्मा बन जाता है। आत्मदशा में तो आत्मा का और त्रैलोक्य का परायण यही है। सारा त्रैलोक्य सूर्य्य के बृहत्साम में प्रतिष्ठित है, अतएव हम इसको अवश्य ही–**'परायण'** कहने के लिए तय्यार हैं।

(५)–यह (सूर्य्य) इन्द्र के कारण ज्योतिर्म्मय है। अग्नि के कारण तापधर्म्मा है। सूर्य्य में ताप भी है–प्रकाश भी है। यह तापधर्म्म ही हमें इसके लिए बाध्य करता है कि हम इस सूर्य्य को वैश्वानरात्मक मानें। कारण इसका यही है कि सौर सावित्राग्नि, पार्थिव गायत्राग्नि, आन्तरिक्ष्याग्नि–तीनों प्राणाग्नि हैं। तीनों नीरूप हैं–रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादिशून्य हैं। इन तीनों में ही ताप नहीं है। इन तीनों के घर्षण से जो त्रैलोक्यव्यापक नया वैश्वानराग्नि उत्पन्न होता है–वही तापधर्म्मा है। सूर्य्याग्नि में ताप नहीं है–वैश्वानरयुक्त सूर्य्य में ताप है। ताप वैश्वानराग्नि का भाग है। प्रकाश इन्द्र का भाग है। यह ताप-

---

१–ऋग्वेद मं० १।३५।२।

धर्म्म ज्योति के आधार पर प्रतिष्ठित है। ज्योति इन्द्र का असली भाग है–साक्षात् सूर्य्य है। यदि यह न हो तो–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ–न हों। तीनों न हों तो तापधर्म्मा वैश्वानर उत्पन्न न हो। वैश्वानरात्मक सूर्य्य तप रहा है, परन्तु–**'ज्योतिरनुलक्ष्य'**० ज्योतिर्भागमाश्रित्य अर्थात् ज्योति को लक्ष्य बनाकर–ज्योति का आश्रय लेकर। वैश्वानर सूर्य्य के आधार से ही उत्पन्न होता है–उसी पर प्रतिष्ठित रहता है–यही निष्कर्ष है।

यह ज्योति और तापमय वैश्वानरात्मक सूर्य्य सारी त्रिलोकी का एक अधिपति है। पृथिवी, चन्द्रमा आदि आदि जो परज्योतिपिण्ड हैं–उनमें आधे भाग में ज्योतिर्मय इन्द्र की सत्ता रहती है, आधे भाग में तमोमय वृत्रासुर की सत्ता रहती है। वहाँ देवासुर (ज्योतिस्तम) दो अधिपति हैं, परन्तु स्वज्योतिर्मय सूर्य्य असपत्न है–एकल्ला शासक है। तमोमय आसुर प्राण का सर्वथा अभाव है। इसी अभिप्राय से तो स्वज्योतिर्म्मय इस सूर्य्य के लिए—

"न त्वं युयत्से कतमश्चनाह्"।

—यह कहा जाता है। यहाँ **'ज्योतिरेकम्'** है। अन्यत्र परज्योतिर्मय पिण्डों में ज्योतिः सद्वितीयम् है। अथवा–**'एकम्'** का मुख्यपरक समझना चाहिए। सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, तारक, विद्युत् भेद से ज्योति कुल पाँच प्रकार की हैं। इनमें से आगे की चारों ज्योतियों की प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूपा यह पाँचवीं मुख्य सूर्य्यज्योति ही है। बस, वैज्ञानिक लोग वैश्वानरात्मक, अतएव विश्वरूपप्राणप्रदाता सूर्य्य को पूर्वोक्त धर्मों से युक्त समझते हैं। इस सूर्य्य में कुल हजार रश्मिएँ हैं। ३६० दिन की एक परिक्रमा में (संवत्सर परिभ्रमण में) हमें इसकी हजारों रश्मिएँ मिल जाती हैं। ३३३ रश्मिएँ पार्थिव वासवाग्नि में विभक्त है, ३३३ रश्मिएँ आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि में विभक्त हैं एवं ३३३ ही रश्मिएँ दिव्य आदित्यों में विभक्त हैं। एक सर्वरूपा कामगवी रश्मि है। इन हजारों का एक संवत्सर में हम भोग करते हैं। वसन्त से प्रारम्भ कर शिशिर तक हजारों रश्मिप्राणों को हम अपना अन्न बना डालते हैं। वसन्त-ग्रीष्म प्रातः सवन है–इसमें वासव ३३३ रश्मियों का सम्बन्ध होता है। वर्षा-शरद् माध्यन्दिनसवन है–इसमें रौद्र ३३३ रश्मियों का सम्बन्ध होता है। हेमन्त-शिशिर सायंसवन है–इसमें ३३३ आदित्यों का सम्बन्ध होता है। एक रश्मि सब पर व्याप्तसी रहती है। इस प्रकार संवत्सरयज्ञ से उत्पन्न होने वाले हम प्राणिलोग सवनत्रय में विभक्त संवत्सर की हजार रश्मियों को ले लेते हैं। ऐसे १०० संवत्सर हमारे अन्न हैं। सूर्य्य जब १०० बार परिक्रमा लगा लेता है तो हमारी आयु समाप्त हो जाती है। इसी विज्ञान के आधार पर **'शतायुर्वै पुरुषः'**[१]–यह कहा जाता है। सूर्य्य शतधा आवर्त्तमान होकर प्रजाओं का प्राण बनता हुआ उदित होता है–इसका तात्पर्य्य यही है कि वह १०० परिक्रमा तक प्रत्येक को अपना प्राण दिया करता है। अनन्तर उसका प्राणद्वार उसके लिए बन्द हो जाता है। प्राणान्न के बन्द होते ही–आत्मा उत्क्रान्त हो जाता है। इस प्रकार १०० वर्ष तक प्रजाओं का प्राण द्वारा विधरण करता हुआ–वैश्वानररूप में परिणत होता हुआ यह विश्वरूप अग्नीषोमापरपर्य्यायिक-रयिप्राणात्मक प्राजापत्ययज्ञ सर्वत्रव्याप्त हो रहा है।

१–कौ० ब्रा० १८।१०।

इस पारमेष्ठ्य विश्वरूप को आदित्यात्मक बतलाया गया है। ऋषि को बतलाना है—पारमेष्ठ्य यज्ञ का स्वरूप, परन्तु आदित्यरूप से वे इसका निरूपण करते हैं। आदित्य साक्षात् परमेष्ठी है। जैसा कि चयनयज्ञ में स्पष्ट किया गया है। वहाँ पर आदित्यात्मिका प्राजापत्या चिति को परमेष्ठिरूपा बतलाया गया है ॥८॥

॥ इति प्रथमो विश्वरूपयज्ञः—आदित्ययज्ञः परमेष्ठियज्ञो वा ॥

॥ १ ॥

——❀——

प्रजाकाम प्रजापति तप-श्रम के द्वारा रयि-प्राण उत्पन्न करता है। वही रयिप्राणात्मक प्रजापति (इसका अंगिराभाग) सूर्य्यरूप में परिणत होकर त्रैलोक्यजन्मा वैश्वानर से युक्त होकर सारे त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है। यह वैश्वानरात्मक सूर्य्य संवत्सरस्वरूप में परिणत होता है। संवत्सर सूर्य्यरूप है। यह उस आदित्यात्मक परमेष्ठी का दूसरा अवतार है। संवत्सर के आगे मासप्रजापति है। मासप्रजापति के आगे अहोरात्र-प्रजापति है। अहोरात्र के उदर में अन्न-प्रजापति है। इस प्रकार पूर्वकथनानुसार रयिप्राणात्मक उस एक प्रजापति के—१—विश्वरूप (परमेष्ठी), २—संवत्सर, ३—मास, ४—अहोरात्र, ५—अन्न—ये पाँच स्वरूप हो जाते है—

१—विश्वरूपयज्ञः—स्वाराज्ययज्ञः——परमेष्ठी - (सर्वात्मकः)
२—संवत्सरयज्ञः——सोमयज्ञः———सूर्य्यः——(संवत्सरात्मकः)—३६०
३—मासयज्ञः———दर्शपूर्णमासयज्ञः—चन्द्रमाः——(मासात्मकः)　—३०
४—अहोरात्रयज्ञः——अग्निहोत्रयज्ञः——पृथिवी———(अहोरात्रात्मकः)—१
५—अन्नयज्ञः———पाकयज्ञः————पशुः———(अन्नात्मकः)　—×

} **पाङ्क्तो वै यज्ञः**

पाँचों यज्ञों में से ६-७-८ वें—इन तीन मन्त्रों से विश्वरूपयज्ञ का स्वरूप बतला दिया गया, अब क्रमप्राप्त संवत्सरयज्ञ का स्वरूप बतलाते हैं। संवत्सर पार्थिव, सौर भेद से दो प्रकार का है। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में पृथिवी, सूर्य्य—दोनों के साथ संवत्सर का सम्बन्ध बतलाया जाता है, परन्तु प्रधान रूप से सूर्य्य के साथ ही संवत्सर का सम्बन्ध बतलाया जाता है। **'स यः स संवत्सरोऽसौ स आदित्यः'**[१] **'एष वै संवत्सरो य एष तपति'**[२]—इत्यादि श्रुतिवचन संवत्सर को आदित्यात्मक ही बतलाते हैं। इस संवत्सर का स्वरूप चूंकि पृथिवीपरिभ्रमण से बनता है—इसलिए संवत्सर का पृथिवी के साथ भी

१—शत ब्रा० १०।२।४।३।　　२—शत० ब्रा० १४।१।१।२७।

सम्बन्ध बतला दिया जाता है। वस्तुतः संवत्सर है–सूर्य्य की वस्तु। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य स्थिर माना जाता है। दृश्यमण्डलानुसार अचला पृथिवी **'चला'** मानी जाती है। सूर्य्य को केन्द्र में रखकर पृथिवी जिस नियतमार्ग पर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है–वह मार्ग **'क्रान्तिवृत्त'** नाम से प्रसिद्ध है। खगोल के ३६० अंशों में से मध्य के ४८ अंशों के परिसर में यह वृत्त है। खगोलीय मध्यमवृत्त **'विषुवद्वृत्त'** कहलाता है। यही बृहती छन्द है। इस विषुवत् के दक्षिणोत्तर में १२-८-४ क्रम से क्रान्तिवृत्त को काटते हुए तीन वृत्त दक्षिणभाग में बनते हैं, तीन ही उत्तर में बनते हैं। इस प्रकार विषुवत् को मिलाकर कुल सात वृत्त हो जाते हैं। इन सातों वृत्तों को **'पूर्वापरवृत्त'-'अहोरात्रवृत्त'** आदि नामों से पुकारा जाता है। दक्षिण से प्रारम्भ कर ये ही सातों अहोरात्रवृत्त क्रमशः–गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। क्रान्तिवृत्तरूप एक पहिया है। सौर हिरण्मय प्राण सुनहरी रथ है। ये सात छन्द सात घोड़े हैं। यह सूर्य्य के रथ का संक्षिप्त परिचय है–जो कि वैज्ञानिक भाव के अनुसार वस्तुतः पृथिवी का रथ है। इन सातों में जो सबके बीच का बृहती छन्द (विषुवत्) है–**'सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'**–के अनुसार इसके ऊपर भगवान् सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं। इनसे २४ अंश दक्षिण, २४ अंश उत्तर–इतना ४८ अंश का जो भाग है–वही संवत्सर है। यह संवत्सर सौराग्निमय है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस संवत्सर को **'सुपर्ण'** नाम से पुकारा है–जैसा कि निम्नलिखित वाजसनेय श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

"अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः। तस्य यान् पुरस्तात्–विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्"[1]।

बृहती छन्द के ऊपर प्रतिष्ठित सूर्य्य ही इस संवत्सर-सुपर्ण का आत्मा है। दक्षिणभाग दक्षिणपक्ष है, उत्तरभाग उत्तरपक्ष है। इस सुपर्णसंवत्सर का स्वरूप बृहतीमध्यस्थ सूर्य्य से निष्पन्न होता है। यदि सूर्य्य न होता तो संवत्सर सर्वथा अनुपपन्न था। सूर्य्य स्वयं बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है, अतएव–**'बृहती हि संवत्सरः'**[2]–यह कहा जाता है। पृथिवी-परिभ्रमणवृत्त के मध्य का सारा अग्निमण्डल **'संवत्सर'** है–यही निष्कर्ष है। अब यह अग्निमण्डल **'संवत्सर'** नाम से क्यों व्यवहृत होता है? एकमात्र यह प्रश्न बाकी बच जाता है।

मान लीजिए—अभी न तो संवत्सर पैदा हुआ है एवं न संवत्सर का जनक सूर्य्य पैदा हुआ है। इस समय केवल है तो आपोमय परमेष्ठी प्रजापति। सर्वत्र पानी भरा हुआ है। उसके केन्द्र में वही हमारा रयिप्राणात्मक परमेष्ठी प्रजापति प्रतिष्ठित है। इस परमेष्ठी प्रजापति के केन्द्र में उसी अंगिरा भाग से **'हिरण्मयमण्डल'** पैदा होता है। अंगिराप्राण सिमट सिमट कर मण्डलाकार में परिणत हो जाता है। इसी हिरण्मयमण्डल के लिए–**'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्'**[3]–कहा जाता है। यह

१–शत० ब्रा० १२।२।३।७।
२–शत० ब्रा० ६।४।२।१०।
३–मनुस्मृति १।९।

हिरण्मयाग्नि ही एक संवत्सर में (संवत्सरोपलक्षितकाल में) पुरुषरूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् मण्डलाग्निपरमाणु केन्द्र में जमा होते जाते हैं। होते होते जब वे परमघनता को प्राप्त हो जाते हैं तो उनका एक पिण्ड बन जाता है। यही हिरण्मयमण्डलस्थ केन्द्रस्थ आग्नेय पुरुष है। यही पुरुष सूर्य्यं नाम धारण करता है। आपोमय परमेष्ठीमण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने के कारण ही यह पुरुष 'सूर्य्यंनारायण' नाम से प्रसिद्ध है। यही उस आपोमय प्रजापति का दूसरा अवतार है। इस सूर्य्यं के चारों ओर हिरण्मयमण्डल है। इसके बाहर आपोमय परमेष्ठी है। परमेष्ठी अथर्ववेद है। मण्डलोपहित सूर्य्यं त्रयीवेद है। यह त्रयीमय सूर्य्यं अंगिराभृग्वात्मक आपोमय परमेष्ठी के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, अतएव इसके लिए—

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः" ॥[1]

—यह कहा जाता है। सूर्य्यंपिण्ड ऋग्वेद है। हिरण्मयमण्डल सामवेद है। सूर्य्यंपिण्ड का केन्द्राग्नि यजुरग्नि है–यही पुरुष है। इसी प्रजापति से आगे की सारी सृष्टियाँ होने वाली हैं। इस सूर्य्य से पूर्व में बतलाए गए 'ग्रहोपग्रहोत्पत्ति' प्रकरण के अनुसार क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीन लोक उत्पन्न होते हैं एवं तीनों लोकों के अग्नि, वायु, आदित्य–तीन देवता पैदा होते हैं। सूर्य्य अग्निमय है। यह अग्नि चित्य-चितेनिधेय भाग से दो प्रकार का है। इसमें चित्यभाग से तो पृथिवी-अन्तरिक्ष द्यौ, तीन लोक बनते हैं एवं चितेनिधेयभाग से अग्नि-वायु-इन्द्र–तीन देवता उत्पन्न होते हैं। इन ६ओं को उत्पन्न करने के कारण वह सूर्य्यप्रजापति विस्रस्त हो जाता है। उतना भाग निकलकर इन देवादिस्वरूपों में परिणत हो जाता है। सौर प्रजापति में अवाक्-पराक् भेद से दो प्राण हैं। अवाक् प्राण रयि है, पराक् प्राण प्राण है। रयि पानी है, प्राण अग्नि है। इसमें अग्निरूप प्राणभाग ज्योतिर्म्मय है। इससे तीन ज्योतिएँ (अग्नि, वायु, आदित्य) पैदा होती हैं। याज्ञिक परिभाषा में इन्हीं तीनों को विश्वज्योति-इष्टका कहा जाता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ विश्व है। तीनों देवता इन तीनों की प्रकाशिका है। बाकी बचता है–आपोरूप अर्वाङ्प्राण। यह तमोमय है। इससे आसुर प्राणदेवता उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार–'**देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः**'[2]–इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार उस प्रजापति से ज्योतिर्म्मय देवता, तमोमय असुर–दोनों प्रजा उत्पन्न होती हैं। देवताओं का प्राणभाग से सम्बन्ध है, असुरों का रयिभाग से सम्बन्ध है। इन्हीं दोनों के मिथुन से आगे की सारी सृष्टियाँ होती हैं। इसी अभिप्राय से–"**देवेभ्यस्तु जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः**"[3]–यह कहा जाता है। '**देवेभ्यस्तु**' के तुकार को–'**असुरेभ्यः**' का उपलक्षण समझना चाहिए। ज्योतिर्भागमयी देवतात्रयी–'**अहः**' है, तमोभागमयी आसुरप्राणसमष्टि रात्रि है। दोनों की समष्टि संवत्सर है। प्रजापति ने ज्योति-तम क्या पैदा किया अहोरात्रात्मक (संवत्सर) पैदा किया। एक प्रकार से प्रजापति का सारा भाग इस संवत्सर-निर्म्माण में

१–गोपथ ब्रा० पूर्व १।१।३६। २–शत० ब्रा० १।७।२।२२।
३–मनुस्मृति ३।२०१।

सर्व हो गया, अतएव वैज्ञानिकों ने इस मण्डल का–'सर्वं वा अत्सारिषम्'–इस व्युत्पत्ति से संवत्सर नाम रख दिया। संवत्सराग्निमण्डल सौर अग्निमय है, अतएव उसे हम सर्वभाग के विस्रस्त हो जाने से अवश्यमेव 'संवत्सर' कहने के लिए तय्यार हैं। इसी संवत्सर-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय । दिवेवास तदहरकुरुत । अथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम-इवास तां रात्रिमकुरुत तेऽअहोरात्रे । स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत् संवत्सर इति" ॥[1]

यह हुई संवत्सर की एक उपपत्ति। दूसरे प्रकार से भी इसका निर्वचन किया जाता है। हम बतला आए हैं कि पृथिवी ही संवत्सर की सीमा बनाती है। यह पृथिवी प्रतिबिन्दु से वक्रित होती हुई आगे चलती है। सूर्य्य में इन्द्र है, विष्णु है। इन्द्र का धर्म्म विक्षेपण है, विसर्ग है। विष्णु का धर्म्म आदान है। सूर्य्यगत इन्द्र पृथिवी को धक्का देकर बाहर फेंक रहा है, परन्तु साथ ही में विष्णु अपनी आदानशक्ति से उसे अपनी ओर खेंच रहा है। ये दोनों बल विज्ञानभाषा में–केन्द्रापसारिणी शक्ति, 'केन्द्राकर्षिणी शक्ति' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्र निरन्तर उसे केन्द्र से हटाता है, विष्णु निरन्तर इसे अपने (सूर्य्य के) केन्द्र में आकर्षित रखता है। इन्द्र के धक्के से पृथिवी बिलकुल सीधी जाना चाहती है, परन्तु उसी क्षण विष्णु उसे मोड़कर सूर्य्याभिमुख कर लेते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण इन्द्र के धक्के से अपना सीधा रुख करता हुआ भूपिण्ड विष्णु की केन्द्राकर्षिणी शक्ति के प्रभाव से बिन्दु बिन्दु से वक्रित हो जाता है। बस, इसी वक्रता के कारण पृथिवी अपने परिक्रमण को गोल बना डालती है। गोल वस्तु वही होती है–जिसकी प्रतिबिन्दु वक्रित हो। पृथिवी कुटिल होती हुई आगे चलती है–दूसरे शब्दों में सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, अतएव–'त्सरन् सन् गच्छति'–इस व्युत्पत्ति से–इस भूपिण्ड को हम त्सरवत्सर कहने के लिए तय्यार हैं। पृथिवीपरिभ्रमण सौर अग्निमण्डल बनाता है। मण्डल त्सरवत्सर होता है। इसलिए भी हम इस सौर अग्निमण्डल को **'संवत्सर'** कहने के लिए तय्यार हैं।

इस संवत्सर प्रजापति को हमने पूर्व में सुपर्ण बतलाया है एवं दक्षिण, उत्तर, विषुव भेद से इसके दक्षिण-पक्ष, उत्तरपक्ष, मध्यात्मा भेद से इसके तीन विभाग बतलाए हैं। यद्यपि हमने संवत्सर को अग्निमय ही कहा है परन्तु वस्तुतः संवत्सर अग्नीषोमात्मक है। इसी अग्नीषोमात्मक संवत्सरप्रजापति से सारी प्रजाओं का निर्म्माण होता है, अतएव इसके लिए–**'संवत्सरो।वै यज्ञः प्रजापतिः'**[2]–यह कहा जाता है। इस संवत्सर-प्रजापति के वही उत्तर-दक्षिण पक्ष उत्तरायण-दक्षिणायन नाम से प्रसिद्ध हैं। उत्तरगोल-दक्षिणगोल भिन्न वस्तु हैं, उत्तरायण-दक्षिणायन भिन्न पदार्थ हैं। उत्तरगोल में दक्षिणायन की सत्ता है, दक्षिणगोल में उत्तरायण की सत्ता है। पृथिवी का उत्तरायणकाल दक्षिणायनकाल है, पृथिवी का दक्षिणायनकाल उत्तरायण-

१–शत० ब्रा० ११।१।६।११–१२।   २–शत० ब्रा० ११।१।१।१।

काल है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर २४-२४ अंशवाले ४८ अंशात्मक क्रान्तिवृत्त पर घूमती है। सूर्य्य मध्य में है। पृथिवी २४ अंश तक नीचे जाती है, २४ अंश तक ऊपर जाती है। सूर्य्य और पृथिवी की दूरी का नाम 'क्रान्ति' है। पृथिवी परिभ्रमणवृत्त दो समयों को छोडकर सूर्य्य से सदा दूर रहता है, अतएव यह वृत्त 'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरभाग की अन्तिम दूरी २४ अंश है, इधर यही चौबीसवां अंश दक्षिणभाग की परमावधि है। दूसरे शब्दों में ४८वां अंश परम दूरी है, अतएव इसे 'परमक्रान्ति' कहा जाता है। वसन्त ऋतु में पृथिवी दक्षिणभाग की परमक्रान्ति पर है। इस समय इसकी सत्ता गायत्री छन्द पर है। यहां से पृथिवी ऊपर चलती है। आगे बढती है। बढते-बढते एक दिन विषुवद् पर आ जाती है। इस दिन पृथिवी सूर्य्य के सम धरातल पर आ जाती है। आज इसकी वह दूरी हट जाती है। आज क्रान्ति का पतन है, अतएव इसे 'संपातबिन्दु' या 'क्रान्तिपात' कहा जाता है। इस दिन अहोरात्र समान होते हैं। इसी अभिप्राय से—'समरात्रिंदिवे काले विषुवद् विषुवं च तत्'—इत्यादि कहा जाता है। अब पृथिवी और भी आगे बढती है। बढते-बढते जब यह ४८ वें अंश पर (जगती छन्द पर) पहुँच जाती है तो वहां से वापस नीचे की ओर लौट पड़ती है। लौटते-लौटते फिर विषुव पर आती है। इस दिन फिर क्रान्ति का पतन है। इस दिन भी अहोरात्र समान होते हैं। इन दो समयों को छोडकर पृथिवी सदा सूर्य्य से दूर रहती है। ६ महिने पृथिवी सूर्य्य के दक्षिणभाग में रहती है, ६ महिने पृथिवी सूर्य्यात्मक उत्तरभाग में रहती है। वसन्त ग्रीष्म, वर्षा—इन तीन ऋतुओं में अग्नि की सत्ता रहती है एवं शरत्, हेमन्त, शिशिर—इन तीन ऋतुओं में सोम की सत्ता रहती है। वसन्तादि तीनों ऋतुओं का उत्तरायण से सम्बन्ध है एवं शरदादि तीनों का दक्षिणायन से सम्बन्ध है। उत्तरगोल-दक्षिणगोल—दोनों के मध्य में एक याम्योत्तररेखा खैंच दीजिए। बस, इस याम्योत्तररेखा का जो पूर्वभाग है—वह उत्तरायण है, पश्चिमभाग दक्षिणायन है। गायत्री छन्द दक्षिणगोल के ठीक मध्य में है एवं जगतीछन्द उत्तरगोल के ठीक मध्य में है। वह याम्योत्तर रेखा इन दोनों को काटती हुई बनेगी। सुतरां उत्तरगोल में दक्षिणायन की एवं दक्षिणगोल में उत्तरायण की सत्तासिद्ध हो जाती है। मान लीजिए—आज पृथिवी उत्तरगोल के जगतीछन्द पर सबसे ऊँचे स्थान पर (उत्तर की परमक्रान्ति पर) है। पृथिवी के ऊँचे आ जाने से आज दृश्यमण्डल की अपेक्षा से सूर्य्य बिलकुल नीचे चला गया है। यह समय पृथिवी के उत्तरायण की परमक्रान्ति है, सूर्य्य के दक्षिणायन की परमक्रान्ति है। अब यहां से पृथिवी नीचे झुकती है। बस, इसके नीचे झुकते ही सूर्य्य ऊँचा आने लगता है। एक बात और। इस स्थिति में सूर्य्य गायत्री छन्द पर है, पृथिवी जगती पर है—यह बतलाया जा चुका है। हम पृथिवी के उपरिभाग में रहते हैं, अतः इस समय सौर प्रकाश बहुत कम मात्रा में हमारे पास आता है। इस क्रान्ति पर दिन सबसे छोटा होता है, रात सबसे बडी होती है। अब यहां से पृथिवी दक्षिण की ओर झुकती है। यही पृथिवी का दक्षिणायनकाल है। इसके दक्षिणायन होते ही गायत्री छन्द पर स्थित सूर्य्य का उत्तरायण होने लगता है। सूर्य्य ऊँचा होने लगता है। यहीं से दिन बडे होने लगते हैं। पृथिवी जब विषुव पर आ जाती है तो सूर्य्य भी ऊँचा आता-आता विषुव पर आ जाता है। होते होते जब पृथिवी दक्षिणायन की परमक्रान्ति पर पहुँच जाती है तो सूर्य्य उत्तरायण के परम क्रान्तिरूप जगती छन्द पर पहुँच जाता है। इस दिन अधःस्थित पृथिवी

पर सौर प्रकाश अधिक मात्रा से आता है, अतएव इस दिन-दिन सबसे बड़ा एवं रात्रि सबसे छोटी होती है। यहाँ से सूर्य्य नीचे गिरता है, पृथिवी ऊपर चढ़ती है। यही सूर्य्य का दक्षिणायनकाल है। इस प्रकार गायत्री-जगती पर दिन-रात छोटे बडे होते हैं। विषुव पर समान होते हैं। पृथिवी जब जगती पर रहती है तो दिन सबसे छोटा होता है-यह बतलाया जा चुका है। २१ मार्च को, २३ सितम्बर को दिन रात समान होते हैं, क्योंकि इस समय पृथिवी विषुव पर रहती है एवं २२ जून को दिन सबसे बडा होता है, २२ दिसम्बर को रात सबसे बडी होती है। जब से दिन छोटे होने लगते हैं एवं रात्रि बडी होने लगती है, तबसे दिन की अल्पता की पराकाष्ठा तक सोम की सत्ता रहती है एवं जबसे दिन बडे होने लगते हैं-तब से प्रारम्भ कर दिन की बृहत्ता की पराकाष्ठा तक अग्नि की सत्ता है। भाद्रपद से फाल्गुन तक सोम की सत्ता है। इतने काल में शरत्, हेमन्त, शिशिर-तीन ऋतुओं का भोग होता है। 'कानजी कल में आये रात बडी दिन छोटे लाये'-इस सुप्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार भाद्रपद शुक्ला अष्टमी से वर्षा की समाप्ति एवं शरत् के प्रारम्भ से दिन छोटे और रात बडी होने लगती है। यह दक्षिणायनकाल है। इसमें सोम की सत्ता है एवं फाल्गुन से भाद्रपद तक अग्नि की सत्ता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा-तीनों आग्नेय ऋतु हैं। यही उत्तरायणकाल है। यह आग्नेय होने से देवमय है एवं शरत्, हेमन्त, शिशिर तीन सौम्य ऋतु हैं-यही पितर है।

यद्यपि पूर्वकथनानुसार लौकिक व्यवहार में ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं, परन्तु वास्तव में ऋतुएँ कुल पाँच ही हैं। क्योंकि संवत्सर यज्ञप्रजापति है एवं **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'**-के अनुसार यज्ञ पाङ्क्त (पंचावयव) होता है, अतः संवत्सरप्रजापति की अवयवरूप ऋतुएँ भी पाँच ही हो सकती हैं। वे पाँचों ऋतु वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त भेद से विभक्त हैं। **'हेमन्तशिशिरयोः समासेन'**-के अनुसार शिशिर का हेमन्त में ही अन्तर्भाव है। पाँचों ऋतु ७२-७२ दिन की हैं। यह ऋतुव्यवहार वैदिक है-अतिप्राचीन है-वास्तविक है, अतएव आज भी-**'पून्यूं पड़वा टाले तो दिन बहत्तर गाले'**-यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। ७२ दिन की एक एक ऋतु है। प्रत्येक में १६-४०-१६ भेद से प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन भेद से तीन तीन सवन होते हैं। पहले के १६ दिन ऋतु की बाल्यावस्था है, अन्त के १६ दिन वृद्धावस्था है। मध्य के ४० दिन युवावस्था है। इसमें पूर्णरूप से इस ऋतु का विकास रहता है। यही चालीसा ग्रामभाषा में-**'चिल्ला'** कहलाता है। चिल्ला चालीसा का ही अपभ्रंश है। शीतर्तु में सोम की प्रधानता के कारण जो अग्निपरमाणु शीर्ण हो गए थे-शिशिरभाव को प्राप्त हो गए थे-वे ही पुनः पदार्थों में बसने लगते हैं-वही पहला वसन्तकाल है। जब अतिशयरूप से अग्नि पदार्थों का ग्रहण कर लेता है तो-वसन्त ग्रीष्म में परिणत होता है एवं पराकाष्ठा पर पहुँचकर वही अग्नि-**'अग्नेरापः'**-इस सिद्धान्त के अनुसार पानी बनता हुआ वर्षा का रूप धारण कर लेता है। बस, इतना अग्निकाल है। यहाँ से अग्नि शीर्ण होने लगता है-सोम बढने लगता है-यही पहला **'शरत्काल'** है। अतिशयरूप से हीनता को प्राप्त होकर वह अग्न्युपलक्षिता ऋतु हेमन्त कहलाने लगती है। यही सोम काल है। वह अग्नीषोमात्मक संवत्सर प्रजापति-इन्हीं अग्नीषोममय पाँच ऋतुओं में परिणत होकर प्रजा का निर्म्माण करता है। प्रजा ऋतु पर ही (समय पर ही) उत्पन्न होती हैं। अग्नि ऋतु में सोम

नहीं है, सोम ऋतु में अग्नि नहीं है–यह बात नहीं है। दोनों में दोनों हैं-केवल गौण–मुख्य का भेद है। यह अग्नीषोम का महाभाग है। इसके बाद मास आता है। मास में आपूर्यमाणपक्ष (शुक्ल पक्ष) आग्नेय है, अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्ष) सौम्य है। यद्यपि आजकल मास की विभाजिका पूर्णिमा और अमा मानी जाती हैं, तथापि जैसे उत्तरगोल, दक्षिणगोल आग्नेय–सौम्य नहीं हैं–अपि तु, याम्योत्तर रेखा से सीमित उत्तरायण-दक्षिणायन-काल आग्नेय और सौम्य हैं–इसी प्रकार कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक का भाग सौम्य है। शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक का भाग आग्नेय है। पक्षविभाजिका दोनों अष्टमिएँ हैं न कि अमा पूर्णिमा। इसमें अष्टमी से सम्बन्ध रखने वाला एक पक्ष अग्निप्रधान है–वह देवमय है। एक पक्ष सौम्य है–वह पितरमय है। यह अग्नीषोम का दूसरा भाग है। अमा पितरों का मध्याह्न बतलाया जाता है, पूर्णिमा देवताओं का मध्याह्न बतलाया जाता है। यह तभी हो सकता है जबकि अष्टमी को पक्षविभाजिका मान ली जाय। कृष्णाष्टमी से सौम्य पक्ष प्रारम्भ होता है। यह अष्टमी पितरों का प्रातःकाल है। अमा मध्याह्नकाल है। शुक्लाष्टमी सायंकाल है। पूर्णिमा आधीरात है। कृष्णाष्टमी फिर प्रातःकाल है। ठीक इसके विपरीत शुक्लाष्टमी देवताओं का प्रातःकाल है, पूर्णिमा मध्याह्न है, कृष्णाष्टमी सायंकाल है। अमा मध्यरात्रि है। यह देवपितरों का दूसरा विभाग है। तीसरा है–अहोरात्र-विभाग। रात्रि सौम्या है–अहः आग्नेय है। इस अहोरात्र का विभाग भी याम्योत्तररेखा से ही होता है। रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक अग्नि का चढाव है। यही इसका उत्तरायणकाल है। इतनी देर में देवताओं का राज्य है। दिन के १२ बजे से रात्रि के बारह बजे तक अग्नि का ह्रास है–सोम की वृद्धि है। यही पितृकाल है। यही अग्नीषोम का तीसरा भाग है। इसी अग्नीषोमीय देवपितृविज्ञान को लक्ष्य में रहकर ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरः- ते पितरः। य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवाः। योऽपक्षीयते स पितरः। अहरेव देवाः, रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाः–अपराह्णः पितरः" ॥[1]

संवत्सर में उत्तरायणकाल शुक्लाष्टमी है। इसकी समाप्ति कृष्णाष्टमी है। दक्षिणायनकाल कृष्णाष्टमी है। इसकी समाप्ति शुक्लाष्टमी है। दोनों विषुवकाल अमापूर्णिमा हैं। उत्तरायणसम्बन्धी विषुव पूर्णिमा है–दक्षिणायनसम्बन्धी विषुव अमा है। यही व्यवस्था मास है–यही व्यवस्था अहोरात्र में है। इस प्रकार उस रयिप्राणरूप अग्नीषोमीय विश्वरूप परमेष्ठी प्रजापति के–संवत्सर, मास, अहोरात्र तीन स्थूल अवतार होते हैं। इन तीन के अलावा संसार में जितने छोटे बडे पदार्थ हैं–उन सबका एक विभाग है। उस विभाग के लिए श्रुति ने **'अन्न'** शब्द का प्रयोग किया है। इसमें सबसे पहले इसी पूर्वोक्त संवत्सरप्रजापति का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"संवत्सरो वै प्रजापतिः"–इत्यादि ॥

१–शत० ब्रा० २।१।३।१।

प्रजानिर्म्माण करने के कारण संवत्सर प्रजापति है। इसकी प्राप्ति के उत्तर और दक्षिण मार्ग हैं। जो मनुष्य कृतरूप इष्टापूर्त्त की उपासना करते हैं–वे चान्द्रलोक को ही जीतते हैं एवं वे ही जन्म लेने के लिए पुनः मृत्युलोक में लौटते हैं। प्रजाकाम विद्वान् लोग प्रजापति की तरह दक्षिणमार्ग से ही जाते हैं। यही वह 'रयि' है–जो कि पितृयाण है—

"संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च ॥ तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते ॥ त एव पुनरावर्त्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते ॥ एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः" ॥

॥ ९ ॥

——❀——
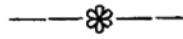
उत्तरमार्ग से तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा, विद्याद्वारा आत्मा को खोजकर आदित्य को जीत लेते हैं। यही आदित्य प्राणों का आयतन है। यही अमृत है–यही अभय है–यही परायण है। इसमें गए बाद आत्मा वापस नहीं लौटता है। यह आदित्य पुनरावृत्ति का निरोध-स्थान है—

"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः" ॥

॥ १० ॥

——❀——
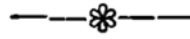
'जो वस्तु जहाँ की होती है–वह वहीं जाती है'–यह वैज्ञानिक जगत् का निश्चित सिद्धान्त है। अध्यात्म-प्रपञ्च का निर्म्माण-अग्नीषोमात्मक संवत्सर प्रजापति से हुआ है, अतएव सिद्ध हो जाता है कि आत्मशरीर के विश्लेषण होने के अनन्तर भूतमय अग्नीषोमीय शरीर संवत्सरप्रजापति के भूताग्नीषोम में चले जाते हैं एवं प्राणाग्नीषोमीय आत्मा प्रजापति के प्राणाग्नीषोम में चले जाते हैं। अग्नि-सोममय आत्मा के जाने के यदि कोई मार्ग हो सकते हैं तो आग्नेय, सौम्य भेद से दो ही हो सकते हैं। आग्नेय मार्ग का नाम ही उत्तरायण है एवं सौम्यमार्ग ही दक्षिणायन नाम से प्रसिद्ध है। आग्नेयमार्ग में आदित्यमय सूर्य्य की संस्था है, सौम्यमार्ग में सोममय चन्द्र की सत्ता है। चन्द्रमा संवत्सर का द्वार है। **'ये वै केचनास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'**–इस सिद्धान्त के अनुसार पहले सब को चन्द्रलोक में जाना पड़ता है। यहाँ से उत्तर-दक्षिण दो मार्ग विभक्त हैं। दक्षिणमार्ग चन्द्रलोक है–पितृलोक है। उत्तरमार्ग आदित्यलोक है–देवलोक है। आत्मा या तो उत्तरमार्ग में जाता हुआ देवलोक में जा सकता है या दक्षिणमार्ग में जाता हुआ पितृलोक में जा सकता है। दो ही मार्ग हैं–दो ही गन्तव्यस्थान हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" ।।[1]

माता पृथिवी, पिता द्यौ–दोनों के बीच में रहने वाले प्राणिमात्र के जाने के दो ही मार्ग हैं । श्रुति का यही तात्पर्य्य है । इन दोनों में उत्तरमार्ग में गया हुआ आत्मा वापस नहीं लौटता–दक्षिणमार्ग में गए हुए को वापस लौटना पड़ता है । कौन दक्षिणमार्ग में जाता है–कौन उत्तरमार्ग में जाता है–इसका निर्णय कर्म्म-कलाप पर निर्भर है । जैसे मार्ग उत्तर-दक्षिण भेद से दो हैं । एवमेव उत्तरकर्म्म, दक्षिणकर्म्म भेद से कर्म्म भी दो ही प्रकार के हैं । विद्यासापेक्ष–यज्ञ, तप, दान तीनों कर्म्म उत्तरकर्म्म हैं । इष्ट, आपूर्त्त, दत्त-तीन कर्म्म दक्षिणकर्म्म हैं । वेदविहित कर्म्मकाण्ड यज्ञ है । तपश्चर्या तप है । विद्वानों को दक्षिणा देना दान है । पाकयज्ञ, सत्यभाषण, अतिथिसत्कार आदि 'इष्ट' हैं एवं वापी कूप, तड़ाग, देवगृह-निर्म्माणादि कर्म्म आपूर्त्त हैं । हीन अंग, असमर्थों का अन्नवस्त्रादि सहायता करना दान है । पूर्व के तीनों उत्तरकर्म्म विद्यासापेक्ष हैं–शास्त्रीय हैं । विद्वान् ही उन्हें कर सकता है । उत्तर के तीनों दक्षिणकर्म्म विद्यानिरपेक्ष हैं–इन्हें विद्वान्‌मूर्ख विना पढे ही जानते हैं और करते हैं । यज्ञ-तप-दान–विद्या-श्रद्धा-तप द्वारा किए जाने पर उत्तरमार्ग की प्राप्ति के कारण बनते हैं । इष्ट, आपूर्त्त, दत्त–तीनों पितृस्वर्गरूप दक्षिणमार्ग की प्राप्ति के कारण हैं । इसका कारण यही है कि आदित्यात्मक अग्निप्राण ज्ञानप्रधान है । ज्ञान से बन्धन टूटता है । यज्ञ, तप, दान–तीनों कर्म्म त्रयीमय आदित्यप्राणसम्बन्धी कर्म्म हैं । इनसे आध्यात्मिक आदित्यप्राणभाग प्रबल होता है–इससे इसका आत्मा प्रबलता से उधर ही आकर्षित रहता है एवं चन्द्रमा भूतप्रधान है । चान्द्रसोम ही अग्नि में आहुत होकर–मूर्त्त-अमूर्त्त पदार्थ का जनक बनता है । चान्द्र-सोम रयि है । मूर्त्ति–अमूर्त्त सब रयि हैं । सारे द्रव्य रयिरूप हैं । दूसरे शब्दों में भूतप्रपञ्च रयिरूप हैं । इनका आकर्षण चन्द्रमा से है–भूतों में रहने वाले आग्नेयप्राण आदित्य से आकर्षित हैं । इष्ट, आपूर्त्त, दत्त तीनों कर्म्म भूतप्रधान हैं–क्रियाप्रधान हैं, अतः इनके कारण आत्मा का रयिभाग प्रबल हो जाता है, अतः इन कर्म्मों के अनुयायी को उसी चन्द्रलोक में जाना पड़ता है । एक मार्ग ज्ञानप्रधान है–एक मार्ग कर्म्मप्रधान है । कर्म्मप्रधान में पुनरावृत्ति है । 'ज्ञानान्मुक्तिः'–इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानप्रधान उत्तर-मार्ग में अपुनरावृत्ति है । प्रजासृष्टि का दक्षिणसोम से सम्बन्ध है, प्रजामुक्ति का उत्तर आदित्य से सम्बन्ध है । पितृयाण रयि है, देवयान प्राण है । एक मुक्ति का कारण है, एक सृष्टि का हेतु है । उत्तरमार्ग से आदित्य की प्राप्ति होती है । यही आदित्य इतर सारे प्राणों का आयतन है । यही अमृत है–अक्षररूप है । सूर्य्य महदक्षर से अनुगृहीत रहता है । अक्षर के पास ही अव्यय बैठा है । वही परात्पर युक्त रहने के कारण 'अभय' है । स्थानच्युति का नाम भय है । वह स्थान अभय है, अतएव वहाँ गए बाद वास्तव में पुनरावृत्ति नहीं हो सकती । इसी सारे मार्ग, गति आदि विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कर्म्माचार्य्य कहते हैं–आत्मा का शरीर अन्न है–इसमें भी अग्नि, सोम–दो भाग हैं । इसके बाद अहोरात्र है–इसमें 'अहः' अग्नि है–'रात्रि' सोम है । अहोरात्र के बाद मास है । कृष्णपक्ष सोम है, शुक्लपक्ष अग्नि

१–ऋग्वेद मं० १०।८८।१५ ।

है। इसके बाद संवत्सर है । उसका उत्तरायणभाग अग्नि है, दक्षिणायनभाग सोम है । संवत्सर का अग्नि-सोम मास में आता है । मास का अहोरात्र में आता है । अहोरात्र का अन्न में आता है। अन्न से हमारे में आता है । बस, जिस क्रम से आगमन है–उसी क्रम से निर्गमन है । शरीर के आधेभाग में अग्निप्राण है–आधे भाग में सौम्यप्राण हैं । सौम्यप्राण कृष्ण-तम है–अग्निप्राण अग्नि-ज्योति है । ये दोनों अन्नमय हैं । आत्मा शरीरपरित्यागानन्तर सबसे पहले यथाकर्म्म, यथाविध अन्नमय अग्निर्ज्योति, धूम (कृष्णसोम) दोनों में से किसी एक में जाता है । अनन्तर आगे रहने वाले–अहः-रात्रि–दोनों में से किसी में जाता है । अनन्तरं द्वाररूप चन्द्रमा में जाता हुआ उत्तरायण, दक्षिणायन–दोनों में से किसी एक में जाता है । इसी सारे श्रौतविज्ञान को संक्षिप्त अक्षरों से बतलाते हुए गीताचार्य्य कहते हैं—

"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।[1]
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः" ।।

अग्निगति शुक्ल है, सोमगति कृष्ण है । वही पारमेष्ठ्य प्राणरूप अग्नि उत्तरायण, शुक्लपक्ष, अहः, शरीरज्योतिः–इन चार विभागों में विभक्त रहता है एवं कृष्णसोम दक्षिणायन, कृष्णपक्ष, रात्रि, शरीरधूम–इन चार भागों में विभक्त रहता है । एक बात और बतलाकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

संवत्सरप्रजापति–रयि को अपने उदर में रखने वाला आदित्यात्मक आग्नेयप्राणप्रजापति–संवत्सर, मास, अहोरात्र, अन्नरूप में परिणत होता हुआ प्रजा का निर्म्माण करता है–पूर्व के प्रकरण से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है । प्रजा यों तो अनेक हैं । अष्टविध देवसर्ग भी प्रजा में ही अन्तर्भूत है । परन्तु यहाँ प्रजा शब्द से हम प्रधानरूप से पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज–इन पाँच वस्तुओं का ही ग्रहण करेंगे । इन पाँच पशुओं का ही पूर्व के उपनिषदों में विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है, अतः हम यहाँ इनके विषय में अधिक कुछ नहीं कहना चाहेंगे । यहाँ हमें केवल यही कहना है कि संवत्सर सौराग्नि है–जैसा कि उपनिषत् के प्रारम्भ में ही बडे विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । वह संवत्सराग्नि रेतोधा है । पृथिवीपिण्ड का उष्णभाग रेत है । प्रातः कालीना सौररश्मिगर्भिता पार्थिव भूवायु ही–'उषा' है । यह योनि है । इस योनि में वह रेतोधा प्रजापति अपने संवत्सराग्निरूप रेत का सिंचन करता है । पाँचों ऋतुएँ भूत हैं–इन भूतों का पति संवत्सरप्रजापति है । यही रेतोधा पिता है । उषा पत्नी है । इसमें भूतयुक्त

१–गीता ८।२४-२६ ।

भूतपति संवत्सराग्नि की आहुति होती है । संवत्सराग्नि आदित्यरूप है । इसमें त्रैलोक्य का अग्नि है । यही वैश्वानर है । इसीलिए तो पूर्व में हमने यहाँ के आदित्य को 'वैश्वानर' कहा है । यह संवत्सर प्रजापति की दूसरी अवस्था है । वैश्वानरात्मक संवत्सरप्रजापति का उषायोनि में सिक्त रेत एक वर्ष के अनन्तर कुमाररूप में परिणत होता है । यह कुमाराग्नि आगे जाकर अष्टविध चित्राग्निस्वरूप में परिणत होता है । कुमाराग्नि ही उद्बुद्ध होकर अग्नि, आपः, ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, सोम, आदित्य–इन आठ स्वरूपों में परिणत होता है । यही अष्टमूर्त्ति शिव है । **'त्वमर्कस्त्वं सोमः'**–इत्यादि से इसी चित्राग्नि का वर्णन किया गया है । यह चित्राग्नि आगे जा कर–पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज–इन पाँच वैकारिक अग्नियों के स्वरूप में परिणत होता है । यही **'पाशुक'** अग्नि है । संचरक्रम की यही पराकाष्ठा है । इन पाशुक अग्नियों से हम सब प्रजाओं का निर्म्माण होता है । चयनप्रकरण में–इन सबका हमने विस्तार से निरूपण कर दिया है, अतः प्रकृत में हम अधिक न कहकर यहीं इस प्रकरण को समाप्त करते हैं । संवत्सरप्रजापति का स्वरूप ऋषि बडे विस्तार से बतला चुके । अब मन्त्रश्रुति द्वारा इसका उपसंहार करते हुए अन्त में कहते हैं—

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उ परे (उपरे वा) विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्"–इति ।।

।। ११ ।।

इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है । शंकर भगवान् ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है–वह मान्य है । इसलिए अधिक न कहकर केवल भाषा-प्रेमियों की सुविधा के लिए यहाँ उसका उल्लेखमात्र कर देते हैं—

ऋतु एक है, दो हैं–तीन हैं–पाँच हैं–छह हैं । पाँच तरह से ऋतुविभाग किया जा सकता है । अग्नि पहली ऋतु है । बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशर छओं ऋतुओं का स्वरूप अग्नि के तारतम्य से निष्पन्न हुआ है । अग्नि का चढाव तीन विभागों में विभक्त है । वही तीनों उद्ग्रामसम्बन्धी विभाग, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा है । अग्नि के ही निग्रामसम्बन्धी तीन विभाग शरद्, हेमन्त, शिशिर हैं । ६ओं एक ही अग्नि की अवस्थाविशेष हैं । यही पहली ऋतु है । अग्नि-सोम भेद से दो ऋतु हैं । सर्दी, गर्मी–दो मौसम सुप्रसिद्ध हैं । सर्दी सोम है, गर्मी अग्नि है । अथवा–सर्दी, गर्मी, वर्षा भेद से तीन ऋतु हैं । अथवा ७२-७२ दिन के हिसाब से पाँच ऋतु हैं । अथवा २-२ मास के हिसाब से ६ ऋतु हैं । पाँचों पक्षों में यहाँ चौथे और पाँचवें पक्ष का ग्रहण है । पाँच ऋतुओं के अभिप्राय से यहाँ सौर संवत्सरप्रजापति को **'पञ्चपाद'** कहा गया है । विषुव पर आत्मरूप से सूर्य्यप्रजापति प्रतिष्ठित हैं । उसके ऋतुरूप पाँच पैर हैं । यह–**'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः'** **'द्यौः पिता'**–इत्यादिरूप से सबका पिता है । १२ मास–१२ आकृतियाँ हैं । ये ही प्रजापति के १२ तनू कहलाते हैं । असल में प्रजापति एक ही है । परन्तु चन्द्रमा के कारण वह एक ही प्राणप्रजापति १२ भागों में विभक्त होकर अपने १२ स्वरूप बना लेता है ।

चन्द्रमा नक्षत्रों के कारण १२ भागों में विभक्त होता है। इन १२ जाति के चन्द्रमाओं के सम्बन्ध से आदित्य १२ तरह का बन जाता है। ये ही मेषादि १२ राशि की १२ आकृतियाँ भी मानी जा सकती हैं। द्वादश राशि हैं–१२ मास हैं–ये द्वादशाकृतिएँ हैं। इस प्रकार पाँच पैर वाला एवं १२ माथे वाला यह पिता-प्रजापति सौर विषुवमण्डल के ऊर्ध्वस्थान में प्रतिष्ठित है। पुरीषरूप से विद्वान् लोग इसे प्रतिष्ठित बतलाते हैं। विषुवमण्डल दिव्यमण्डल है। हम पूर्वप्रकरण में इस बृहतीछन्दापरपर्य्यायक विषुवद्-वृत्त के केन्द्र में आत्मरूप से सूर्य्य को प्रतिष्ठित बतला आए हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में हृदय ऊर्ध्व कहलाता है, अधि अधोभाग कहलाता है–जैसा कि कठोपनिषत् के 'उर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः'[1]–इत्यादिमन्त्र के निरूपण में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। 'अर्द्धशब्द'–'भाग' का वाचक है। 'परे अर्द्धे' का 'परभागे उर्ध्वभागे-केन्द्रभागे'–यही अर्थ है। सौरमण्डल द्युलोक है। संवत्सरमण्डल द्युलोक है। इसका केन्द्र वही विषुव केन्द्र है। यहीं पर पञ्चपाद द्वादशाकृति–पिताप्रजापति की सत्ता बतलाई जाती है। चन्द्रमा और सूर्य्य के परस्पर के गमनतारतम्य से सौर संवत्सरप्रजापति पाँच भागों में विभक्त हो जाता है। दृश्यमण्डल के अनुसार सूर्य्य प्रायः प्रतिदिन एक अंश चलता है। यदि पूरे एक अंश गति होती तब तो ३६० दिन में ही यह अपनी पूर्व (उपक्रमस्थानीय) बिन्दु पर आ जाता। परन्तु यह एक अंश से कुछ कम चलता है। इस हिसाब से स्थूलमान से ३६६ दिन में इसके संवत्सर का स्वरूप निष्पन्न होता है। सावन वर्ष की अपेक्षा से इसमें ६ दिन और बढ जाते हैं। इधर चन्द्रमा सूर्य्य से तेज चलता है। यह एक दिन में एक अंश से भी अधिक चलता है। यह ३५४ दिन में ही अपनी परिक्रमा समाप्त कर लेता है। इस प्रकार चन्द्र और सूर्य्य की गति में–वर्ष में १२ दिन का अन्तर हो जाता है। चन्द्रमा १२ दिन आगे निकल जाता है, सूर्य्य पीछे रह जाता है। मान लीजिए–आज चन्द्रमा, सूर्य्य–दोनों अश्विनी पर हैं। दोनों एक बिन्दु पर हैं। यहाँ से दोनों चलते हैं। वर्ष के अन्त में दोनों में १२ दिन का अन्तर पड़ जाता है। २ वर्ष में २४ दिन का अन्तर पड़ जाता है। २½ वर्ष में ३० दिन का अन्तर पड़ जाता है। यही मलिम्लुच मास कहलाता है। इसे ही 'अधिक' मास कहते हैं। २½ वर्ष के बाद दूरी हटने लगती है। हटते हटते २½ वर्ष के अनन्तर पाँचवें वर्ष के अन्त में–दोनों का उसी एक बिन्दु रूप अश्विनी पर योग होता है। यह 'महासंवत्सर' कहलाता है। इस महासंवत्सर के अवान्तर पाँच विभाग हैं। उन पाँचों में–प्रथम संवत्सर में अग्नि की सत्ता रहती है, दूसरे में आदित्य की सत्ता रहती है, तीसरे में सोम की सत्ता रहती है, चौथे में ब्रह्मा की सत्ता रहती है। पाँचवीं में शिववायु की सत्ता रहती है। ये पाँचों संवत्सर दूसरे शब्दों में महासंवत्सर के अवान्तर पाँचों विभाग क्रमशः निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं—

१–संवत्सर — अग्नि
२–परिवत्सर—आदित्य
३–इडावत्सर—सोम
४–अनुवत्सर —ब्रह्मा
५–इद्वत्सर —शिव

} —महासंवत्सर

१–कठोप० २।३।१।

महासंवत्सर परमपिता है । इसके अवान्तर ये पाँच विभाग ही पाँच पैर हैं । अब बाकी बचता है–**'पुरीषिणम्'** पद ।

ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द निम्नलिखित रूप से भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१–'अन्नं वै पुरीषम्'।[1] **२–'पशवो वै पुरीषम्'** ।[2]

३–'स एष प्राण एव यत् पुरीषम्' ।[3] **४–'पुरीषं वा इयं (पृथिवी)'** ।[4]

५–'अथ यत्पुरीषं स इन्द्रः' ।[5] **६–'प्रजा पुरीषम्'** ।[6]

७–'प्रजा पशवः पुरीषम्' ।[7]

प्रकृतमन्त्र का 'पुरीष' शब्द इन सारे अर्थों से सम्बन्ध रखता है । सूर्य्य के आदित्यभाग से वृष्टि होती है । वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है । अन्न का अधिष्ठाता सूर्य्य है । अन्न पुरीष है । इसलिए संवत्सरप्रजापति के लिए अवश्यमेव **'पुरीषिणम्'** कहा जा सकता है । संवत्सराग्नि ही क्रमशः वैश्वानर, कुमार, चित्ररूप में परिणत होती हुई पुरुषादि पश्वाग्निरूप में परिणत होता है । पशु को पुरीष कहते हैं । इसलिए भी हम उसको **'पुरीषिणम्'**–कह सकते हैं । **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**–के अनुसार वह **प्राणघन है** । प्राण पुरीष है–इसलिए भी प्राणघन प्रजापति पुरीष है । पृथिवी पुरीष है । यह पृथिवी सौर संवत्सर में प्रतिष्ठित है । इसलिए भी हम इसे पुरीषयुक्त कह सकते हैं । **'यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'**–के अनुसार द्युरूप सूर्य्य इन्द्रमय है । इन्द्र पुरीष है–इसलिए भी हम उसे 'पुरीष' कह सकते हैं । सूर्य्य सारी प्रजाओं का प्राण है । प्रजा उसी प्रजापति पर प्रतिष्ठित है । प्रजा पुरीष है–इसलिए भी हम इसे **'पुरीष'** कह सकते हैं । इन सारे अर्थों का यदि निष्कर्ष निकाला जाता है तो–**'पुरीषिणम्'** का **'सर्वपदार्थमयम्'**–यही अर्थ निकाला जाता है । वस्तुतस्तु–प्रकृत का पुरीषशब्द एकमात्र पशु का वाचक है । छन्द, पोष, सलिल, अन्न, अग्निभेद से पशु पाँच प्रकार के हैं–जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है । संवत्सरप्रजापति प्रजापति है । प्रजापति में–आत्मा, प्राण, पशु–ये तीन विभाग होते हैं । ऋषि को प्रकृत में प्रजापति के इन तीनों भागों का स्पष्ट निरूपण करना है । चूंकि वे इस उपनिषत् में प्रधानरूप से प्राण का निरूपण कर रहे हैं–इसलिए तो पहले उन्होंने–**'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'** –इस रूप से प्रजापति के प्राणभाग का निरूपण किया है । अनन्तर–**'एतद्वै प्राणानामायतनं एतदमृतं, एतदभयं, एतत्परायणम्'**–इस रूप से प्रजापति के आत्मा-भाग का निरूपण किया है । पशु बच जाता है । पुरीष पशु को कहते हैं । इसलिए तीसरे मन्त्र में उसी बाकी बचे हुए पशुभाग का निरूपण करते हुए–

१–शत० ब्रा० ८।५।४।४ । २–शत० ब्रा० ७।५।१।१६ ।

३–शत० ब्रा० ८।७।३।६ । ४–शत० ब्रा० १२।५।२।५ ।

५–शत० ब्रा० १०।४।१।७ । ६–शत० ब्रा० ८।७।४।१६ ।

७–तै० ब्रा० ३।२।८।१ ।

'पुरीषिणम्' कहा है। अथवा केवल इस एक ही मन्त्र में आत्मा, प्राण, पशु-इन तीनों का निरूपण समझना चाहिए। **'पञ्चपादम्'** प्राण भाग का निरूपण' करता है। **'ऋतवो वै प्राणाः'**-के अनुसार पाँच ऋतु उसके प्राण हैं। प्राणनिरूपक उपनिषत् में इसी को मुख्य रखते हुए ऋषि ने-**'पञ्चपादम्'** को पहला स्थान दिया है। आत्मा पाँच ही प्राणों से युक्त रहता है। **'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'**-के अनुसार उस अमय आत्मा में पाँच प्राण हैं। सूर्य्य की दृष्टि से **'पञ्चपाद'** ऋतुओं का वाचक है। आत्मा की दृष्टि से पञ्चपाद पाँच आत्मप्राणों का वाचक है। महासंवत्सर की अपेक्षा से इद्वत्सर-इडावत्सरादि पाँच संवत्सरों का वाचक है। **'पितरम्'** आत्मभाग का निरूपक है। **'पुरीषिणम्'**-पशुभाग का निरूपण करता है। पशु नहीं कहा-पुरीष कहा है। पशु से केवल पञ्चपशु का ही ग्रहण होता है। सूर्य्य में सब कुछ है-इसलिए **'पुरीषम्'** कहा है। **'पुरीषम्'**-से पशु का भी ग्रहण हो जाता है-और और पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है।

कितने ही विद्वान् इस पूर्वोक्तरूप से सौर संवत्सरप्रजापति की स्तुति करते हैं। वे कौन विद्वान् हैं? इसका उत्तर ऋषि ने बुद्धि के व्यापार पर छोड़ दिया है। यज्ञ, तप, दान, करने वाले विद्वान् ही उस प्रजापति का ऐसा स्वरूप समझते हैं। उनका विश्वास है कि वह परमप्रजापति आत्मरूप से त्रैलोक्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित है एवं-**'एषोऽणुरात्मा०'**[1]-के अनुसार उसके पाँचपाद हैं। पाँच प्राण हैं एवं वह आत्मप्रजापति स्वयं निम्नलिखित १२ तनू धारण करके संसार में व्याप्त हो रहा है—

१-अन्नादी	२-अन्नपाली
३-भद्रा	४-कल्याणी
५-अनिलया	६-अपभया
७-अनाप्ता	८-अनाप्या
९-अमादृष्टा	१०-अनाधृष्या
११-अपूर्वा	१२-अभ्रातृव्या

वह पशुयुक्त है। वे पाँच ऋतुओं के द्वारा उसके पाँच आत्मप्राणों के दर्शन कर रहे हैं एवं १२ मासों के द्वारा १२ आत्मतनूओं का साक्षात्कार कर रहे हैं। ऐसे ब्रह्मवित् ही-सूर्य्यप्रजापति की आत्म-रूप से उपासना करने वाले विद्वान् ही उत्तरमार्गस्थित आदित्यलोक के अधिकारी हैं। बस, यज्ञतप-दानात्मक उत्तरकर्म्म करने वाले सूर्य्यप्रजापति की किस रूप से उपासना करते हैं? इसका उत्तर देते हुए 'ऋषि' कहते हैं—

'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्" ॥

परन्तु जो इष्ट, आपूर्त्त, दत्तरूप दक्षिणकर्म्म करने वाले हैं-वे उसका निम्नलिखित स्वरूप समझ लेते हैं। पूर्व में इष्टापूर्त्तदत्त-इन तीनों का स्वरूप समझा दिया गया है। प्रसंगागत इनके विषय

१-मुण्डकोप० ३।१।९।

में कुछ और कह देते हैं। स्वार्थ, परमार्थ, परार्थ भेद से यह विद्यानिरपेक्ष पितृस्वर्गसाधककर्म्म तीन भागों में विभक्त हो जाता है। अपने आत्मा के लिए जो कर्म्म किया जाता है, वह इष्ट है। समाज के उपकार के लिए वापी-कूप-तड़ागादि निर्म्माणरूप जो कर्म्म हैं--वे परम (उत्कृष्ट) अर्थ हैं–ये ही आपूर्त्त हैं एवं व्यक्तिसापेक्ष दानादि कर्म्म परार्थ। हैं–ये ही दत्त हैं। इनमें जो इष्ट है–वह आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार का है। तप, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य्य यह आध्यात्मिक इष्ट है। अग्निहोत्र, वैश्वदेव आधिदैविक इष्टकर्म्म हैं एवं अतिथिसत्कार आधिभौतिक इष्टकर्म्म है। इन सबका फल पितृस्वर्गप्राप्ति है।

१–स्वार्थम्–इष्टम् (आत्मार्थ)

२–परमार्थम्–आपूर्त्तम् (समाजसापेक्ष)

३–परार्थम्–दत्तम् (व्यक्तिसापेक्ष)

१–आध्यात्मिक इष्टकर्म्म —तपः, सत्य, ब्रह्मचर्य्य

२–आधिदैविक इष्टकर्म्म —अग्निहोत्र, वैश्वदेव

३–आधिभौतिक इष्टकर्म्म —अतिथिसत्कार

इन विद्यानिरपेक्षकर्म्मों को करने वाले विद्वानों का कहना है कि विचक्षण नाम से प्रसिद्ध उस सप्तचक्रात्मक-षडरात्मक संवत्सर प्रजापति में ही सारा विश्व अर्पित है। सात अहोरात्रवृत्त सातचक्र हैं। ६ ऋतु ६ आरे हैं। चन्द्रमा विचक्षण है। इस विचक्षण सोमान्न को खाकर ही यह चमक रहा है। संवत्सर की जो प्रकाशमयी मूर्ति है–यह चन्द्रमारूप रयिसोम की महिमा है। इसीलिए तो इसके लिए **'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ'**[1]–यह कहा जाता है। विचक्षण समझने वालों की दृष्टि में रयि प्रधान है। सोम प्रधान है। सोम की प्रधानता दक्षिणभाग में है। इष्टापूर्त्तवाले ही इधर जाते हैं।

संवत्सरप्रजापति निरन्तर होने वाली सोमाहुति से चमक रहा है। यही संवत्सरयज्ञ सोमाहुति के कारण–**'सोमयज्ञ'** कहलाता है। यही उस प्रजापति का दूसरा अवतार है।

॥ इति द्वितीयः संवत्सरात्मकः सोमयज्ञः ॥

॥ २ ॥

इसी संवत्सरप्रजापति का तीसरा अवतार मास है। यही तीसरा **'मास-प्रजापति'** है। इसका कृष्णपक्षभाग रयि है, शुक्लपक्षभाग प्राण है। जैसा कि श्रुति कहती है—

१–ऋग्वेद मं १।९१।२२।

"मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्" ।।

।। १२ ।।

——❀——
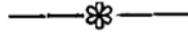
चौथा अवतार अहोरात्रात्मक प्रजापति है। इसका अहर्भाग प्राण है, रात्रिभाग रयि है। वे मनुष्य अपने प्राण का नाश करते हैं जो कि दिन में रतिक्रीड़ा करते हैं एवं जो रात्रि में रति से युक्त होते हैं–वे **'ब्रह्मचर्य'** व्रत का ही पालन करते है। प्रथम प्रजापति का स्वरूप बतलाते हुए हमने कहा था कि दिन में सौर प्राणभाग की प्रधानता रहती है, रात्रि में रयिभाग की प्रधानता रहती है। रात्रि में रयि आधेय है–प्राण आधार है। दिन में प्राण आधेय है–रयि आधार है। रयिसोम ही शुक्र है–यह आहुत हो कर प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है, अतः प्रजननसम्बन्धी मिथुनभाव रात्रि में ही करना उचित है। जो मनुष्य ब्रह्म (प्रजापति) सम्बन्धी विज्ञान का तिरस्कार कर दिन में मिथुन करते हैं–उनका प्राणभाग शिथिल हो जाता है। दिन में प्राण आता रहता है, ऐसी अवस्था में दिन में रतियोग से प्राणविच्छेद हो जाता है। प्राण आयुभाग है। इसके विच्छेद से यमराज शीघ्र ही अपना अधिकार जमा लेता है—

"अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते" ।।

।। १३ ।।

——❀——
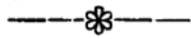
पाँचवाँ प्रजापति है–अन्न। अन्न में पुंरेत और स्त्रीरेत (अग्नि-सोम) दोनों रहते हैं। अन्न से रेत बनता है। रेत से सारी प्रजा उत्पन्न होती है। रेत से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है। प्रजापति के रेत से देवता उत्पन्न हुए हैं। देवताओं के रेत से वृष्टि हुई है। वृष्टि के रेत से औषधिएँ उत्पन्न हुई हैं। औषधियों के रेत से अन्न पैदा हुआ है। अन्न के रेत से प्रजा पैदा हुई है। प्रजा के रेत (भक्षित अन्नरस) से हृदय पैदा हुआ है। हृदय के रेत से मन पैदा हुआ है। मन के रेत से वाक्सृष्टि हुई है। वाक्रेत से कर्म पैदा हुआ है। यहाँ पर सृष्टिक्रम की समाप्ति है। रेत से कैसे सृष्टि होती है ? इस विषय का विस्तृत विवेचन **'ऐतरेयारण्यक'** के–**'अथातो रेतसः सृष्टिः'**–इस प्रकरण में देखना चाहिए।

कम्बन्धी कात्यायन ने महर्षि पिप्पलाद से जो–**'भगवन् ! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते'**–यह प्रश्न किया था–उसका विस्तार से निरूपण करके अन्त में पिप्पलाद ने रेत को प्रधान मानते हुए **'ततो ह वै तद्रेतसः प्रजाः प्रजायन्ते'**–पर अपने उत्तर का उपसंहार किया है—

"अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति" ॥

॥१४॥

——❀——
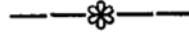
उत्तर समाप्त हो चुका। फलश्रुति बतलाकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। जो विद्वान् पूर्वप्रतिपादित प्रजापतिव्रत का अनुसरण करते हैं–वे ही प्रजापति की तरह मिथुन उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वे ही प्रजा द्वारा प्रजापति कहलाने का अधिकार सुरक्षित रख सकते हैं। इस प्रजापतिव्रत का आचरण करने वाले जिन विद्वानों में सत्यतत्त्व प्रतिष्ठित है, तप और ब्रह्मचर्य्य जिनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है–उन्हीं विद्वानों का यह ब्रह्मलोक (चान्द्र-लोक) है। प्रजाकाम विद्वान् प्रजा पैदा करते हुए पितृस्वर्ग में जाते हैं। जिनका प्रजासूत्र टूट जाता है–उनके आत्मा का उद्धार असंभव है। इसी आधार पर—

"पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्" ॥[1]

—यह कहा जाता है। इष्टापूर्त्तदत्तवालों को प्रजा द्वारा यही चान्द्रलोक मिलता है–यही निष्कर्ष है। चन्द्रमा ब्रह्मा है, अतः हम अवश्य ही चान्द्रलोक को ब्रह्मलोक कहने के लिए तय्यार हैं—

"तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते ॥ तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" ॥

॥ १५ ॥

——❀——
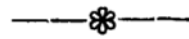
एवं विद्यासापेक्ष यज्ञ, तप, दान उतरकर्म्म करने वाले उन विद्वानों का विरज ब्रह्मलोक है। जिसमें न जिह्मभाव है, न अमृतभाव है, न माया है। रज से अतीत होने पर मुक्ति है। वह विरज ब्रह्मलोक अभय है। ब्रह्मलोकस्वरूप पूर्व के चान्द्रलोक से पुनरावर्त्तन है, किन्तु इस विरज ब्रह्मलोक से पुनरावर्त्तन नहीं है। इसको प्राप्त करने वाले को तीनों दोषों से निरन्तर बचना चाहिए। मन, प्राण, वाक्–तीनों को विरुद्ध मार्ग में ले जाना–मन में कुछ और है, कर कुछ और रहे हैं,–कह कुछ और रहे हैं–इस कुटिलवृत्ति को ही **'जिह्म'** कहते हैं। बैठे बैठे असंभव कल्पनाएँ किए जाना अनृत है। निरर्थक कर्म्म अनृत है एवं किसी को धोखा देना–विश्वासघात करना माया है। ये तीनों दोष विद्या के

१–मनुस्मृति ९।१३७।

प्रतिबन्धक हैं–अविद्या के सहायक हैं। आत्मजिज्ञासुओं को इन तीनों दोषों से बचना चाहिए एवं तीनों के स्थान में-सत्य, ब्रह्मचर्य्य, तप को अपनाना चाहिए—

"तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति" ।।

॥ १६ ॥

———❀———
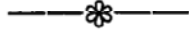
।। इति रयिप्राणनिरूपणात्मकः प्रथमप्रश्नः ।।

॥ १ ॥

अथ

धिषणाप्राणनिरूपणात्मको द्वितीयप्रश्नः

२

२–सूर्य्यः=विज्ञानात्मा

"स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः" ।।
(कैवल्योप० १।८)

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः" ।।
(मुण्डकोप० २।२।७)

द्वितीयः प्रश्नः

[मूलपाठः] अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ।।१।।

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ।। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ।। २ ।।

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ।। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ।।३।।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ।।४।।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।।५।।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ।।६।।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ।। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ।।७।।

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा ।। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ।। ८ ।।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ।।९।।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः ।। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ।।१०।।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ।। ११ ।।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।। या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ।। १२ ।।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।। मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ।। १३ ।।

।। इति द्वितीयप्रश्नस्य मूलपाठः।। २ ।।

———❀———

अथ
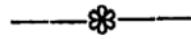
धिषणाप्राणनिरूपणात्मको द्वितीयप्रश्नः

[विज्ञानभाष्य] कम्बन्धी कात्यायन ने पिप्पलाद से जो प्रजासृष्टिविषयक प्रश्न किया था, सृष्टि-रहस्यवेत्ता पिप्पलाद ने रयिप्राणरूप से रेत को उपसंहार बनाते हुए बडे विस्तार के साथ उत्तर दे दिया। प्रथम प्रश्न में प्रधानरूप से रयिप्राण का निरूपण है। वाक्प्राण, रयिप्राण, धिषणाप्राण, प्रज्ञाप्राण, भूतप्राण भेद से प्राण पाँच प्रकार के हैं। ऋषि को इस प्राणोपनिषत् में इन पाँचों प्राणों का स्वरूप बतलाना है। इन पाँचों में पहले रयिप्राणवाले पारमेष्ठ्य प्राण का निरूपण किया है। इस दूसरे प्रश्न में क्रमप्राप्त सूर्य्य के धिषणाप्राण का निरूपण है। तीसरे प्रश्न में चन्द्रमा के प्रज्ञाप्राण का निरूपण है। चौथे में पार्थिवभूतप्राण का निरूपण है। पाँचवे प्रश्न में ओंकारात्मक स्वयम्भू के वाक्प्राण का निरूपण है। सर्वान्त में छठे प्रश्न में इन पाँच प्राणों से एवं छन्द, पोष, सलिल, अन्न, अग्नि नाम के पाँच पशुओं से एवं विश्वदानि यज्ञात्मा, सर्वहुतयज्ञरूप परमात्मा, सत्य, अमृत, परात्पर–इन पाँच आत्माओं से युक्त षोडशी प्रजापति का निरूपण है। पाँचों प्राणों का व्यष्टिरूप से निरूपण, पाँचों का षोडशकल प्रजापति को लक्ष्य बनाकर समष्टिरूप से निरूपण–बस, इस उपनिषत् में यही परिमित विषय है। छओं प्रश्नों के एक एक वाक्य हम आपके सामने रख देते हैं–जिससे आपको पूर्वक्रम में पूर्ण विश्वास हो जायगा—

१–'तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं च'	—	(परमेष्ठिप्राणः)
२–'वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च–ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति'	—	(सूर्य्यप्राणः)
३–'यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं–मनोऽधिकृत्यायात्यस्मिञ्छरीरे'	—	(चन्द्रप्राणः)
४–'सर्वा एवैतस्मिन् तेजोमण्डले एकीभवन्ति'	—	(पृथिवीप्राणः)
५–'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च यदोङ्कारः'	—	(स्वयम्भूप्राणः)
६–'इहैवान्तःशरीरे स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति'	—	(प्रजापतिः)

प्रथम वाक्य से तो स्पष्ट ही रयिप्राण का निरूपण सिद्ध हो जाता है। दूसरे वाक्य में वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र–चारों को प्राण की स्तुति करने वाला बतलाया है। चान्द्र प्रज्ञाप्राण की समष्टि मन है। मन ही सारी इन्द्रियें हैं। यह विज्ञान प्राण के आधार पर ही रहता है। विज्ञान ही प्रज्ञान का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है, अतः इस प्राण को हम सौर धिषणाप्राण कहने के लिए तय्यार हैं। तीसरे वाक्य में–'मन को निशाना बनाकर इतर प्राण अध्यात्म में प्रविष्ट होते हैं'–यह कहा गया है। मन को प्रधानता दी गई है। यही मन प्रज्ञाप्राणात्मक है, अतएव तीसरे प्रश्न को हम चान्द्र प्रज्ञाप्राण का निरूपक मानने के लिए तय्यार हैं। चौथे वाक्य में–'इसी तेजोमण्डल में सर्वथा विभिन्नतत्त्व एकीभाव को प्राप्त होते हैं'–यह कहा गया है। पार्थिव भूतप्राण से भोक्तात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है।

भोक्तात्मा में–वैश्वानराग्निज्योति, तैजस विद्युज्ज्योति, प्राज्ञइन्द्रज्योति–ये तीन ज्योतिएँ हैं । तीनों ज्योतियों से युक्त भोक्तात्मा आध्यात्मिक जगत् का तेजोमण्डल है । यही गन्ता है, शरीर रथ है । विज्ञान सारथि है, मन लगाम है एवं इन्द्रिएँ घोड़े हैं । अश्वरूप इन्द्रिएँ, प्रग्रहरूप मन, सारथिरूप विज्ञान, आकृति-प्रकृति-ग्रहंकृतिरूप महान्–ये शरीर में तभी तक हैं–जब तक कि वह तेजोमण्डल (पार्थिवभूत प्राणरूप भोक्तात्मा) अध्यात्म में प्रतिष्ठित है । बस, इन्हीं सब कारणों से इस चौथे प्रश्न को हम पार्थिव भूतप्राण का निरूपक मानने के लिए तय्यार हैं । छठे वाक्य में ओंकार को पर और अपर ब्रह्म बतलाया है । ब्रह्म स्वयम्भू हैं । स्वयम्भू, परमेष्ठी 'पर' हैं, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी 'अपर' हैं । सब उस सत्य स्वयम्भू के उदर में हैं, अतएव हम उसे पर, अपर–दोनों कह सकते हैं, अतएव हम इस पाँचवें प्रश्न को–'**वाक्प्राण**'–का निरूपक कहने के लिए तय्यार हैं एवं छठे प्रश्न के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है । ये पाँचों प्राण हैं परस्पर सर्वथा भिन्न पदार्थ, परन्तु पाँचों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक दूसरे के विना अनुपपन्न हैं । सब परस्पर में एक दूसरे में ओतप्रोत हैं । इसी प्राकृतिक स्थिति को समझने के लिए ऋषि ने प्रत्येक प्राण के निरूपण में गौणरूप से सबका सम्बन्ध बतलाया है । सबमें सबका निरूपण है । परन्तु प्रधानता एक एक की है । इन पाँचों में से रयिप्राण का निरूपण हो चुका है । अब क्रमप्राप्त–'**धिषणाप्राण**' का निरूपण करते हैं—

कबन्धी के समाधान हो जाने पर–भार्गव वैदर्भि आए और उन्होंने पिप्पलाद से पूछा कि भगवन् ! कितने देवता प्रजा का धारण करते हैं,' उनमें से कौन से देवता प्रकाश करते हैं एवं उन देवताओं में कौन सर्वश्रेष्ठ (ज्येष्ठ) है ?

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ।।१।।

प्रजानिर्म्माण हो चुका । माता की योनिगत अंगिराप्राणरूप रुधिराग्नि में रयिरूप पितृसोम आहुत होकर संवत्सर के अनन्तर '**प्रजा**' रूप में परिणत हो गया । इसलिए उचित है कि अब उत्पन्न प्रजा का स्वरूप जाना जाय । हम मनुष्य में–ज्ञान, क्रिया–दो भागों का, साथ ही में तीसरे अर्थ (भूत) का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं । हम जानते हैं कि यह जानना-भाग ज्ञान है । इसी ज्ञान से सर्वत्र प्रकाश हो रहा है । और तो और, त्रैलोक्य के अन्धकार को दूर करने का घमण्ड रखने वाला स्वयं सूर्य्य भी हमारी ज्ञानज्योति से प्रकाशित है । जिस दिन यह ज्ञानज्योति तिरोहित हो जाती है, उस दिन हमारे लिए संसार अन्धकारमय हो जाता है । सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत्, तारक आदि सारी भूतज्योतिएँ हमारे अन्तर्जगत् के लिए हमारी ज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं । उसी ज्ञान से हमें घटपटादि-वस्तुजात का भान होता है । तो बस, जिस आध्यात्मिकतत्त्व से हम जगत् को प्रकाशित देख रहे हैं, जिसके बल पर–'**अहं जानामि**'–यह अक्षर बोलने का अभिमान करते हैं–वही सबसे पहली–'**ज्ञान-शक्ति**' है ।

दूसरी है –'**क्रियाशक्ति**' । हम निरन्तर कुछ न कुछ करते रहते हैं, एक क्षण भी चुप नहीं रह सकते हैं । खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, हँसते हैं–आदि आदि व्यापारों से

सदा युक्त रहते हैं । अङ्गप्रत्यङ्ग में क्रिया हो रही है । भुक्तान्न रस बन रहा है । रस असृक् बन रहा है । असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा आदि स्वरूपों में परिणत होता हुआ शुक्र बन रहा है । शुक्र ओज में परिण्त होता हुआ मन बन रहा है । मन ज्ञान द्वारा–क्रिया द्वारा खर्च हो रहा है । फिर अन्न आता है । अन्न से ऊर्क्, ऊर्क् से प्राण, प्राण से मन–यह यज्ञचक्र निरन्तर चल रहा है । इस चक्र का आधार वही ज्ञानशक्ति है । इस ज्ञानरूप स्थिर-शान्त धरातल पर ये क्रियाएँ हो रही हैं । यही आध्यात्मिक जगत् की दूसरी क्रियाशक्ति है । क्रिया-शक्ति का काम भूतनिर्म्माण करना है । शरीर के धातु इसी व्यापार से उत्पन्न होते हैं ।

तीसरी है–'**अर्थशक्ति**' । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश–इन पाँचों की समष्टि ही 'अर्थ' है । ये अर्थ गुणभूत और भौतिकभूत भेद से दो प्रकार के हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द–ये पाँचों अर्थ गुणभूत हैं । ये ही क्रमशः उत्तरोत्तर की चिति से अणु, रेणु, महारूप में परिणत होते हुए भौतिक भूतस्वरूप में परिणत हो रहे हैं । इन्हें पृथिवी आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है एवं गुणभूतों को पृथिवीमात्रा आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । इस विषय का विशद विवेचन हम चौथे प्रश्न में करने वाले हैं, अतएव उसे यहाँ नहीं बढाते । यहाँ पर केवल यही बतलाना है कि हमारे में भूत भी हैं । शरीर पञ्चमहाभूतों का पिण्ड है । मांस, अस्थि, केश, नाखून आदि जितने घनभाग हैं–सब पृथिवीभूत हैं । रुधिर, कफ, लाला, पित्त रस, मूत्र, रेत आदि जितने तरल पदार्थ हैं–सब जलभूत हैं । शरीर में जो गर्मी है–वही तेज है । श्वास-प्रश्वासरूप प्राणवायु धमनियों में व्याप्त होकर सर्वाङ्ग शरीर का संचालन करने वाला वायु वायुभूत है । शरीर की नाड़ी आदि के सुषिर आकाशभाग है । इस प्रकार हम इस शरीर में पाँचों भूतों को प्रत्यक्ष देख रहे हैं । इन पाँचों की समष्टि ही अर्थशक्ति है । बस, इन तीन के अलावा चौथी चीज नहीं है । 'हम' ज्ञान, क्रिया, अर्थ–तीनों के पुद्गल हैं । कठोपनिषत् में बतला दिया गया है कि हमारा निर्म्माण ईश्वरीय देवसत्य से हुआ है । वह ईश्वरीय देवसत्य–वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक है । वैश्वानर पार्थिव है, वही अर्थशक्ति है । हिरण्यगर्भ आन्तरिक्ष्य है–वही क्रियाशक्ति है । सर्वज्ञ द्युस्थानीय है–वही ज्ञानशक्ति है । सर्वज्ञ इन्द्र है । हिरण्यगर्भ वायु है–वैश्वानर अग्नि है । तीनों स्तोम्य त्रिलोकी की वस्तु हैं । इन तीनों से अतिरिक्त पिण्ड पृथिवी है । पिण्डपृथिवी भूमि है । वैश्वानर सहस्रपात् है । हिरण्यगर्भ सहस्राक्ष है । सर्वज्ञ सहस्रशीर्ष है । यही ईश्वरविराट् है । जीव इसी का अंश है, अतएव जो स्थिति ईश्वरविराट् की है–वही जीवविराट की है । ईश्वरविराट् के पृथिवीभाग से इसका शरीर बना है । वैश्वानरभाग से शरीर की गर्मी बनती है । दोनों अर्थशक्ति हैं । हिरण्यगर्भ भाग से तैजस आत्मा बनता है–यह क्रियाशक्तिमय है । सर्वज्ञ से प्राज्ञ आत्मा बनता है–यह ज्ञानशक्तिमय है । तीनों की समष्टि भोक्तात्मा है–यही जीवात्मा है । जीवप्रपञ्च का ज्ञानशक्तिस्वरूप प्राज्ञभाग प्रकाशक है । तैजसयुक्त भूतभाग विधारक है । इस भूतग्राम ने शरीरयष्टि को खड़ा कर रखा है । 'कठोपनिषत्' में बतला दिया गया है कि प्राज्ञभाग चान्द्रप्रज्ञान से युक्त होता हुआ '**प्रज्ञानात्मा**' कहलाने लगता है । इस प्रज्ञानात्मा की रश्मिएँ ही इन्द्रिएँ हैं । वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन (इन्द्रिय-मन)–पाँचों प्रज्ञान की रश्मिएँ हैं, अतएव प्रज्ञानमन को सर्वेन्द्रियमन कहा जाता है । यही प्रज्ञरूप प्रज्ञान

ज्ञानशक्तिमय है। यह पाँच इन्द्रियों के स्वरूप में परिणत होकर प्रकाशक बनता है। ज्ञानशक्तिप्रकाशिका है, परन्तु इन्द्रियों के द्वारा। चक्षु से रूप-ज्ञान होता है। श्रोत्र से शब्दज्ञान होता है। प्राण (घ्राण) से गन्धज्ञान होता है। रसना से रसज्ञान होता है। मन से सुखदुःख का अनुभव होता है। प्रज्ञान उक्थ है, इन्द्रिएँ अर्क हैं। सूर्य्य प्रकाश नहीं करता, अपि तु—रश्मिएँ प्रकाश करती हैं। परन्तु इनका मूल है सूर्य्य—इसलिए उसे भी प्रकाशशक्ति से अलग नहीं किया जा सकता है। तथैव प्रज्ञामय इन्द्रियों को ही प्रकाश कहना उचित होगा। ये इन्द्रिएँ प्राणग्राम हैं—यही प्रकाशक है एवं पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—पाँचों भूत भूतग्राम हैं—यही विधारक है। शरीररूप भूतग्राम के आधार पर ही इन्द्रिएँरूप प्राणग्राम स्थित है। सर्वज्ञादिरूप आत्मग्राम स्थित है। दोनों का विधारक भूतग्रामरूप शरीर है। इसी अभिप्राय से मैत्रीश्रुति कहती है—

"भगवन् शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं, संविदपेतं, निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं, मांसेनानुलिप्तं, चर्म्मणावबद्धं, विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णमेतादृशे शरीरे (प्राणग्रामात्मक आत्मग्रामस्य) वर्त्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिः"—इति ॥[1]

इसी आधारभाव के कारण कठ ने शरीर को रथ बतलाया है। यह हैं—प्राकृतिक स्थिति।

भार्गव वैदर्भि ने प्रश्न किया था कि इस अध्यात्मप्रजा का कौन विधारक है? कौन प्रकाशक है? कौन इनमें श्रेष्ठ है? इनमें से दो प्रश्नों का उत्तर हो चुका। महर्षि पिप्पलाद कहते हैं कि—आकाश, देव, वायु, अग्नि, आपः, पृथिवी—वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र—इतने देवता (पाँच भूत, चार देवता), प्रजा को प्रकाशित करते हुए परस्पर में अभिमान करते हुए कहते हैं कि—हम ही इस बाण (शरीरयष्टि) का संयमन करके प्रजातन्त्र का विधारण कर रहे हैं। हम ही प्रकाशक हैं—हम ही विधारक हैं।

स्थूलदृष्टि से देखने पर मालूम भी ऐसा ही होता है। इन्द्रिएँ ही प्रकाशक हैं। भूतग्राम विधारक है। ऋषि ने 'प्राण' को छोड़ दिया है। केवल—वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र—चार का ग्रहण किया है। आगे जाकर ऋषि को इस प्राण की वरिष्ठता बतलानी है। इसी को प्रकाशक और विधारक बतलाना है, इसलिए प्राण का पूर्वोत्तर में परित्याग है। चक्षु, श्रोत्र, मन—तीन की प्रकाशकता में तो किसी को संदेह है ही नहीं। बाकी बचते हैं—वाक् और प्राण। 'वाक्' भी ज्योति है। पाँच ज्योतियों में वाक् को भी ज्योति माना गया है। वाक् का जो रसना-भाग है—वह तो रसज्ञानरूप होने से प्रकाशक है ही, परन्तु शब्दभाग भी प्रकाशक है। शब्द से वस्तु का बोध होता है। एवमेव प्राण भी प्रकाशक है। प्राण का घ्राणभाग तो गन्धज्ञान के कारण प्रकाशक है ही, परन्तु क्रियाभाग भी प्रकाशक है। 'वातो

१—मैत्र्युप० १।३।

देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः'' [1]—इस सिद्धान्त के अनुसार प्राणवायु ज्ञान का उत्पादक बन जाता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों का प्रकाशकपना सिद्ध हो जाता है। भूतों का विधारकपना तो प्रत्यक्ष ही है। इन पाँचों इन्द्रियों को '**प्राणाः**' कहा जाता है। ये पाँचों प्राण आपस में 'मैं बडा, मैं बडा'—इस प्रकार से स्पर्द्धा किया करते हैं। इसी को '**प्राणश्रेयस्त्व**' विद्या कहा जाता है। इसका स्पष्टीकरण हम अनुपद में ही करने वाले हैं। इन पाँचों इन्द्रियप्राणों में प्राण नाम का प्राण—मुख्य प्राण का ही विकास स्वरूप है, अतएव ऋषि ने इसे अलग निकाल दिया है।

इन प्राणों की गुत्थी सुलझना बडा ही कठिन है। प्राण शब्द एक है—इसके स्वरूप अनेक हैं। प्राणविद्या 'पशुविद्या और आत्मविद्या' से भी कठिन है। पहले प्राणविद्या—कठिन और उस पर भी ऋषियों की संक्षिप्त भाषा। ऋषि बहुत कम बोलते हैं। महा-महा विषयों का दो-चार अक्षरों से निरूपण करते हैं—यह दूसरी कठिनता है। इस कठिनता को न अनुवाद से और न ही अध्ययनाध्यापन से दूर किया जा सकता है। मनन-निदिध्यासन ने चिरकाल के बाद—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः०**' के अनुसार स्वयं उपनिषत्पुरुष ही इस कठिनता को दूर करने में समर्थ हैं। हम अनुवाद नहीं करते—अपने उद्गार निकालते हैं। संभव है—इनसे उपनिषत्-प्रेमियों को मनन-निदिध्यासन से कुछ मिल जाय।

उपनिषत् के प्रारम्भ में बतलाए गए—१-परोरजा, २-आग्नेय, ३-वायव्य, ४-सौम्य, ५-आप्य—इन पाँचों प्राणों का स्मरण कीजिए। इन पाँचों में परोरजाप्राण आत्मप्राण है। यह अव्यय का प्राण-भाग है। स्वयम्भू में आकर विकास को प्राप्त होकर वही अव्ययप्राण यजुःप्राण बनता हुआ '**परोरजा**' नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी को '**अव्यक्त प्राण**' कहा जाता है। पाँचवें प्रश्न में इसी अव्यक्त-प्राण का ओंकारस्वरूप से निरूपण किया गया है। इसका निरूपण विस्तार के साथ वहाँ होने वाला है; अतः प्रकृत में उसे छोडते हैं। शेष चारों प्राणों की ओर (जो प्राण अपेक्षा से पशुप्राण कहे जा सकते हैं) आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। इन चारों प्राणों के दो विभाग समझिये। एक ऋतप्राण है, दूसरा सत्यप्राण है। ऋतप्राण रयि है, सत्यप्राण प्राण है। ऋतप्राण भृगु है, सत्यप्राण अंगिरा है। भृगु की तीन अवस्थाएँ ही आपः, वायु, सोम हैं। अंगिरा की तीन अवस्थाएँ ही—अग्नि, यम, आदित्य हैं। इस प्रकार घन-तरल-विरलावस्था में—ऋतरयि, सत्यप्राण के—आप्य, वायव्य, सौम्य, आग्नेय, याम्य, आदित्य—ये ६ प्राण हो जाते हैं। प्रथम प्रश्न में इन ६ओं का रयिप्राणरूप से—उन्मुग्धरूप से निरूपण किया गया है। आगे के प्रश्नों में इन्हीं की उद्बुद्धावस्था का निरूपण है। इन ६ओं प्राणों में से—'**ऋतत्रयी**' स्नेहतत्त्व है। सत्यत्रयी 'तेजस्तत्त्व' है। बस, स्नेह और तेज भेद से सृष्टि में कुल दो ही तत्त्व हैं। दो ही प्राण हैं। स्नेह आर्द्रतत्त्व है—शीततत्त्व है, तेज शुष्कतत्त्व है—ऊष्मा तत्त्व है। सर्दी-गर्मी, आग-पानी, स्नेह-तेज, आग्नेय-सौम्य, शुष्क-आर्द्र—कुछ भी कहो एक ही बात है। ऋतत्रयी अन्न है, सत्यत्रयी अन्नाद है। एक पत्नी है—एक पति है। एक योषा है—एक वृषा है। दोनों के मिथुन से सारा संसार बना है। निम्नलिखित बारहों युग्म एक वस्तु हैं—

१—शत० ब्रा० ३।४।२।७।

(१)–१-ऋत, २-सत्य	(७)–१-योषा, २-वृषा
(२)–१-रयि, २-प्राण	(८)–१-शुक्र, २-शोणित
(३)–१-सोम, २-अग्नि	(९)–१-अन्न, २-अन्नाद
(४)–१-भृगु, २-अंगिरा	(१०)–१-स्नेह, २-तेज
(५)–१-आर्द्र, २-शुष्क	(११)–१-सर्दी, २-गर्मी
(६)–१-पत्नी, २-पति	(१२)–१-रात्रि, २-अहः

दृष्टिभेद से वही ऋत-सत्यप्राण ब्राह्मणग्रन्थों में भिन्न-भिन्न स्थानों में इन भिन्न-भिन्न नामों से प्रयुक्त हुआ है । जैसा कि उदाहरण के लिए दो-तीन वचन बतला दिए जाते हैं—

१–"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । आर्द्रं चैव शुष्कं च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत् सौम्यम्'–इति" ।[1]

२–"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–अत्ता चैवाद्यं च । स वै यः स अत्ता अग्निरेव सः । आदित्यो वा अत्ता । तस्य चन्द्रमा एव आहितयः । प्राणो वा अत्ता तस्यान्नमेवाहितयः" ।[2]

३–"योषा वै वेदिः ।[3] वृषाग्निः ।[4] योषा वै पत्नी ।[5] पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तस्यां रेतः सिञ्चति ।[6] योषा हि वाक् ।[7] वागिति हि स्त्री" ।[8]

४–"द्वयं वा इदं सर्वं–स्नेहश्चैव तेजश्च । तद्व भुवमहोरात्राभ्यामाप्तम्"– इत्यादि ।

इस प्रकरण से बतलाना हमें यही है कि परोरजा प्राण के अतिरिक्त जितने भी अवान्तर प्राण हैं–उन सबका इन रयिप्राणरूप ऋतसत्यप्राणों में अन्तर्भाव है । सचमुच ऋषि ने अपने प्राणोपनिषत् में इन दो का निरूपण करते हुए सारे प्राणों का निरूपण कर उपनिषत् के नाम को चरितार्थ कर दिया है । ऋतसत्यप्राण की हमने छः अवस्थाएँ बतलाई हैं । उन छओं की निम्नलिखित क्रम से तत्तल्लोकों में प्रधान रूप से सत्ता समझनी चाहिए—

१–शत० ब्रा० १।६।२।२३ ।
२–शत० ब्रा० १०।६।२।१-४ ।
३–शत० ब्रा० १।३।३।८ ।
४–शत० ब्रा० १।१।१।१८ ।
५–शत० ब्रा० १।३।१।१८ ।
६–शत० ब्रा० २।४।४।२३ ।
७–शत० ब्रा० १।४।४।४ ।
८–जै० उप० ४।२२।११ ।

१–परोरजाप्राण	–	स्वयम्भूमण्डल में	–	ऋषिप्राण ।
२–आप्यप्राण	–	परमेष्ठी में–अन्तरिक्ष में	–	आसुरप्राण ।
३–वायव्यप्राण	–	परमेष्ठी में–अन्तरिक्ष में	–	नाष्ट्राप्राण ।
४–सौम्यप्राण	–	परमेष्ठी में–अन्तरिक्ष में–चन्द्रमा में	–	पितरप्राण ।
५–आदित्यप्राण	–	सूर्य्य में	–	देवप्राण ।
६–याम्यप्राण	–	रोदसी के अन्तरिक्ष में	–	नाष्ट्राप्राण ।
७–आग्नेयप्राण	–	पृथिवी में	–	वैश्वानरप्राण ।

प्राणजगत्

	१–परोरजा प्राण	– स्वयम्भू में	– ऋषिप्राण–	–	१२
स्नेह ऋतप्राण (रयि)–१	१–आप्य प्राण	– परमेष्ठी में– अन्तरिक्ष में–	आसुरप्राण	–	९९
	२–वायव्य प्राण	– परमेष्ठी में– अन्तरिक्ष में–	नाष्ट्राराक्षसप्राण	–	–अनन्त
	३–सौम्य प्राण	– परमेष्ठी में– अन्तरिक्ष में–	पितरप्राण	–	८
		चन्द्रमा में–	गन्धर्वप्राण	–	२७
तेज सत्यप्राण (प्राण)–२	१–आदित्यप्राण	– सूर्य्य में –	देवप्राण	–	३३
	२–याम्यप्राण	– रोदसी के अन्तरिक्ष में –	नाष्ट्रराक्षसप्राण	–	अनन्त
	३–आग्नेयप्राण	– पृथिवी में –	वैश्वा०पुरुष-प्राण	–	१
			पञ्च पशुप्राण	–	५
					१८५ प्राण

ऊपर की तालिका से पाठकों को यह भलीभाँति विदित होगा कि ऋतसत्यात्मक-रयिप्राण नाम से प्रसिद्ध–स्नेह, तेजोरूप दो प्राणों में वैदिक विज्ञान के अवान्तर सारे प्राणों का अन्तर्भाव हो जाता है। ये सब 'प्राणाः' हैं एवं वह परोरजाप्राण 'प्राण' है। इन छओं में से आदित्यादि तीनों अंगिरा-प्राणों को हम इस उपनिषत् में आग्नेयप्राण कहेंगे एवं ऋतप्राणों का भिन्न-भिन्न रूप से उल्लेख करेंगे। इस क्रम को प्रधान मानने के कारण ही हमने प्रारम्भ में प्राणों के–१-परोरजा, २-आग्नेय (आग्नेय, आदित्य याम्य), ३-आप्य, ४-वायव्य, ५-सौम्य–ये पाँच विभाग बतलाए हैं। इन पाँचों में से परोरजा को पाँचवें प्रश्न के लिए छोड़ दीजिए। शेष चार प्रश्न बचते हैं। चारों में प्रथम प्रश्न में इन चारों का उन्मुग्ध

रूप से (रयिप्राणरूप से) निरूपण है एवं शेष तीन प्रश्नों में–दूसरे में आग्नेय प्राण का (मुख्यरूप से सौर प्राण का) निरूपण है। तीसरे प्रश्न में–सौम्यप्राण का निरूपण है, चौथे में वायव्यप्राण का निरूपण है। आप्यप्राण को छोड दिया गया है। इसका कारण यही है कि आप्यप्राण से भूत उत्पन्न होते हैं। इस उपनिषत् में प्राण की प्रधानता है, अतएव यहाँ भूतप्रधान आप्यप्राण को छोड दिया गया है।

सर्वभूतान्तरात्मा नाम से प्रसिद्ध साक्षी ईश्वर में पूर्वोक्त सारे प्राण रहते हैं–जैसा कि 'कठोपनिषत्' में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। ईश्वर के स्वयम्भू-भाग में परोरजाप्राण रहता है। परमेष्ठीभाग में–आप्य, वायव्य, सौम्य प्राण रहते हैं। सूर्य्य में आदित्यप्राण रहता है। चन्द्रमा में गन्धर्वप्राण रहता है। अन्तरिक्ष में याम्यप्राण रहता है एवं पृथिवी में आग्नेय-वैश्वानर एवं पञ्चपशु-प्राण रहते हैं। ऐसे ईश्वर का उदक्तरूप यह जीव है।

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते'–इस सिद्धान्त के अनुसार जीव पूर्णेश्वर का उदक्तरूप है। जो स्वरूप ईश्वर का है–वही जीव का है। जो आत्म, प्राण, पशु संस्था ईश्वर में है–वही जीव में है। आत्माभाग का विचार कठ में किया जा चुका है। ईश्वर के स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी सर्वभूतान्तरात्मा–इस जीवशरीर में–अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, शरीर 'भूतात्मा' नाम से प्रसिद्ध हैं। बाकी बचती है–प्राण-संस्था और पशु-संस्था। इन दोनों में से पशु-संस्था को अप्राकृत समझकर छोडते हैं। इसका निरूपण 'कठोपनिषत्' में ही देखना चाहिए। हमें यहाँ केवल प्राण-संस्था का विचार करना है। देखना यह है कि यह प्राण अध्यात्म में किस-किस रूप से प्रतिष्ठित होते हैं ? यद्यपि इस प्रश्न का समाधान आगे आने वाले तीसरे प्रश्न में स्वयं पिप्पलाद ही करने वाले हैं–तथापि प्रसंगात् यहाँ भी हम उसका संक्षिप्त निरूपण कर देना उचित समझते हैं—

शरीर पर दृष्टि डालिए। सबसे नीचे पैर हैं, सबके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है। इतनी दूर में इन प्राणों को बैठाना है। दक्षिण पैर का जो प्रपद (फाबा) स्थान है–वहाँ से हृदय तक एक विभाग समझिए। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक एक विभाग समझिए। इन दो विभागों में हृदय से नीचे का भाग पार्थिव है। ऊपर का भाग दिव्य है। हृदय स्वयं अन्तरिक्ष है। यही शारीर त्रिलोकी है। इस त्रिलोकी में प्रपद से हृदय तक आप्यप्राण प्रतिष्ठित है, हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक सौम्यप्राण प्रतिष्ठित है। हृदय में वायव्यप्राण प्रतिष्ठित है। ये तीनों भाग 'रयि' है, क्योंकि भृगुरूप रयि की ही आपः वायु, सोम–तीन अवस्था हैं। शरीर मूर्त्ति है। रयि ही मूर्त्ति-निर्म्माण करती है। यह कहा जा चुका है। इस रयिमूर्त्ति के अधोभाग में रयि का आप्यभाग प्रतिष्ठित है। ऊर्ध्वभाग में रयि का सौम्यभाग प्रतिष्ठित है एवं मध्य भाग में रयि का वायव्यभाग प्रतिष्ठित है एवं सर्वाङ्गशरीर (प्रपद से ब्रह्मरन्ध्र तक) में आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित है। शरीर को जहाँ से छूते हैं–वहीं से गरम पाते हैं। यह वही वैश्वानराग्निप्राण की गर्मी है। भृगु-अंगिरा–दोनों परमेष्ठी की वस्तु हैं। दोनों ऋत हैं। इसीलिए दोनों को 'आपः' कहा जाता है। भृगुभाग भी ऋत होने से तीन भागों में विभक्त होकर सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो रहा है एवं अंगिराभाग भी तीन रूप में परिणत होकर सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो रहा है। दोनों की व्याप्ति

'आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः'–के अनुसार नाखूनों के अग्रभाग और केशलोमों को छोडकर सर्वाङ्गशरीर में है। प्रपद से हृदय तक आग्नेयप्राण का आग्नेयभाग है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक आग्नेयप्राण का आदित्यभाग है। मध्य में आग्नेयप्राण का याम्यभाग है—

प्रपद से हृदय तक आप्यप्राण है–इत्यादि का यह अर्थ नहीं है कि शरीर के और भाग में आप्य-प्राणादि ही नहीं हैं। सब स्थानों में सब प्राण हैं। जैसे–पारमेष्ठ्य-सौरादि प्राण प्रत्येक पदार्थ में हैं तथैव यहाँ भी सब सब जगह हैं। केवल संस्थाभेद है। योनि, आशय, प्रतिष्ठा–प्रत्येक प्राण का तीन-तीन भावों से सम्बन्ध है। उत्पत्तिस्थान योनि है। स्थितिस्थान प्रतिष्ठा है एवं व्याप्तिस्थान आशय है। आप्यप्राण की योनि (उत्पत्तिस्थान) प्रपद है। प्रतिष्ठा प्रपद से हृदय तक है। आशय सर्वाङ्गशरीर है। ये ही तीनों स्थान आग्नेयप्राण के हैं। सौम्यप्राण की योनि हृदय है। प्रतिष्ठा हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक है। आशय सर्वाङ्गशरीर है। ये ही तीनों स्थान आदित्यप्राण के हैं। वायव्यप्राण की योनि उदर (अन्तरिक्षरूप खाली जगह–नाभि हृदय के बीच का स्थान) है। प्रतिष्ठा–उदर और हृदय (नाभि से हृदय तक का स्थान) है एवं आशय सर्वाङ्गशरीर है। ये ही तीनों स्थान याम्यप्राण के हैं—

१– [१–योनि —प्रपदस्थान
२–प्रतिष्ठा —प्रपद से हृदयपर्यन्त
३–आशय —सर्वाङ्गशरीर] →१–आप्यप्राण, २-आग्नेयप्राण=१-पृथिवी

२– [१–योनि —उदरस्थान
२–प्रतिष्ठा —नाभि से हृदयपर्यन्त
३–आशय — सर्वाङ्गशरीर] →१–वायव्यप्राण, २–याम्यप्राण=२–अन्तरिक्षम्

३– { १–योनि —हृदयस्थान
२–प्रतिष्ठा —हृदय से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त
३–आशय —सर्वाङ्गशरीर } →१–सौम्यप्राण, २–आदित्यप्राण=३–द्यौः

जिस स्थान पर प्राण उत्पन्न होता है–वही योनि है। जहाँ उत्पन्न होकर प्रतिष्ठित रहता है–वही प्रतिष्ठा है। जहाँ काम करता है–वह आशय है। इस परिभाषा के आने से ६ओं प्राणों की सारे शरीर में व्याप्ति सिद्ध हो जाती है–जिसका कि हमें प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इन ६ओं के कारण हम शरीर को षाट्कौशिक कह सकते हैं। ६ओं में तीन रयिभाग होते हैं। तीन प्राणभाग हैं। आधा भाग पिता का है, आधा भाग माता का है। दोनों के योग से यह शरीर खड़ा है। इन सबका मूल-आप्यप्राण और आग्नेयप्राण है। इस पर वायव्य और याम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। इनके ऊपर सौम्य प्राण, आदित्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। सबके मूलभूत होने से ही पहला युग्म **'मूलाधार'** कहलाता है। यही मूलात्मा है। मध्य का भाग हंसात्मा है। ऊर्ध्वभाग शिवात्मा है। एक मूलात्मतन्त्र है, एक हंसात्मतन्त्र है एवं एक शिवात्मतन्त्र है। इन तीनों तन्त्रों के क्रमशः–विष्णु, ब्रह्मा, शिव–तीन तन्त्रायी हैं। तीन महकमे हैं। तीनों के तीन ऑफिसर हैं। तीनों का कर्म्म बिल्कुल पृथक्-पृथक् है। प्रपद से प्रविष्ट होने वाला अग्निगर्भित आप्यप्राण विष्णु है। विष्णु स्वयं अग्निरूप है। परन्तु यह आपोमण्डल में सुप्त है। वह आपोमय समुद्र यही आप्यप्राण है। यही प्रपद से घुसकर पहले यह मूलाधार में जाते हैं। यह इनकी पहली उछाल है। मूलाधार से नाभि में जाते हैं। यह दूसरा विक्रम है। यहाँ से हृदय पर जाते हैं, यह तीसरा विक्रम है। यही त्रिविक्रमावतारधारी आप्यप्राणगर्भित आग्नेयप्राणरूप विष्णु इस पहले तन्त्र के अध्यक्ष हैं। इस पृथिवीरूप प्रथमतन्त्र में ही विष्णु के तीन लोक हैं। प्रपद से मूलाधार तक पृथिवीलोक है। मूलाधार से नाभि तक अन्तरिक्षलोक है, नाभि से हृदय तक दिव्यलोक है। तीन विक्रम से तीनों लोकों को अपने अधिकार में कर रखा है—

१–प्रपद से मूलाधार तक —पृथिवी —प्रथम विक्रम
२–मूलाधार से नाभि तक —अन्तरिक्ष —द्वितीय विक्रम
३–नाभि से हृदय तक —द्यौ —तृतीय विक्रम } →त्रिविक्रमावतारधारी-विष्णुस्तन्त्रायी

उदर से हृदय तक दूसरा तन्त्र है। यहाँ पर वायव्यप्राणविशिष्ट याम्यप्राण की सत्ता है। यम संयमन करने वाला स्थित-प्राण है। स्थिति-तत्त्व ही ब्रह्मा है। इस हृदयस्थित वायव्यप्राण का काम है–अर्वाक्-पराक्भाग का संयमन करना। **'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'**–के अनुसार इसी केन्द्रप्रजापति के आधार पर नीचे ऊपर का भाग स्तम्भ है–स्थित है। हृदय नहीं तो कुछ नहीं। हृदय ही सारे शरीर की प्रधान प्रतिष्ठा है। इसी नियमन के कारण **'हृ-द-यम्'**–तीनों में से 'यम्' को

ब्रह्मा माना जाता है। वह हमारा यही याम्यप्राण है–यही ब्रह्मा है। दूसरे तन्त्र का अध्यक्ष यही है। इसी से प्रजा-निर्म्माण होता है। खून के संचार से सारे शरीर की पुष्टि होती है–मांसमेदादि का निर्म्माण होता है। उस रक्तशुद्धि का प्रधान केन्द्र हृदयस्थान है। इसी विज्ञान के आधार पर **'रक्त-वर्णं ब्रह्माणं हृदि ध्यायेत्'** कहा जाता है।

इसके बाद है–तीसरा तन्त्र। तीसरे तन्त्र के अध्यक्ष शिव हैं। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक तीसरा तन्त्र है। यहाँ पर सौम्यप्राणविशिष्ट आदित्यप्राण की सत्ता है। आदित्य सौरभाग होने से साक्षात् रुद्र है। **'असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः'**। **'अग्निर्वा रुद्रः'**–इत्यादि श्रुतिवचन आदित्यप्राणाग्नि को रुद्र बतलाते हैं। यह रुद्र उस सौम्यप्राण के सम्बन्ध से 'शिव' बन जाता है। विना सोम के रुद्र-रुद्र है–विनाशक है। वही सोमसम्बन्ध से शिव है–रक्षक है। इस तीसरे मन्त्र के तन्त्रायी यही ज्ञानमूर्त्ति शिव हैं। यह ज्ञानप्रधान है, अतएव चेतना हृदय से ऊपर ही उल्बण है। ब्रह्मा क्रियाप्रधान है, अतः अन्नादि का परिपाकरूपा क्रिया हृदय के नीचे उदरस्थान में होती है। विष्णु अर्थप्रधान है, अतएव सारे अर्थ मूलाधार पर प्रतिष्ठित हैं। विष्णु पार्थिव है, ब्रह्मा आन्तरिक्ष्य है। शिव दिव्य है। तीन लोक हैं। तीन लोकी हैं। अग्नि, वायु, इन्द्र कहो; विष्णु, ब्रह्मा, शिव कहो–एक ही बात है। कहीं-कहीं विष्णु की सत्ता नाभि में बतलाई जाती है एवं शिव की सत्ता ललाटप्रदेश में–भ्रू और घ्राण की सन्धि में बतलाई जाती है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। अर्थ, क्रिया, ज्ञान भेद से शरीर में तीन प्रजातन्त्र हैं। तीनों के विष्णु, ब्रह्मा, शिव तीन प्रजापति हैं। **'प्रजापतिश्चरति गर्भे०'** के अनुसार प्रजापति प्रजातन्त्र के मध्य में रहता है। पहले तन्त्र में मूलाधार, नाभि, हृदय-तीन विभाग हैं। तीनों का केन्द्र नाभि है। प्रधानरूप से (उक्थरूप से) विष्णु यहीं रहते हैं। यहीं से नीला रस निकलकर सारे शरीर में जाता है। जिनमें यह नीला रस व्याप्त रहता है–वे शिराएँ कहलाती हैं। उनका निर्गम नाभिद्वार से है। इसी अभिप्राय से–**'नीलवर्णं विष्णुं हृदि ध्यायेत्'**–कहा जाता है एवं तीसरे तन्त्र में–हृदय, भ्रूसन्धि, ब्रह्मरन्ध्र–तीन विभाग हैं। इसमें भ्रूसन्धि केन्द्र है, अतएव शिव-सत्ता ललाटप्रदेश में बतलाई जाती है। इसी के पास 'भेजा' है–यही आध्यात्मिक यज्ञ का पुरोडाश है। यह शुक्ल है। ज्ञान-ज्योति ज्योति होने से शुक्ल है, अतएव शिव के लिए **'श्वेतवर्णं शिवं ललाटे ध्यायेत्'** यह कहा जाता है। कहना यही है कि शरीर में पृथक् तीन तन्त्र हैं, तीनों के तीन तन्त्रायी हैं—

१–अर्थतन्त्र	—प्रपद से हृदय तक	–(अग्निः)	—विष्णुस्तन्त्रायी
२–क्रियातन्त्र	—उदर से हृदय तक	–(वायुः)	—ब्रह्मा तन्त्रायी
३–ज्ञानतन्त्र	—हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक	–(इन्द्रः)	—शिवस्तन्त्रायी

तीनों हैं–पृथक्, परन्तु तीनों का एकत्र समन्वय देखा जाता है। तीनों परस्पर बद्ध होकर काम कर रहे हैं। इन तीनों को परस्पर में बाँधने वाला कौन ? वही परोरजा व्यापक प्राण। स्वयम्भूप्राण परोरजा है–उसके सूत्र ने (प्राण से) इसे एक सूत्र से बद्ध कर रक्खा है। यह प्राण भी

वायुरूप ही है । आकाश-वायु, वाक्-प्राण एक ही बात है । परन्तु यह वायु प्राणवायु है । इसी सूत्र से सब बद्ध हैं । इसी अभिप्राय से तो–**'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्'**–इत्यादि कहा जाता है । विष्णु-ब्रह्मा-शिव (मूल-हंस-शिव)–ये तीनों आत्मप्रजापति हैं–अग्निरूप हैं । विष्णु अग्नि है । ब्रह्मा यम है । शिव आदित्य हैं । तीनों अग्नि सत्य हैं एवं तीनों की प्रजाभूत आप्य, वायव्य, सौम्य-प्राण ऋत हैं । इस ऋत-भाग का वेष्टन स्वयम्भू के ऋतसूत्र ने कर रक्खा है, सत्यभाग का वेष्टन सत्यसूत्र ने कर रखा है । स्वयम्भूसत्य ने इन दोनों सूत्रों से शरीर, प्राण और आत्मा–तीनों को बद्ध कर रक्खा है । शरीर मूर्त्ति है । रयिरूप होने से यह ऋत है । तीनों देवता अग्निमय होने से सत्य हैं । दोनों उसके दोनों सूत्रों से बद्ध हैं । इसी ऋतसत्यविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् व्यास कहते हैं—

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः" ॥[1]

पार्थिव प्राण को अपान कहा जाता है, आन्तरिक्ष्य प्राण को व्यान कहा जाता है । दिव्य प्राण को प्राण कहा जाता है । अपान, व्यान, प्राण–तीनों वे ही सुप्रसिद्ध आग्नेय, वायव्य, आदित्य प्राण हैं । तीनों का क्रमशः आप्य, वायव्य, सौम्यप्राण से सम्बन्ध है । पृथिवी पानी से बनी है, अतएव आप्यप्राण को हम पार्थिव अपान (आग्नेय) से बद्ध मानने के लिए तय्यार हैं । वायव्य प्राण आन्तरिक्ष्य है, अतएव आन्तरिक्ष्य वायव्यप्राण को हम आन्तरिक्ष्य व्यान (याम्य-ब्राह्म प्राणों) से बद्ध मानने के लिए तय्यार हैं । **'दिवि वै सोम आसीत्'**–के अनुसार सौम्यप्राण दिव्यलोक की वस्तु है, अतएव हम इसे दिव्यस्थानीय प्राण (आदित्यप्राण) से बद्ध मानने के लिए तय्यार हैं । दूसरे शब्दों में सौम्यप्राण सौर आदित्यप्राण के अधीन है । वायव्यप्राण आन्तरिक्ष्य व्यान के अधीन है एवं आप्यप्राण पार्थिव प्राण के अधीन है । होना भी ऐसा ही चाहिए, क्योंकि अपान, व्यान, प्राण तीनों अग्नि हैं । आप्य, वायव्य, सोम्य तीनों सोम हैं । सोम अन्न है–अग्नि अन्नाद है । अन्न पर सदा अन्नाद की ही सत्ता रहती है । **'तद्वा उभयं समागच्छति अत्तैवाख्यायते नाद्यम्'**–इस सिद्धान्त के अनुसार अपान, व्यान, प्राण–तीनों के ग्रहण से ही–आप्य, वायव्य, सौम्य–तीनों का ग्रहण कर लिया जाता है, अतएव श्रुति में इन तीनों का पृथक् उल्लेख कर केवल अपान-व्यान-प्राण को ही उद्धृत कर दिया जाता है । परन्तु तीनों के साथ इन तीनों का भी सम्बन्ध समझ लेना चाहिए—

प्राण						
	१–अपान (विष्णु) —	सोम	(आप्यप्राणयुक्त)	—अर्थशक्तिः	—(मूलात्मा)	– पृथिवी ।
	२–व्यान (ब्रह्मा) —		(वायव्यप्राणयुक्त	—क्रियाशक्तिः	—(हंसात्मा)	– अन्तरिक्षम् ।
	३–प्राण (शिव) —		(सौम्यप्राणयुक्त)	—ज्ञानशक्तिः	—(शिवात्मा)	– द्यौः ।

१–श्रीमद्भागवतपुराण १०।२।२६ ।

हमने बतलाया है कि अपानरूप आप्यप्राणयुक्त पार्थिव विष्णुरूप आत्मा प्रपद से घुसता है। इस विषय को विस्तारभय से अधिक नहीं बढाना चाहते। इसका विस्तृत विवेचन ऐतरेय आरण्यक में देखना चाहिए। अपान पार्थिव अग्निज्योति है। व्यान आन्तरिक्ष्य विद्युज्ज्योति है। प्राण दिव्य आदित्यज्योति है। इस पुरुष में ये ही तीन ज्योतिएँ हैं। इसी अभिप्राय से ऐतरेय कहते हैं—

"पुरुषो ह वा अयं सर्व आन्वं द्वे विदले भवतः—इत्याहुः। तस्येवमेव पृथिव्या रूपम्-इदं दिवः। तत्रायमन्तरेणाऽऽकाशो यथाऽसौ द्यावापृथिव्यावन्तरेणाऽऽकाशस्तस्मिन् ह अस्मिन्नाकाशे प्राण (व्यान) आयत्तः—यथाऽमुष्मिन्नाकाशे वायुरायत्तः। यथाऽमूनि त्रीणि ज्योतींषि, एवमिमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि" ॥[1]

यह है—पाँचों प्राणों की एक प्रकार की संस्था।

अब दूसरी संस्था की ओर हम अपने वेदप्रेमी पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं—

इन ६ओं प्राणों का प्रजापति 'व्यूहन' करते हैं। इस व्यूहन के कारण ही वे ६ओं प्राण सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। अब तक जिस संस्था का स्वरूप हमने बतलाया है—उसे भूल जाइए एवं थोड़ी देर के लिए निम्नलिखित भिन्न संस्था के ऊपर दृष्टि डालिए—

वही शरीर आपके सामने है। पैरों से कटिभाग तक का भाग अलग निकाल दीजिए। ऊपर के दोनों हाथ अलग निकाल दीजिए। नीचे के दोनों पैर और ऊपर के दोनों हाथ पक्ष हैं। मध्य का धड़-आत्मा है। मस्तक श्री है। पुच्छभाग प्रतिष्ठा है। दो पक्ष, धड़, चित्यप्रजापति हैं। अग्नि के ही क्रमिक चिनाव से यह शरीर बना है। धड़ में अग्नि के चार भाग हैं। दो भाग पक्षों में हैं। एक भाग पुच्छ में है। सातों चित्याग्नियों की समष्टि ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है। इसका अमृतभाग शिर है। बस, धड़-पुच्छ-शिर—इन तीन को छाँट लीजिए एवं पक्षरूप हाथ-पैरों को छोड दीजिए। शेष भाग में उन ६ओं प्राणों को बैठाइए। शरीर गायत्राग्नि से बना है। गायत्राग्नि के आठ अक्षर हैं। आठ अवान्तर प्राण हैं। 'प्रादेशमितः प्राणः'—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राण प्रादेशमात्र (१०½ अंगुल) का है। इस प्रकार शरीर में कुल आठ प्रादेश हो जाते हैं। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक एक प्रादेश है। कण्ठ से हृदय तक दूसरा प्रादेश है। हृदय से नाभि तक तीसरा प्रादेश है। नाभि से मूलद्वार तक चौथा प्रादेश है। शेष चार प्रादेश पैरों तक विभक्त हैं। इनमें से नीचे के चार प्रादेश छोड दीजिए एवं मूलद्वार से ब्रह्मरन्ध्र तक के चार प्रादेश ले लीजिए। इन चारों प्रादेशों में हमें ६ओं प्राणों की सत्ता बतलानी है। मूलद्वार, नाभिद्वार, हृदयद्वार, कण्ठद्वार, ब्रह्मरन्ध्रद्वार भेद से इन चार प्रादेशों में प्रधानरूप से पाँच द्वार हैं। इनमें मूलद्वार से हृदयद्वार तक तो वही हमारे सुप्रसिद्ध पूर्वपरिचित

१—ऐ० आ० ३।१।२।

आप्यप्राण और अपानप्राण प्रतिष्ठित हैं। यह रयिप्राण का पहला युग्म है। नाभि से कण्ठद्वार तक वायव्यप्राण और व्यानप्राण प्रतिष्ठित हैं एवं हृदयद्वार से ब्रह्मरन्ध्र तक सौम्यप्राण और दिव्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार दो दो प्रादेशों में (२१–२१ अंगुल में) एक एक रयिप्राण के विभिन्नयुग्म की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पहला-तीसरा, दूसरा-चौथा, तीसरा-पांचवां, चौथा-छठा–इस प्रकार के सम्बन्ध को ही **'व्यूहन'** कहा जाता है। इस सम्बन्ध में एक दूसरे के सूत्र का परस्पर में ग्रन्थिबन्धन रहता है। इसी व्यूहन के कारण पार्थिव आप्य, अपान नाभि से कण्ठ तक रहने वाले वायव्य-व्यान से युक्त हैं एवं हृदय, से ब्रह्मरन्ध्र तक रहने वाले सौम्य, प्राण नाभि से कण्ठ तक रहने वाले वायव्य व्यान से युक्त हैं। मध्य का व्यान, पार्थिव अपान, दिव्यप्राण दोनों का अनुग्राहक है। इसीलिए तो इसके लिए–**'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'**–यह कहा जाता है।

					रयि	प्राण
१–मूलद्वार से	— हृदय तक	— आप्यप्राणयुक्त	— अपान	(पार्थिव प्राण)	— आपः,	अग्नि
२–नाभि से	— कण्ठ तक	— वायव्यप्राणयुक्त	—व्यान	(आन्तरिक्ष्य प्राण)	—वायु,	यम
३–हृदय से	—ब्रह्मरन्ध्र तक	— सौम्यप्राणयुक्त	—प्राण	(दिव्य प्राण)	—सोम,	आदित्य

यह है–इन ६ओं प्राणों की–दूसरे प्रकार की त्रैलोक्य-व्यवस्था। इस दूसरी व्यवस्था में ब्रह्मरन्ध्र से हृदय तक दो प्रादेश में द्युलोक है। कण्ठ से नाभि तक दो प्रादेश में अन्तरिक्षलोक है। हृदय से मूलद्वार तक दो ही प्रादेश में पृथिवीलोक है। पहली त्रिलोकी के व्यूहन से इस दूसरी त्रिलोकी का स्वरूप बनता है। अब इस दूसरी त्रिलोकी का भी फिर व्यूहन होता है। इस व्यूहन से मूलद्वार से ब्रह्मरन्ध्र तक पाँच प्रकार का त्रैलोक्य उत्पन्न हो जाता है। पार्थिवभूतमय अग्नि पृथिवी है, अन्तरिक्ष-वायु अन्तरिक्ष है। दिव्य इन्द्र द्युलोक है। इन तीनों की समष्टि त्रैलोक्य है। अध्यात्म में इनकी समष्टि पञ्चधा विभक्त है, अतएव हम पाँच त्रिलोकिएँ मानने के लिए तय्यार हैं। हम कह चुके हैं कि व्यूहन में एक दूसरे की कड़ी मिली रहती है, वही क्रम यहाँ समझना चाहिए। पहले मस्तक की ओर से प्रारम्भ कीजिए।

१–मूर्द्धाभाग द्यौ है–इसमें इन्द्र रहता है। सौरप्राण का आगमन द्वार यही है। यही मूर्द्धा द्वार, नान्दनद्वार, विदृति आदि नामों से प्रसिद्ध है। ललाट अन्तरिक्ष है। ललाट से शिरोगुहा अभिप्रेत है। मस्तक में तालु से नीचे खाली स्थान है। खाली स्थान अन्तरिक्ष है। यहीं साम्ब सदाशिव (शिवप्राणात्मक वायु) रहता है। यही इस त्रैलोक्य का अन्तरिक्ष है एवं कर्णपटी (कनपटी) पृथिवी है। कर्ण शब्दमय है। श्रोत्र के साथ ही शब्द का सम्बन्ध होता है। शब्द वाग्जन्य है। वाक् अग्नि है। कर्णपटी पर इसकी सत्ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि ज्वरावस्था में कनपटियें अत्यन्त गर्म हो जाती हैं, भड़कने लगती हैं; क्योंकि यह स्वाभाविक अग्निस्थान है। अग्नि शरीर में मूल वस्तु है, अतएव कर्णपटीस्थान को–**'मर्म्मस्थान'** कहा जाता है। चूँकि कर्णपटी अग्निमय है, अग्निस्थान पृथिवीलोक है, अतएव हम अवश्य ही इसे इस त्रैलोक्य को **'पृथिवीलोक'** कहने के

लिए तय्यार हैं । कर्णपटी पृथिवी है-इसमें आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपान (अग्नि) है । ललाटोपलक्षिता शिरोगुहा अन्तरिक्ष है । इनमें वायव्यप्राणयुक्त व्यान (यमाग्नि) है । मूर्द्धोपलक्षित ब्रह्मरन्ध्र द्यु है । इसमें सौम्य-प्राणयुक्त प्राण (आदित्येन्द्र) है । यही प्राणापानव्यानात्मिका पहली त्रिलोकी है ।

॥ १ ॥

२-कर्णपटी से नीचे चक्षु है । 'यथाऽसौ दिवि आदित्यः, एवमिदं शिरसि चक्षुः'[1]-के अनुसार आदित्यप्राणरूप चक्षुरिन्द्रिय द्युलोक है । यह सौम्यप्राणयुक्त आदित्यप्राण से युक्त है । इसीलिए तो इसमें रूपप्रत्यक्ष करने की शक्ति है । चक्षु के नीचे नासिका है । यही श्वास-प्रश्वासरूप वायुस्थान है, अतएव हम इसे अवश्य ही अन्तरिक्ष कहने के लिए तय्यार हैं । नासा के नीचे वाक् (जिह्वा) है । 'अग्निर्वाक् (जिह्वा) भूत्वा मुखं प्राविशत्'-के अनुसार जिह्वा सचमुच अग्निरूपा है, अतएव हम इसे अवश्य ही पृथिवीलोक कहने के लिए तय्यार हैं । इसमें आप्यप्राणयुक्त अपानप्राण की सत्ता है-यही दूसरी त्रिलोकी है ।

॥ २ ॥

३-मुख द्युलोक है । इसमें सौम्यप्राणयुक्त आदित्यप्राण की सत्ता है । ग्रीवोपलक्षित कण्ठनलिका अन्तरिक्ष है । इसमें वायु का संचार होता है । इसमें वायव्यप्राणयुक्त व्यान की सत्ता है एव उरःस्थल (वक्षःस्थल) पृथिवी है । इसमें आप्यप्राणयुक्त अपान की सत्ता है-यही तीसरी त्रिलोकी है ।

॥ ३ ॥

४-कण्ठ द्युलोक है । जैसे मूलाधार में अपान है, हृदय में व्यान है तथैव कण्ठ में प्राण है । प्राण इन्द्र है । इन्द्रस्थान द्युलोक है, अतएव हम अवश्य ही कण्ठ को द्युलोक कहने के लिए तय्यार हैं । उरःस्थान अन्तरिक्ष है । हृदयस्थान वैश्वानराग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी है-यही चौथी त्रिलोकी है ।

॥ ४ ॥

५-'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'-के अनुसार प्राणात्मक प्रज्ञान का नाम 'इन्द्र' है । यह हृदयस्थान में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव हम हृदय को 'द्युलोक' मानने के लिए तय्यार हैं एवं उदर-उदरगुहारूप होने से अन्तरिक्ष है ही । स्वयं मूलाधार के पृथिवी होने में सन्देह किया ही नहीं जा सकता । यही पाँचवीं व्यूढत्रिलोकी है ।

॥ ५ ॥

संभव है-विज्ञान से अपरिचित साधारण मनुष्य इन त्रिलोकी-व्यवस्थाओं को कोरी कल्पना समझें । भले ही वे समझा करें, परन्तु जिस दिन वे इस रहस्य को समझेंगे-उस दिन उन्हें ये व्यवस्थाएँ

१-ऐत० आ० ३।१।२ ।

अवश्य ही माननी पड़ेंगी। जैसे महादशा, दशा, अन्तरदशा, सूक्ष्मदशा, सूक्ष्मान्तरदशा-आदिरूप से परमाणु तक दशाभोग होता है, एवमेव महात्रिलोकी, त्रिलोकी, अवान्तरत्रिलोकी आदिरूप से एक परमाणु में भी त्रैलोक्यभोग होता है। जर्रे जर्रे से तीनों लोकों के प्राणों की (कहीं उन्मुग्धरूप से-कहीं उद्बुद्धरूप से) सत्ता है। जहाँ तीनों प्राण हैं-वहाँ अवश्य ही त्रैलोक्यव्यवस्था बतलाई जा सकती है। वह महा प्रजापति-त्रैलोक्य-प्रजापति जिस प्रक्रिया से छोटे से छोटे पदार्थ में भी तीनों लोकों से युक्त होता हुआ घुस पड़ता है-वही प्रक्रिया **'व्यूहन'** नाम से प्रसिद्ध है। हमने तो पाँच ही व्यूहन बतलाए हैं। यदि इनका भी विचार किया जाय तो प्रत्येक व्यूहन में फिर अवान्तर अनेक व्यूहन हो सकते हैं-जिनकी सत्ता मानने में किसी भी वैज्ञानिक को जरा भी आपत्ति नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष है-एक हाथ ले लो-हाथ अर्थमात्रा है। उसमें क्रिया है-ज्ञान है। काँटा चुभोने से पीड़ा का अनुभव होता है। हाथ में गर्मी है। रक्तादिसंचाररूपा क्रिया है। हाथ स्वयं अर्थ है। अर्थभाग अग्निमयी पृथिवी है, क्रियाभाग वायुमय अन्तरिक्ष है, ज्ञानभाग इन्द्रमय द्युलोक है। हाथ ही का चाहे शरीर का एक परमाणु ले लो-उसमें भी आपको त्रैलोक्य-व्यवस्था मिलेगी—

'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह'-इस हमारे श्रौत-सिद्धान्त से कौन अपरिचित होगा ? यह प्राण अनेकरूप से अध्यात्म और अधिदैवत में प्रविष्ट है। इसकी अनन्त संस्था है। इसी आधार पर तो-**'बहुधा ह्येष निविष्टो यत् प्राणः'**-इत्यादि कहा जाता है।

अब तक हमने सात त्रिलोकिएँ बतलाई हैं। पहली त्रिलोकी का सम्बन्ध प्रपद से ब्रह्मरन्ध्र तक था, दूसरी का मूलद्वार से ब्रह्मरन्ध्र तक था-शेष पाँचों ऊपर बतला ही दी गई हैं। अब एक त्रिलोकी (जिसका कि प्रकृत उपनिषत् से सम्बन्ध है) बतलाकर हम इस त्रैलोक्य-प्रकरण को समाप्त करते हैं। मूलद्वार से ब्रह्मरन्ध्र तक निष्पन्न होने वाली दूसरी त्रिलोकी में हमने हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक द्युलोक बतलाया है। इस द्युलोक में सौम्यप्राण के आधार पर आदित्य सौरप्राण की सत्ता बतलाई है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक सोम-धरातल है। उस पर आदित्यप्राण प्रतिष्ठित है। इस केवल द्युलोक में ही त्रैलोक्य-विभाग हो जाता है।

श्रोत्र, चक्षु, प्राण (घ्राण), वाक्, मन-इन पाँचों का यह क्रम है। सबसे नीचे हृदय में मन है। ऊपर वाक् है। वाक् के ऊपर प्राण (नासा-प्राण) है। प्राण के ऊपर चक्षु है। चक्षु के ऊपर श्रोत्र है। श्रोत्रेन्द्रिय का निर्म्माण दिक्सोम से होता है। एवं मन भास्वरसोममय है। वाक् अग्निमय है। प्राण वायुमय है। चक्षु आदित्यमय है। इधर उधर (आद्यन्त में) मन-श्रोत्ररूप सोम है। उपक्रम (हृदय) में मन है। उपसंहार में (चक्षु के ऊपर) श्रोत्रेन्द्रिय है। बीच में अग्नि, वायु, आदित्यरूप वाक्, प्राण, चक्षु हैं। ये तीनों ही अग्नि हैं। अग्नि की ही घनावस्था का नाम अग्नि है, तरलावस्था का नाम वायु है, विरलावस्था का नाम आदित्य है, अतएव तीनों से निर्मित तीनों इन्द्रियों को हम **'अग्नि'** कहने के लिए तय्यार हैं। हृदय से श्रोत्र तक सौम्य प्राण वितत है। इसके ऊपर वाक्, प्राण, चक्षुरूप तीनों इन्द्रिएँ प्रतिष्ठित हैं। दूसरे शब्दों में सौम्यप्राण धरातल पर अग्नित्रयी प्रतिष्ठित है। हमने बतलाया कि ईश्वरशरीर के-स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, अन्तरिक्ष, पृथिवी, चन्द्रमा-ये ६ विभाग हैं। अन्त में निधन चन्द्रमा है, आदि में स्वयम्भू है। स्वयम्भू सर्वव्यापक आत्मा है। यह अध्यात्म में

ऋतसत्यसूत्ररूप से सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त है। जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। स्वयम्भू के नीचे परमेष्ठी है। परमेष्ठि-सोम दिक्-सोम कहलाता है। यही अध्यात्म में–'**दिशः श्रोत्रं**'–के अनुसार श्रोत्रेन्द्रियरूप से परिणत होता है। परमेष्ठी के नीचे सूर्य्य है। यही–'**आदित्यश्चक्षुः**'–के अनुसार श्रोत्र परमेष्ठिरूप श्रोत्रेन्द्रिय से नीचे चक्षुरिन्द्रियरूप में परिणत होता है। सूर्य्य के नीचे अन्तरिक्ष है। यही '**वातः प्राणः**'–के अनुसार चक्षुरूप सूर्य्य के नीचे आकर प्राणरूप से प्रतिष्ठित होता है। अन्तरिक्ष के नीचे पृथिवी है। वही पार्थिवाग्नि–'**अग्निर्वाक्०**'–के अनुसार अन्तरिक्षरूप प्राण के नीचे आकर वाक्रूप में परिणत होता है। सर्वान्त में निधन चन्द्रमा है–वही–'**मनश्चन्द्रेण लीयते**'–के अनुसार वाक्रूप पृथिवी के नीचे हृदयस्थान में प्रतिष्ठित होकर मन नाम से प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार अधिदैवत के पाँचों देवता अध्यात्म में उसी रूप से प्रतिष्ठित होते हैं—

१–स्वयम्भू	—	सर्वव्यापी	—	ऋतसत्यमय आत्मा
२–परमेष्ठी	—	श्रोत्र	—	दिक्सोम (सोमधरातल)
३–सूर्य्य	—	चक्षु	—	आदित्य
४–अन्तरिक्ष	—	प्राण	—	वायु
५–पृथिवी	—	वाक्	—	अग्नि
६–चन्द्रमा	—	मन	—	भास्वरसोम (सोमधरातल)

इस क्रम में वाक्-अग्नि पृथिवीलोक है। प्राणवायु अन्तरिक्ष है। चक्षुरादित्य द्युलोक है। यही इस प्रकरण की आठवीं त्रिलोकी है।

एक बात और–पार्थिव अपान, सौर प्राण–दोनों गतिशील हैं। मध्य का व्यान स्थिर है। इस स्थिर व्यान पर प्राणापान का उपांशुसवन होता है। अपान ऊपर जाता है। इससे धक्का खाकर प्राण भी ऊपर चला जाता है। प्राण परकाष्ठा पर से वापस लौटता है। इससे ऊपर आया हुआ अपान नीचे जाता है। परकाष्ठा पर पहुँचकर फिर अपान ऊपर जाता हुआ प्राण को धक्का देकर ऊपर फैंक देता है। इस प्रकार व्यान के आधार पर प्राणापान का गमन, आगमन हुआ करता है। इस आगति और गति के भेद से अपान और प्राण की दो-दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। परन्तु ध्यान रहे–अपान-प्राण का नीचे-ऊपर जाना होता है–मध्यस्थित व्यान के आधार पर ही। इसी अभिप्राय से—

"ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते" ॥[1]

१–कठोप० २।२।३।

—यह कहा जाता है। नीचे आता हुआ वही 'अपान' अपान कहलाने लगता है एवं ऊपर जाकर समान कहलाने लगता है। एवमेव वही प्राण ऊपर जाता हुआ उदान कहलाने लगता है एवं नीचे आकर यही 'प्राण' नाम धारण कर लेता है। इस प्रकार इस गतिभेद से अपान एवं प्राण की–'अपान, समान, प्राण, उदान–ये चार अवस्थाएँ हो जाती हैं। पाँचवाँ व्यान है। इस प्रकार प्रत्येक त्रिलोकी में समान-उदान के भेद से अपान, व्यान, प्राण–इन तीन तीन तन्त्रायीओं की अपेक्षा अपान, समान, व्यान, प्राण, उदान–पाँच पाँच तन्त्रायी हो जाती हैं। इन पाँच के भेद से–आप्य, वायव्य, सौम्य भी पाँच-पाँच भागों में विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार वह त्रिसत्यप्रजापति समानोदान के कारण–'पाङ्क्त' हो जाता है। आगे आनेवाली आठ तालिकाओं से पूर्व का सारा वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है—

इन आठों त्रिलोकियों में पृथिवीस्थानीय सारे भाग को उन-उन त्रिलोकीरूप शरीरों का मूलाधार समझिये। अन्तरिक्षस्थानीय भागों को 'हृदय' समझिये एवं–'द्यौ मूर्द्धा'–इस परिभाषा के अनुसार द्युस्थानीय सारे भागों को 'मस्तक' समझिये। ऐसी अवस्था में यदि हम पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य-अपान, व्यान, प्राण–इन तीनों प्राणाग्नियों का–'मूलद्वार से आने वाला पार्थिव अग्नि अपान है, हृदयस्थान में रहने वाला आन्तरिक्ष्य अग्नि व्यान है, मस्तकस्थान में प्रतिष्ठित रहने वाला प्राणाग्नि प्राण है–यह लक्षण करें तो कोई आपत्ति नहीं समझनी है। पूर्व के उपनिषदों में हमने तीनों का यही लक्षण किया है। यहाँ उनका विभिन्न संस्थान बतलाया है। इससे भ्रम होने की संभावना है, अतः यहाँ पर उस भ्रम को पूर्वकथन से दूर कर देना चाहिए। इसी पूर्व कथन का सारांश आठों त्रिलोकियों एवं पाँच प्रकार की व्यूढा त्रिलोकी की तालिकाओं के माध्यम से भी स्पष्ट करने का प्रयाश किया गया है। देखिए पृष्ठ संख्या ९५-९६ एवं ९७।

१–प्रथमा त्रिलोकी—

१–विधारक १–प्रपद से हृदयपर्य्यन्त–पृथिवीलोक—आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–नाभि से हृदयपर्य्यन्त–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्ष्यव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–हृदय से ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त द्युस्थानीय प्राणोदान आदित्य, (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)

त्रिलोकी

———❀———

२–द्वितीया त्रिलोकी—व्यूहनरूपा—

२–विधारक १–मूलाधार से हृदय तक–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–नाभि से कण्ठ तक–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्ष्य व्यानाग्नि यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त द्युस्थानीय प्राणोदानादित्य (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)

त्रिलोकी

———❀———

३–तृतीया त्रिलोकी—पञ्चधा व्यूढत्रिलोकी की पहली त्रिलोकी—

३–विधारक १–कर्णपटी–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि (विष्णुतन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–ललाट (शिरोगुहा)–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्षव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–मूर्द्धा–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त द्युस्थानीय प्राणोदानादित्य, (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)

त्रिलोकी

———❀———

४–चतुर्थी त्रिलोकी–व्यूढत्रिलोकी की दूसरी त्रिलोकी—

४–विधारक १–वाक् (जिह्वा)–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–नासा–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्षव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–चक्षुः–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त द्युस्थानीय प्राणोदानादित्य, (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)

त्रिलोकी

———❀———

क्रमशः

५–पञ्चमी त्रिलोकी—व्यूढत्रिलोकी की तीसरी त्रिलोकी—

५–विधारक १–उर–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–ग्रीवा–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्षव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–मुख–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त दिव्यप्राणोदानादित्य, (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)
} त्रिलोकी

❀

६–षष्ठी त्रिलोकी—व्यूढत्रिलोकी की चौथी त्रिलोकी—

६–विधारक १–हृदय–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–उर–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्षव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–कण्ठ–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त द्युप्राणोदानादित्य, (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)
} त्रिलोकी

❀

७–सप्तमी त्रिलोकी—व्यूढत्रिलोकी की पाँचवीं त्रिलोकी—

७–विधारक १–योनि–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी), अर्थतन्त्र, (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–उदर (गुहा)–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्षव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), क्रियातन्त्र, (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–हृदय–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त दिव्यप्राणोदानादित्य, (शिवस्तन्त्रायी), ज्ञानतन्त्र, (शिवात्मा–इन्द्रः)
} त्रिलोकी

❀

८–अष्टमी त्रिलोकी—हृदय से ब्रह्मरन्ध्रवाले दूसरी त्रिलोकी के केवल द्युलोक में त्रैलोक्यविभाग—

८–विधारक १–वागिन्द्रिय–पृथिवीलोक–आप्यप्राणयुक्त पार्थिव अपानसमानाग्नि, (विष्णुस्तन्त्रायी) (मूलात्मा–अग्निः)
वरिष्ठ २–नासेन्द्रिय–अन्तरिक्षलोक–वायव्यप्राणयुक्त आन्तरिक्षव्यान यम, (ब्रह्मा तन्त्रायी), (हंसात्मा–वायुः)
प्रकाशक ३–चक्षुरिन्द्रिय–द्युलोक–सौम्यप्राणयुक्त दिव्यप्राणोदानादित्य, (शिवस्तन्त्रायी) (शिवात्मा–इन्द्रः)
} त्रिलोकी

❀

पाँच प्रकार की व्यूढा त्रिलोकी की व्यूहन-प्रक्रिया—

१–पृथिवी=अग्निः ।
२–अन्तरिक्षं=वायुः ।
३–द्यौः=इन्द्रः ।

१

व्यूहनबिन्दु +
- मूर्द्धा = द्यौरिन्द्रः प्रकाशक
- ललाटम्=अन्तरिक्षं वायुः वरिष्ठ
- कर्णपटी=पृथिवी अग्निः विधारक

५

२

व्यूहनबिन्दु +
- चक्षुः = द्यौरिन्द्रः प्रकाशक
- नासा = अन्तरिक्षं–वायुः वरिष्ठ
- वाक् (जिह्वा) = पृथिवी अग्निः विधारक

४

३

व्यूहनबिन्दु +
- मुखम्=द्यौरिन्द्रः प्रकाशक
- ग्रीवा=अन्तरिक्षं–वायु वरिष्ठ
- उरः=पृथिवी–अग्निः विधारक

३

४

व्यूहनबिन्दु +
- कण्ठः =द्यौरिन्द्रः प्रकाशक
- उरः =अन्तरिक्षं–वायुः वरिष्ठ
- हृदयम् =पृथिवी–अग्निः विधारक

२

५

- हृदयम् = द्यौरिन्द्रः प्रकाशक
- उदरम् = अन्तरिक्षं–वायुः वरिष्ठ
- योनिः = पृथिवी–अग्निः विधारक

१

पूर्व में बतला दिया गया है कि इन आठों त्रिलोकियों में से प्रकृत उपनिषत् के प्राणों का विषय आठवीं त्रिलोकी है, अतः उसी की ओर हम आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक द्युलोक बतलाया गया है। द्युलोक में ज्ञानमय शिव है। सौम्यप्राणयुक्त आदित्यप्राण ही शिव है। पार्थिव अपान, आन्तरिक्ष्य व्यान एवं दिव्यप्राण-इन तीनों में दिव्यस्थानीय एवं ज्ञानमय होने से यह तीसरा प्राण ही मुख्य है। अर्थप्रपञ्च का आधार क्रियाप्रपञ्च है। क्रियाप्रपञ्च का आधार ज्ञान है। दूसरे शब्दों में अर्थरूपा वाक् क्रियारूप प्राण पर प्रतिष्ठित रहती है। क्रियामय प्राण ज्ञानमय मन पर प्रतिष्ठित रहता है। ज्ञान सर्वालम्बन है, अतएव अर्थप्राण (अपानप्राण), क्रियाप्राण (व्यानप्राण)-इन दोनों की अपेक्षा हम इस ज्ञानप्राण को अवश्य ही मुख्य कहने के लिए तय्यार हैं। इस प्राण की सत्ता हृदय से श्रोत्र तक वितत सोम-धरातल है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक का भाग **'प्राणायतन'** है। इतना भाग ही मुख है। इस मुखभाग में वह प्राण रहता है-इसलिए भी वह 'मुख्य' है एवं दोनों का आलम्बन होने से प्रधानता के कारण भी 'मुख्य' है। यह मुख्य प्राण सौम्यप्राणमय है-यह कहा जा चुका है, अतएव इसके अवान्तर पांच विभाग हो जाते हैं। सौम्यप्राण मन में और श्रोत्रेन्द्रिय में (उपक्रमोपसंहार में) प्रतिष्ठित होता हुआ धरातल बनता है। इसके बीच में सौरप्राण वाक्प्राण-चक्षुरूप में परिणत होता है। इस प्रकार वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन भेद से सौम्यप्राणयुक्त मुख्य प्राण पञ्चधा विभक्त होकर हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक प्रतिष्ठित हो जाता है। ये ही पाँचों इन्द्रियप्राण कहलाते हैं। ये ज्ञानमय होने से विषय के प्रकाशक हैं-जैसा कि प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है।

एवं भूतभाग विधारक है। आप्यप्राणयुक्त अपानाग्नि ही पदार्थ का विधरण करता है। कच्चा घड़ा आप्यप्राणयुक्त है। आग्नेयप्राण के सम्बन्ध से घट के विशकलित परमाणु परस्पर बद्ध हो जाते हैं। घड़ा दृढ हो जाता है, अतएव आग्नेयप्राण को हम 'विधारक' कहने के लिए तय्यार हैं। वह आग्नेयप्राण आप्यप्राणयुक्त है। **'अद्भ्यः पृथिवी'-'आपो वै सर्वाणि भूतानि'**-इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आप्यप्राण भूत का आलम्बन है। भूत में अग्नि प्रतिष्ठित है। अतएव हम आप्यप्राणजन्य, अपानाग्निमय भूतग्राम को **'विधारक'** कहने के लिए तय्यार हैं। इस विधारक पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशरूप पञ्चभूतमय आग्नेय प्राण का प्रतिष्ठास्थान मूलाधार से हृदय तक है। आशय सर्वाङ्ग शरीर है। कबन्धी ने पूछा था कि "प्रजा का कौन विधारक है, कौन प्रकाशक है, कौन वरिष्ठ है" ?-इसका यही उत्तर है। मूलद्वार से हृदय तक व्याप्त रहने वाला पञ्चभूतमय पार्थिव आग्नेयप्राण (भूतग्राम) विधारक है, हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक व्याप्त रहने वाले पाँच इन्द्रियप्राण प्रकाशक हैं। बाकी बचता है-मध्य का (उदर से हृदय तक व्याप्त रहने वाला) व्यानप्राण यही वरिष्ठ है। अधःस्थित विधारक अपानाग्निप्राण एवं ऊर्ध्वस्थित प्रकाशक प्राण दोनों प्राण इसी मध्यस्थित व्यान पर निर्भर हैं। यदि व्यान न रहे तो दोनों ही न रहें। साधारण मनुष्यों ने प्राणापान को जीवन का हेतु मान रखा है, परन्तु उन्हें मानना चाहिए कि ये दोनों जिस प्राण के ऊपर प्रतिष्ठित हैं, जिसके साथ ग्रन्थिबन्धन होने से ये दोनों प्राण स्थिर हैं, वह व्यान ही विधारक प्राण की सत्ता रखने के कारण विधारक है, वही ज्ञानमय प्राण की सत्ता रखने के कारण प्रकाशक है, अतएव वही वरिष्ठ है। वही जीवन का मुख्यकारण है। इसी अभिप्राय से कठ ने—

"न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" ।।[1]

—यह कहा है । बात है भी यथार्थ । जब तक श्वासप्रश्वासादि का संचार होता रहता है–तभी तक इन्द्रिएँ प्रकाश करती हैं–तभी तक भूताग्नि विधृति करने में समर्थ होता है । संचार क्रिया का धर्म्म है । अर्थ जड़ होने से क्रियाशून्य है, ज्ञान प्रकाश होने से निष्क्रिय है । क्रिया, मध्य के क्रियाशक्तिघन व्यान का ही धर्म्म है । यह नहीं तो कुछ नहीं, अतएव विधारक पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशात्मक भूताग्निप्राण का एवं इन्द्रियों का–"हम विधारक हैं–हम प्रकाशक हैं–हमने इस शरीर को उठा रखा है"–यह घमण्ड करना सर्वथा निरर्थक है । प्रकाशक, विधारक, वरिष्ठ जो भी कहो–मध्यस्थित व्यान ही है । मध्यस्थ इस वामन की ही नीचे के पार्थिव आग्नेय देवता, ऊपर के सौरप्राणदेवता उपासना करते हैं । अध्यात्म में आठ त्रिलोकिएँ बतलाई हैं । आठों में अपान, व्यान, प्राण–तीनों हैं–तीनों के साथ क्रमशः–आप्य, वायव्य, सौम्य–तीन प्राण बद्ध हैं । इन तीनों में–आप्यप्राणगर्भित अपान विधारक है । वायव्यप्राणगर्भित व्यान वरिष्ठ है । सौम्यप्राण-गर्भित प्राण प्रकाशक है । आठों विभागों में यह सामान्य व्यवस्था समझनी चाहिए । अभी हमने जिनको विधारक-प्रकाशक-वरिष्ठ बतलाया है-उनका दूसरी त्रिलोकी से सम्बन्ध है । ऋषि ने उस त्रिलोकी के द्युलोक में व्यवस्थित त्रैलोक्य-व्यवस्था को लेकर इन तीनों भावों का विचार किया है । शेष को छोड़ दिया है । इस द्युलोक में हृदय में मन है । ऊपर वाक् है–यही पृथिवी है । ऊपर नासा-प्राण है–यही अन्तरिक्ष है । ऊपर चक्षु है–यही द्युलोक है । ऊपर श्रोत्र है–यही–'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'[2]–के अनुसार चौथा लोक है । इसमें वाक्-अग्नि पार्थिव होने से अपानाग्नि है । यही पञ्चभूतमय है । यही इस त्रैलोक्य का विधारक है । चक्षुःप्राण द्युस्थान होने से सौर प्राण है । यह श्रोत्रसम्बन्धी सौम्यप्राण से युक्त है–यही इस त्रैलोक्य का प्रकाशक है । मध्य में नासा-प्राण है–यही आन्तरिक्ष्य व्यान है–यही दोनों का विधारक है–प्रकाशक है, अतएव वरिष्ठ है । इसी के आधार पर दोनों स्थित हैं । मन, वाक् एक कोटि में हैं । चक्षुश्रोत्र एक कोटि में हैं । मन-वाक्–पृथिवी-जल-तेज–आकाशात्मक भूतमय विधारक प्राणाग्नि है एवं चक्षुश्रोत्रयुक्त प्राण प्रकाशक है । अथवा पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक चारों इन्द्रिएँ विधारक और प्रकाशक हैं । इस विभाग में भूत और इन्द्रिय-प्राण परस्पर बद्ध हैं–अतएव यहाँ दोनों का एक साथ ग्रहण किया गया है । इन सबमें श्रेष्ठ वही नासा-प्राण है । नासा-प्राण से व्यान ही गृहीत है–यही मुख्यप्राण है । वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र चारों के नष्ट हो जाने पर नासा-प्राण (श्वासप्रश्वासात्मक व्यानप्राण) के रहने पर मनुष्य जीवित रह सकता है, परन्तु यदि चारों इन्द्रिएँ हैं और नासा-प्राण नहीं है तो जीवन असंभव है । जीवन की आस (आशा) तभी तक है–जब तक कि सांस है । अन्धा, बधिर, मूर्ख, अमनस्वी सब जी सकते हैं, परन्तु विना नासा-प्राण वाले क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकते हैं ।

इसी अर्थ का छान्दोग्योपनिषत् में आलंकारिक भाषा में निरूपण किया गया है । वहाँ बतलाया गया है कि एक बार वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आपस में स्पर्द्धा करने लगे । एक दूसरे से स्वयं को बड़ा बतलाकर

१–कठोप० २।२।५ । २–कौषी० ब्रा० १८।२ ।

परस्पर में झगड़ने लगे। झगड़ते झगड़ते ये पिता प्रजापति के पास पहुँचे। वहाँ जाकर इन्होंने कहा कि प्रजापते! कृपाकर आप निर्णय कर दीजिए कि हम सबमें कौन बडा है? कौन वरिष्ठ है? प्रजापति ने उत्तर दिया कि हे देवताओ! जिसके चले जाने से तुम कोई न रहो एवं तुम्हारे चले जाने से जिसका कुछ न बिगड़े–वही तुम सबमें श्रेष्ठ है। ऐसा ही हुआ। चारों बारी बारी से निकल गए–प्राण का कुछ नहीं बिगड़ा। अन्त में जब प्राण निकलने लगा तो चारों मारे डर के अपने नाश के भय से बोल उठे कि हे प्राण! आप मत निकलिए–आप हमारे विना रह सकते हैं, परन्तु हम नहीं रह सकते। आप ही हम सबमें वरिष्ठ हैं। इन्हीं सब कारणों को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने उसी प्राण को यहाँ श्रेष्ठ बतलाया है। यह प्राण अध्यात्म में व्यान है, परन्तु अधिदैवत में वही प्राण धिषणाप्राण है। क्योंकि वही सूर्य्यप्राण स्तौम्य त्रिलोकी का जनक है। स्तौम्य त्रिलोकी पृथिवी में आकर वह अर्थप्रधान बन जाता है, द्यु में जाकर ज्ञानप्रधान बन जाता है एवं अन्तरिक्ष में शुद्धरूप से–प्रातिस्विकरूप से रहता हुआ व्यान बन जाता है। सौर प्रातिस्विक प्राण अन्तरिक्ष में है। वही द्युभाग का प्रकाशक है। वही पार्थिव भाग का विधारक है। कहना यही है कि वह मुख्यप्राण आन्तरिक्ष्य सौर प्राण ही है, यही धिषणाप्राण है। दूसरे प्रश्न का मुख्यप्राण यही धिषणाप्राण है। इसका आगमनस्थान ब्रह्मरन्ध्र है, स्थितिस्थान हृदय (मध्य का अन्तरिक्ष) है। व्याप्तिस्थान सर्वाङ्गशरीर है। यही विज्ञानमय सौर प्राण आग्नेयरूप में परिणत होकर विधारक बन रहा है। यही प्राणरूप में परिणत होकर प्रकाशक बन रहा है। यही मध्य में प्रतिष्ठित होकर 'वरिष्ठ' बन रहा है। पुनरुक्तिदोष की उपेक्षा कर हम फिर कहते हैं कि मध्यस्थित सौर धिषणाप्राण को वरिष्ठ बतलाने का एकमात्र कारण यही है कि प्राण का वास्तविक अपना स्वरूप क्रियामय है। अपान अर्थमय है। प्राण ज्ञानमय है। दोनों निष्क्रिय हैं–दोनों स्थानों पर क्रियामय प्राण का क्रियापना अभिभूत हो रहा है एवं मध्यस्थान में वह स्वस्वरूप से उल्बण है। यही दोनों का संचालक है, अतएव हम इस मध्य के क्रियाप्रधान धिषणाप्राण को जो कि आठ त्रैलोक्यों में आठों के मध्याकाश में प्रतिष्ठित है–'वरिष्ठ' कहने के लिए तय्यार हैं।

हमारे शरीर में–शिरा, धमनी, स्नायु भेद से तीन प्रकार की नाड़िएँ हैं। शिरा रसवाहिनी है। धमनी वायुवाहिनी है। स्नायु ज्ञानवाहिनी है। वायु चेष्टारूप है। ज्ञान संज्ञास्वरूप है, अतएव धमनी को चेष्टावाहिनी, स्नायु को संज्ञावाहिनी भी कहा जाता है। मूलाधार से हृदय तक आप्यप्राण की सत्ता बतलाई गई है। रसवाहिनी शिराओं का इसी से सम्बन्ध है। यह शिरानाड़ी अर्थतन्त्र से सम्बन्ध रखती है। नाभि से ऊपर हृदयपर्य्यन्त वायव्यप्राण की सत्ता बतलाई गई। वायुवाहिनी नाम की चेष्टावाहिनी धमनियों का इसी प्राण से सम्बन्ध है। धमनीनाड़ी क्रियातन्त्र से सम्बन्ध रखती है एवं हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक ज्ञानमय आदित्यप्राण की सत्ता बतलाई गई है। ज्ञानवाहिनी नाम की संज्ञावह नाड़ियों का इसी ज्ञानप्राण से सम्बन्ध है। ये स्नायुतन्त्र इसी ज्ञानतन्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें प्रकृत में धमनी नाम की चेष्टावह नाड़ियों में व्याप्त सौर प्राण को ही प्रधानता दी गई है।

मधुमक्षिकाओं के छत्ते में हजारों मधुमक्षिकाएँ होती हैं। उन सबमें एक प्रधान होती है। उसका आकार उन सबकी अपेक्षा बडा होता है। वही 'मधुकर' राजा कहलाता है यदि वह उस छत्ते से अलग

हो जाता है तो सारी मधुमक्षिकाएँ उसके साथ ही उत्क्रान्त हो जाती हैं । वह प्रतिष्ठित रहता है तो सब प्रतिष्ठित रहती हैं । बस, यही बात इस मुख्य प्राण के विषय में समझनी चाहिए । बस, उसी मुख्य धिषणाप्राण की प्रधानता बतलाते हुए भगवान् पिप्पलाद कहते हैं—

आकाश, वायु, अग्नि, आपः, पृथिवी, वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र–ये भूतदेवता प्रकाश करते हुए–परस्पर में स्पर्द्धा करते हुए कहा करते हैं–हम ही इस बाण (शरीरयष्टि) को पकड़कर उठाते हैं । हम ही प्रकाशक हैं–हम ही विधारक हैं—

"तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ।।

।। २ ।।

——❀——

इस प्रकार प्रकाश और विधृति के अभिमान करने वाले इन देवताओं को वरिष्ठप्राण ने (उनका अहंकार दूर करने के लिए एक दिन उनसे) कहा कि–अरे देवताओ ! मोह में मत पड़ो । हम विधारक हैं–हम प्रकाशक हैं–इस प्रकार व्यर्थ का अभिमान मत करो (क्या तुम्हें यह मालूम नहीं है) कि मैं ही अपने आपको भूतयुक्त मन, प्राण, वाक्, चक्षुः, श्रोत्र–इन पाँच भागों में विभक्त कर शरीर को उठाए हुए हूँ–वास्तव में प्राण ने ठीक कहा है । सौम्यप्राणयुक्त धिषणाप्राण ही–वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन बनता है । वही अग्नि है । वही वायु है । वही इन्द्र है । वही मन है । वही श्रोत्र है । सब कुछ वही तो है—

"तान्वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति । तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ।।

।। ३ ।।

——❀——

प्राण के ये अभिमान भरे वचन उन देवताओं को बुरे लगे । उनको प्राण का पूर्वकथन निस्सार प्रतीत हुआ । वे समझ गए कि प्राण बातों ही बातों में अपने ऊपर प्रभाव जमाना चाहता है । जैसा यह कहता है–वैसा यह है नहीं । हम तब इसकी बात पर श्रद्धा कर सकते हैं, जब कि यह प्रत्यक्ष में हमें प्रधानता दिखलावे । वहाँ क्या देर थी ? उसी समय (उनकी अश्रद्धा दूर करने के लिए) प्राण निकलने सा लगा । बस, उसी समय इस दृश्य को देखने वाले वैज्ञानिक महर्षियों ने समझ लिया कि भाई ! इस प्राण के निकल जाने से इतर सारे प्राण निकल जाते हैं, इसके ठहरने से इतर सारे प्राण प्रतिष्ठित हो

जाते हैं। तो जैसे मक्षिकाएँ मधुकर राजा के उत्क्रमण करने पर उसके साथ ही सबकी सब उत्क्रान्त हो जाती हैं–उसके प्रतिष्ठित हो जाने पर सब प्रतिष्ठित हो जाती हैं–इसी प्रकार प्राण के आधार से अपनी प्रतिष्ठा रखने वाले–वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र (प्राण के इस प्रत्यक्ष चमत्कार से उस पर) श्रद्धा करते हुए उसी प्राण की स्तुति करते हैं। अहर्निश उसी की उपासना करते हैं। इन्द्रियप्राण मुख्यप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। यही निष्कर्ष है—

"सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति" ॥

॥४॥

——⚘——

तीनों प्रश्नों का समाधान हो चुका। अब इस प्राण की स्तुति करते हुए अध्यात्म और अधिदैवत में किन-किन रूपों से यह व्याप्त रहता है? क्या क्या काम करता है?–यह बतलाकर ऋषि इस दूसरे प्रश्न को समाप्त करते हैं।

अथ प्राणस्तुतिः—

पार्थिव प्राणदेवता अग्नि है। इसका घर्म्म है–ताप। चित्याग्निमय द्युपिण्ड सूर्य्य है। इस सूर्य्य के १२ आदित्यों में एक पर्जन्य नाम का वृष्टि का अधिष्ठाता आदित्य प्राण है एवं इसी में रहने वाला रूप का अधिष्ठाता इन्द्र मघवा है। पार्थिवेन्द्र, आन्तरिक्ष्य वायुगत इन्द्र जैसे वासव और मरुत्वान् नाम से पुकारे जाते है एवमेव सूर्य्यगत अमृतेन्द्र 'मघवा' नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्तरिक्ष में बहने वाला भूत-वायु है। पृथिवी सुप्रसिद्ध है ही एवं सोम रयि है। भूतप्रजा सत् है, देवप्रजा प्राणरूप से 'असत्' है। षोडशी नाम से प्रसिद्ध अव्यय का प्राणभाग ही अमृत है। जिस धिषणाप्राण का हमने पूर्व में निरूपण किया है–वही यह सब कुछ है। सौर धिषणाप्राण ही पार्थिव अपानाग्नि बनता है। इस अपानरूप में परिणत वही प्राण तापधर्मा अग्नि बन जाता है। परमेष्ठी का विश्वरूपयज्ञात्मक आदित्यरूप वही प्राण चितिक्रम से सूर्य्य बना हुआ है। वही प्राण पर्जन्य बना हुआ है–वही इन्द्र है। वही अन्तरिक्ष में आकर वायुरूप में परिणत हो रहा है। वही स्वयम्भूप्राण परमेष्ठी का रयि बनता है। वही प्राण पृथिवी पिण्ड बना है। कहाँ तक बतलावें? प्रजापति की भूत और देवतारूप सद्-असत् दो प्रकार की प्रजा हैं। वे भी यही है। और तो और सर्वालम्बन आत्मा भी–अमृततत्त्व भी वही है। उपनिषत् ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक है–आत्मा का स्वरूप बतलाता है, अतएव घूमधाम कर उपनिषत् उसी पर ले जाता है। हमने पूर्व में परोरजा, आग्नेय, सौम्य, वायव्य, आप्य भेद से पाँच प्रकार के प्राण बतलाए थे—

"अहमेवैतत्-पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य एतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः" ।।

पूर्व के इस अनुगमवचन के अनुसार वही प्राण इन पाँच रूपों में परिणत हो रहा है। **'अहं'**[1] शब्द **'आत्मा'** का–अव्यय का वाचक है। प्राण से ऋषि की दृष्टि अमृतरूप अव्ययपुरुष के प्राणभाग की ओर है। इसी रहस्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने प्राण के स्थान में 'अहं' शब्द का प्रयोग किया है। वही अव्ययरूप अमृतप्राण असत् नाम से प्रसिद्ध है। जब कुछ न था (विश्व न था) तो क्या था? इसका उत्तर देते हुए ऋषि करते हैं–**'असद्वाऽइदमग्र आसीत्। ऋषयो वाव तेऽग्रे असदासीत्। प्राणा वा ऋषयः'**[2]–वह ऋषिप्राण और कोई नहीं–वही हमारा आत्मरूप अमृतप्राण है। वही सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापतिरूप में परिणत होकर आगे की सारी सृष्टियाँ करता है। इसी अमृतप्राण को लक्ष्य बनाकर निम्नलिखित निगमागमश्रुतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१–प्राणो वाव कः।[3]
२–प्राणो हि प्रजापतिः।[4]
३–प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म।[5]
४–प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यम्-इत्यादि।[6]

इसके अवान्तर अनन्त भेद हैं। परन्तु प्रधान पाँच ही भेद हैं। वही अमृताव्ययप्राण सबसे पहले **'परोरजा'** रूप में परिणत होता हुआ यजुः-रूप में परिणत होता है। इसी प्राण को हमने **'वाक् प्राण,' 'वेदप्राण' 'द्विब्रह्म', 'ब्रह्म', 'ब्रह्माग्नि', 'असत्प्राण', 'ऋषि'**–आदि नामों से व्यवहृत किया है। यह उस आत्मप्राण की–सम्राट् परमब्रह्म की (अक्षरप्राण की) पहली संस्था है। यहाँ से आगे चलकर वही रयि-प्राणरूप भृगु-अंगिरा नाम से प्रसिद्ध होता है। वाक्भाग का विकास 'रयि' है। प्राणभाग का विकास प्राण है। यहाँ से आगे चलकर वही रयि-प्राण सौर धिषणाप्राणस्वरूप में परिणत होता है। रयिभाग का विकास धिषणा है–प्राणभाग का विकास प्राण है। यहाँ से आगे चलकर वही प्राण प्रज्ञाप्राणरूप में परिणत होता है। धिषणा का विकास प्रज्ञा है, प्राण का विकास प्राण है। वही आगे जाकर भूत, प्राणरूप में परिणत होता है। प्रज्ञा का रूपान्तर भूत है, प्राण प्राण है। इस प्रकार वह एक ही अमृतप्राण (अहं-तत्त्व) वाक्प्राण, रयिप्राण, धिषणाप्राण, प्रज्ञाप्राण, भूतप्राण–इन पाँच स्वरूपों में परिणत होता है। वाक्प्राण परोरजा है। रयिप्राण आप्य-वायव्य-सौम्य है। धिषणाप्राण,

---

१–'अहं' शब्द केवल षोडशी अव्यय का वाचक है। इसका विवेचन हमारे लिखे हुए 'गीताविज्ञान भाष्यान्तर्गत आचार्यरहस्य' के 'गीताकृष्णरहस्य' नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

२–शत० ब्रा० ६।१।१।१।

३–जै० उप० ४।२३।४।

४–शत० ब्रा० ४।५।५।१३।

५–शत० ब्रा० १४।६।१०।३।

६–शत० ब्रा० ६।३।१।१७।

भूतप्राण आग्नेय हैं। प्रज्ञाप्राण सौम्य है। पाँचों अवश्यमेव वही हैं। वह अमृताव्ययात्मक प्राण ज्ञान-क्रियात्मक है, अतएव दो दो रूप से ही उसका विकास होता है। वाक्, रयि, धिषणा, प्रज्ञा, भूत-ये पाँच ज्ञानभाग के अवतार हैं। उत्तरोत्तर में होने वाली बलचिति के कारण वही-वाक्, रयि, धिषणा, प्रज्ञा, भूतरूप में परिणत हो जाता है एवं क्रियाभाग प्राणरूप से विकसित होता है। स्वयम्भूप्राण व्यापक है। पारमेष्ठ्य रयिप्राण उसका श्रोत्र है। इसके नीचे सौर धिषणाप्राण उसकी चक्षु है। सूर्य्य के नीचे वाला आन्तरिक्ष्य वायुप्रधान वही प्राण उसकी नासा है। उससे नीचे की भूतप्राणमयी पृथिवी उसकी वागिन्द्रिय है एवं सर्वान्त का प्रज्ञाप्राणमय चन्द्रमा उसका मन है। इसीलिए तो **'चन्द्रमा मनसो जातः'**-यह कहा है। चन्द्रमा उसका मन है। इस मन से हमारे अध्यात्म का मन बनता है—

अमृतप्राण का विकास

१-परोरजा—सर्वव्यापक आत्मप्राण

१-परमेष्ठी	(रयिप्राण-दिक्सोम)	—	—ईश्वर की श्रोत्रेन्द्रिय	—(श्रोत्र)-१
२-सूर्य्य	(धिषणाप्राण)	—आदित्य	—ईश्वर की चक्षुरिन्द्रिय	—(चक्षु)-२
३-अन्तरिक्ष	(वायव्यप्राण)	—वायु	—ईश्वर की नासेन्द्रिय	—(प्राण)-३
४-पृथिवी	(भूतप्राण)	—अग्नि	—ईश्वर की वागिन्द्रिय	—(वाक्)-४
५-चन्द्रमा	(प्रज्ञाप्राण)	—भास्वरसोम	—ईश्वर का मन	—(मन) -५

ऋषि को अध्यात्मप्राण का निरूपण करना है, अतएव उन्होंने-'अहम्' को आगे रखा है। अहं द्वारा 'ओम्' की आराधना बतलाई गई है।

हमारे अध्यात्म में सारे प्राणों का आधार सूर्य्यवाला धिषणाप्राण ही है, अतः यहाँ हमने-'अहम्' से सौर प्राण का ग्रहण किया है। वस्तुतः-प्राण से वही अव्ययात्मप्राण अभिप्रेत है। इसीलिए अन्त में जाकर ऋषि को-**'अमृतं च यत्'**-कहना पड़ा है, अतएव च-**'एष रयिर्देवः, सदसच्च'**-कहना संगत होता है। आगे के श्लोकों से भी इसी का स्पष्टीकरण है—

> **"एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्" ॥**

॥ ५ ॥

———❀———
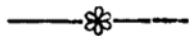
"अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्व्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः, क्षत्रं ब्रह्म च" ।।६।।

स्वयम्भू ब्रह्म है। सूर्य्य क्षत्र है। रयिप्राणात्मक परमेष्ठी यज्ञ-प्रजापति है। अव्यक्त ब्रह्म है। विज्ञान क्षत्र है। महान् यज्ञ स्वयम्भूब्रह्म भी वेदत्रयीघन है। सूर्य्य भी गायत्रीत्रयी से युक्त है। परमेष्ठी भी 'अन्तरैते त्रयो वेदाः'०–के अनुसार त्रयीमय है। त्रयीमय–स्वयम्भू, परमेष्ठी-सूर्य्य (ब्रह्म-क्षत्र-यज्ञ) तीनों ही सब कुछ हैं। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य्य क्षत्र है, परमेष्ठी विट् है। जैसा कि 'कठोपनिषत्' के–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः'–इसमें स्पष्ट कर दिया है। ब्रह्म ज्ञानशक्ति है। क्षत्र क्रियाशक्ति है। विट् अर्थशक्ति है। ज्ञान, क्रिया, अर्थ–तीन के अलावा चौथी वस्तु का अभाव है, अतएव इन तीनों की समष्टि के लिए अवश्यमेव 'सर्वम्' कह सकते हैं। यज्ञ (विट्), ब्रह्म, क्षत्ररूप यह सर्व उस अमृतप्राण में उसी प्रकार से प्रतिष्ठित है–जैसे कि रथनाभि में अरे प्रतिष्ठित रहते हैं ।।६।।

——❀——
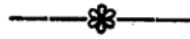
अपि च—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि" ।।७।।

आत्मा, प्राण, पशु–तीनों की समष्टि प्रजापति है। इनमें वह अमृतप्राण आत्मा है। स्वयम्भू आदि सारी प्रजाएँ प्राण हैं। जीवसृष्टि ही पशु है। उस पशुपति ने अपने इन प्राणपाशों से हम पशुओं को 'बलि' बना रक्खा है। हम सब अन्त में उसी की भेंट चढ़ने वाले हैं, भेंट चढ़ाने वाली वही स्वयम्भू आदि प्राणरूपा प्रजा हैं। इसके द्वारा ही पशुबलि उसमें प्राप्त होती है। वह प्राणों को दी हुई बलि से ही विश्व में प्रतिष्ठित है। प्राणों ने बलिदान करके उसे विश्वेश्वर बना रक्खा है। जिस दिन प्राण बलिदान देना बन्द कर देंगे–अर्थात् जीवन्मुक्त हो जायेंगे, उस दिन उसकी विश्वसीमा हट जायगी। यही काल पुराणों में सृष्टिप्रलय कहलाता है। वही प्राणतत्त्व महामाया से अवच्छिन्न होकर शरीर विश्व के केन्द्र में प्रजापतिस्वरूप में परिणत होकर उसी अक्षरभाग से प्रजारूप में उत्पन्न होता है एवं योगमाया से अवच्छिन्न होकर शरीर विश्व के केन्द्र में प्रजापतिस्वरूप में परिणत होकर उसी अक्षरभाग से आध्यात्मिकी प्रजारूप में उत्पन्न होता है ।।७।।

——❀——

अपि च—
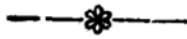
"देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि" ।।८।।

वही प्राण अन्तरिक्ष में आकर वायुरूप में परिणत होकर देवताओं की हवि का वहन करता हुआ 'वह्नितम' (बोझा ढोने वाला अल्लेबार) नाम से प्रसिद्ध होता है। देवता और पितर दो प्रकार की प्रजा हैं। देवता आग्नेय हैं–तेजोमय हैं। पितर सौम्य हैं–स्नेहमय हैं। जैसे देवता ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनी भेद से ३३ हैं, एवमेव अन्न, अन्नाद, अनुमय भेद से पितर तीन प्रकार के हैं। अग्निप्रधान पितरप्राण प्रत्येक पदार्थ के रस को खाया करते हैं। पदार्थ उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत भेद से तीन ही प्रकार के हैं। इन तीन पदार्थों के कारण अत्तापितर के हविर्भुक्, सोमसत्, बर्हिषत्–ये तीन भेद हो जाते हैं एवं सोमप्रधान पितरप्राण पदार्थों के द्वारा खाए जाते हैं। जो पदार्थ सोमप्रधान पितरप्राणों को चूसा करते हैं–वे घन, तरल, विरल भेद से तीन भागों में विभक्त हैं, अतएव अन्नपितर भी अग्निष्वात्ता, आज्यपा, सोमपा नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। ये सातों ही सोममय ही हैं। इनका आत्मा सोममय है, अतएव इनके लिए–'पितरः सोम्यासः'–यह कहा जाता है। सोम स्नेहधर्म्मा हैं। इनमें जो वस्तु जाती है–चिप जाती है, उसका आधान हो जाता है। अन्तर्य्याम बन जाता है, अतएव पितरों के अन्न का नाम–'स्वधा' होता है। 'स्वं-आत्मानं-धत्ते'–ही स्वधा है। हम अन्न खाते हैं–वह पितर ही खाते हैं। अन्न अन्तर्यामस्वरूप से प्रविष्ट होता हुआ 'स्वधा'–रूप में परिणत हो जाता है। परन्तु देवता आग्नेय हैं। अग्नि विशकलनधर्म्मा है, उसमें आसक्ति नहीं है। उसमें डाला हुआ अन्न बहिर्य्यामसम्बन्ध से व्याप्तमात्र हो जाता है। आत्मा नहीं बनता, अतएव देवान्न 'स्व-अह्वोति'–इस व्युत्पत्ति से 'स्वाहा' बन जाता है। इसी विज्ञान को आधार पर—

"न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति"।[1]

—यह कहा जाता है। जैसे वायु पर गन्ध व्याप्त रहता है–गन्ध वायु का आत्मा नहीं बनता। एवमेव देवान्न देवताओं पर गन्धरूप से व्याप्त रहता है। इसीलिए तो सनातनधर्मी जगत् देवताओं को वासना का भूखा बतलाया करता है। बस, हमारा वही प्राण देवताओं के अन्न के लिए तो वह्नितम बन जाता है, अर्थात् वहाँ वह केवल वहन करने वाला बनता है–स्वाहा बनता है। परन्तु वही पितरों का स्वधा बन जाता है–अर्थात् पितरान्न भी वही है–देवान्न भी वही है। वही देवसम्बन्ध में वह्नितम स्वरूप में परिणत होकर 'स्वाहा' बन रहा है–वही पितरसम्बन्ध से स्वधा बन रहा है।

स्वयम्भू के प्राण का नाम ऋषि है। उस ऋषिप्राण की व्याप्ति सातों लोकों में है। ऋषि ज्ञानमय है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है–जिसमें ज्ञान न हो। यही ऋषियों का चरित है। (चरण, व्याप्ति) का ही नाम चरित है। स्वयम्भू ऋषियों की यह व्याप्ति अन्तर्य्यामिरूप से होती है। इसी अन्तर्य्यामी को नियतिसत्य भी कहा जाता है। अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन, वायु का तिर्यग्गमन, पानी का निम्नागमन–इस प्रकार तत्तत्पदार्थों के नियतधर्म्मों को संचालित करने वाला जो केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी है–वह ऋषिप्राण है। सूत्र, नियति, वेद–तीनों स्वयम्भू के मनोता हैं। नियति अन्तर्य्यामी है। यह ऋषियों की व्याप्तिरूप जो नियतिबल है–वह भी वही है। वही प्राण ऋषिरूप में परिणत होकर

१–छान्दोग्योप० ३।६।१।

अन्तर्य्यामी सत्य बन रहा है। अथर्वासोमरूप रयि और अंगिरारूप प्राण का जो चरित है–अर्थात् संसार में (मैथुनीसृष्टि में) जो रयिप्राण की व्याप्ति है–वह भी इसी की महिमा है। वही प्राण रयिप्राण रूप में परिणत होकर संसृष्टिरूप सृष्टि में परिणत हो रहा है। इस मन्त्र में–'ऋषीणां चरितं सत्यम्' से स्वयम्भूप्राण की ओर इशारा है। 'अथर्वाङ्गिरसामसि'–इससे पारमेष्ठ्य रयिप्राण अपेक्षित है ।।८।।

——❀——
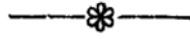
अपि च–

"इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः" ।।९।।

परमेष्ठी के नीचे सूर्य्य है। सूर्य्य के नीचे अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्षस्थ प्राण रुद्र कहलाता है। सौर अमृतप्राण इन्द्र कहलाता है। इस मन्त्र में क्रमप्राप्त इन्हीं दोनों स्वरूपों की स्तुति है। सूर्य्य की रश्मियों में जो एक सन्ताप है–तेजी है–उग्रता है–वह साक्षात् रुद्र है। इस आन्तरिक्ष्य उग्रप्राण के लिए–'ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः'–इत्यादि कहा जाता है।

इन्द्र प्राणात्मक है, अतएव अपामच्छद है। रुद्र तेजोमय है। वही प्राण प्राणरूप से इन्द्र बना हुआ है। अपने तेजोमय उग्रभाव से रुद्र बना हुआ है। यह रुद्र तेजोमय बनकर संसार का संहार करता है एवं यही सौम्य बनकर शिवरूप में परिणत होता हुआ संसार का पालन करता है। रुद्रात्मक, इन्द्रात्मक सूर्य्यरूप में परिणत होकर विशाल अन्तरिक्ष में प्रदीप्त होकर वही प्राण ज्योतिरूप में परिणत हो रहा है। सब ज्योतियों का पति बन रहा है ।।९।।

——❀——
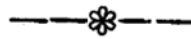
अपि च

"यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति"–इति ।।१०।।

दृश्यमण्डल के अनुसार सूर्य्य के नीचे चन्द्रमा है। चन्द्रमा सोमरूप अन्न है। यही श्रद्धा, सोम, वारि (वृष्टि) आदिरूप में परिणत होता हुआ अन्न बनता है। इस मन्त्र में प्राप्त प्राण के इसी अन्नरूप चन्द्रमा का निरूपण है। यह प्राण जब सोमादिरूप में परिणत होकर बरसता है–उस समय सुप्त प्रजा चेष्टा करने लगती है। वृष्टि होते ही औषध्यादि जड़ प्रजा, चेतन प्रजा सबके चित्त प्रफुल्लित हो जाते हैं। 'अहा ! अब तो यथेच्छा अन्न होगा–यह कह कहकर सारी प्रजा आनन्द में निमग्न हो जाती है–अन्न भी तुम्ही हो–यही तात्पर्य्य है ।।१०।।

——❀——

अपि च—

"व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः" ॥११॥

प्राणों की कई जाति हैं । उनमें एक एकर्षि प्राण है । पूषाप्राण का नाम ही एकर्षि प्राण है–जैसा कि–'**पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्ये**'[1]–इत्यादि मन्त्र में विस्तार से बतला दिया गया है । '**इयं वै पृथिवी पूषा**'[2]–के अनुसार पृथिवी पूषारूप एकर्षिप्राणमयी है । चन्द्रमा के नीचे पृथिवी है, अतएव इस मन्त्र में ऋषि क्रमप्राप्त इस प्राण के इसी रूप का निरूपण करते हैं ।

विभिन्न जातीय अनन्त प्राणों की राशि को 'व्रात' कहते हैं । लोकभाषा में जिसे समूह कहा जाता है, ग्राम्यभाषा में जो 'थोक-टोली' आदि नाम से प्रसिद्ध है एवं यवनभाषा में जो 'काफिला' नाम से प्रसिद्ध है–उसी के लिए वेद में 'व्रात' शब्द आता है । इस व्रात का मुखिया (मण्डलेश्वर) 'व्रात्य' कहलाता है । यह उक्थप्राण रश्मिरूप से अनन्त प्राणों को उत्पन्न कर उनमें अध्यक्षरूप से प्रतिष्ठित है, अतएव हम इसे–'**एकर्षि व्रात्यप्राण**' कहने के लिए तय्यार हैं । इसीलिए तो इस आत्मरूप एकर्षिप्राण के लिए–'**प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म**'–यह कहा जाता है । और प्राण इसके अन्न हैं । यह उन सबका भोग करने के कारण–'**अत्ता**' है । जिसमें प्राण रहता है–वह वस्तु सत् कहलाती है । विश्व प्राणमय होने से सत् है । प्राण में प्राण नहीं रहता, अतएव वह स्वयं सत्‌रूप होता हुआ असत् है । यह असत् प्राण–उस सत् विश्व का प्रभव, प्रतिष्ठा परायणरूप होने से सत्पति है–'**तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति**'–के अनुसार सारे जीव सारे भूतप्रपञ्च उसे अन्न देने वाले हैं । अर्थात्–हम सब(पदार्थमात्र) उस अत्ता के अन्न बन रहे हैं । मातरिश्वा वायु से परिच्छिन्न होकर ही वह ब्रह्मप्राण सुब्रह्मप्राण से युक्त बनकर शुक्ररूप में परिणत होकर जगत् का उपादान बनता है, अतएव हम इसके मातरिश्वरूप को–चराचर को रेतोधा-पिता कहने के लिए तय्यार हैं ।

८ वें मन्त्र में स्वयम्भू-परमेष्ठी के प्राण का निरूपण है । ९ वें मन्त्र में सूर्य्य-अन्तरिक्ष के प्राण का निरूपण है । १० वें मन्त्र में चन्द्रमा का निरूपण है । इस ११ वें में परोक्षरूप से पार्थिव प्राण का निरूपण है । इस प्रकार (८-९-१०-११)इन चार मन्त्रों से ऋषि ने उस 'अहं'-रूप आत्मप्राण के आधिदैविक पाँचों रूपों का निरूपण कर दिया है ।

अब नीचे के एक मन्त्र से आध्यात्मिक पञ्चस्थान का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः" ॥१२॥

१–ईशोप० १६ ।   २–शत० ब्रा० २।५।४।७ ।

मन्त्रार्थ स्पष्ट ही है।

"प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान्-रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति" ॥१३॥

(श्रियं प्रज्ञां च धेहि न–इति वा)
(श्रियं प्रज्ञां विधेहि न–इति वा)

बाह्य-सम्पत्तिरूप अभ्युदय–'श्री' है।
अन्तःसम्पत्तिरूप निःश्रेयस–'प्रज्ञा' है।

"वह ईश्वररूप प्राण हमें अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करे"।

॥ इति धिषणाप्राणप्रधानो मुख्यप्राणनिरूपणात्मको द्वितीयप्रश्नः ॥

॥ २ ॥

अथ

प्रज्ञाप्राणनिरूपणात्मकस्तृतीयप्रश्नः

३

३—चन्द्रमा=प्रज्ञानम्

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते" ॥
(कैवल्योप० १।१७)

"भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत्" ॥
(ध्यानबिन्दूप० १।४०)

तृतीयः प्रश्नः

[मूलपाठः] अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ ।। भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ।।१।।

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ।।२।।

आत्मन एष प्राणो जायते ।। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ।।३।।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ।।४।।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः ।। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ।।५।।

हृदि ह्येष आत्मा ।। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ।।६।।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।।७।।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येव ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः ।। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ।।८।।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्य-मानैः ।।९।।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ।।१०।।

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ।।११।।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ।।१२।।

।। इति तृतीयप्रश्नस्य मूलपाठः ।।

अथ
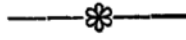
प्रज्ञाप्राणनिरूपणात्मकस्तृतीयप्रश्नः

[विज्ञानभाष्य] भार्गव वैदर्भि के समाधान के अनन्तर परम बुद्धिमान् मेधावी कौसल्य आश्वलायन ने आकर विनीतभाव से भगवान् पिप्पलाद से पूछा कि भगवन्!

१. "कुत एष प्राणो जायते" ?

२. "कथमायात्यस्मिञ्छरीरे" ?

३. "शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते (प्रतितिष्ठते)" ?

४. "केनोत्क्रमते" ?

५. "कथं बाह्यमभिधत्ते" ?

६. "कथमध्यात्ममिति ?"

इस प्रकार आश्वलायन ने एक साथ ६ प्रश्न कर डाले।

प्रथम मन्त्र है—

"अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः प्रपच्छ ।। × × × ।। कथमध्यात्ममिति" ।।१।।

प्रकृतिमण्डल में यह प्राण कहाँ से, किससे, कैसे पैदा होता है? इसका प्रभवस्थान कौन है? यही पहला प्रश्न है। पैदा होकर किस मार्ग से, किस स्वरूप से, किसके आधार से यह शरीर में आता है—यही दूसरा प्रश्न है। 'व्यापक प्राण शरीर में आकर परिच्छिन्न किस कारण से बनता है'?—दूसरे प्रश्न का यही तात्पर्य्य है। अध्यात्म में प्रविष्ट होकर आत्मसंस्थाओं का विभाग कर किस रूप से प्रतिष्ठित होता है एवं किस व्यापार से—किसके आधार पर, कैसे यह बाहर निकलता है एवं अधिदैवतमण्डल को इसने कैसे विधृत कर रखा है एवं अध्यात्म को कैसे वेष्टित कर रखा है?—

१–प्रकृति में कैसे उत्पन्न हुआ ?
२–पैदा होकर शरीर में कैसे आया ?
३–आकर किस रूप से प्रतिष्ठित हुआ ?
४–आकर किस मार्ग से चला गया ?
५–किस रूप से अधिदैवत को पकड़े रखता है ?
६–कैसे अध्यात्म पर अपना प्रभुत्व रखता है ?

प्रथम मन्त्र के ६ओं प्रश्नों का यही स्वरूप है। इन प्रश्नों के देखने से आपको मालूम हो गया होगा कि आश्वलायन कितने योग्य शिष्य थे ? इसी योग्यता ने इनसे एक साथ परमरहस्यपूर्ण ६ प्रश्न करवा डाले ॥१॥

योग्य शिष्य की इस योग्यता से पिप्पलाद गद्‌गद हो गए। अपने इस प्रेमभाव को वे न रोक सके। उनके मुँह से निकल गया कि--

"तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि" ॥२॥

आश्वलायन ! तुम अतिप्रश्न कर रहे हो। एकदम ६ प्रश्नों का समाधान चाहते हो। सचमुच तुम ब्रह्मिष्ठ हो। प्राण-ब्रह्म के ऊपर तुम्हारी पूर्णनिष्ठा है। पहले स्वयं प्राण ही दुरूह है। उस पर भी उसके जन्मादि का स्वरूप तो और भी दुस्तर है। परन्तु उन सबको तुम समझना चाहते हो। इससे मालूम होता है कि तुम्हारे में पहले से ही प्राणब्रह्म का स्वरूप संस्काररूप से खचित हो रहा है। तुम पहले से ही ब्रह्मिष्ठ (प्राणवित्) हो। इसीलिए यद्यपि इन ६ओं प्रश्नों का समाधान करना कठिन है–साधारण मनुष्य इसके अधिकारी नहीं हैं–उनको इनका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु तुम्हारी प्रश्नशैली से हमें मालूम हो गया है कि तुम इस विद्या के अधिकारी हो, अतएव हम तुमको–इन ६ओं प्रश्नों का उत्तर देते हैं ॥२॥

यह है–इस तीसरे प्रश्न का उपोद्‌घात। तीसरे मन्त्र से उपनिषत्–विषय प्रारम्भ होता है—

"आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे" ॥३॥

(१)–पहला प्रश्न है--

"कुत एष प्राणो जायते" ?

'प्राण' के लिए हम पहले भी–'प्राणस्वरूप बड़ा ही दुर्ज्ञेय है'–यह कह आए हैं एवं यहाँ भी हमें इसके लिए ये ही अक्षर कहने पड़ते हैं। **'प्राण'** कहाँ से पैदा होता है ? इसका सीधा सा उत्तर है–**'आत्मा'**। आत्मा, प्राण, पशु–इन तीनों के लिए उक्थ, अर्क, अशिति–इन शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। इन तीनों के स्वरूप-ज्ञान के अनन्तर-**'कुत एष प्राणो जायते'**-इसका समाधान हो जाता है। जो वस्तु जिसका **उक्थ** है, साम है, ब्रह्म है–वह वस्तु उसका आत्मा कहलाता है। **'यदुक्थं सत्, यत् साम सत्, यद् ब्रह्म स्यात्–**

स तस्य आत्मा'–आत्मा का यही साधारण लक्षण है । इस लक्षण के अनुसार घड़े का आत्मा मिट्टी है । कटक का आत्मा सुवर्ण है । वस्त्र का आत्मा तन्तु है । जिससे वस्तु-स्वरूप उठता है–उत्पन्न होता है–उसे **'यत उत्तिष्ठति तदुक्थम्'** इस व्युत्पत्ति से **'उक्थ'** कहा जाता है । उपादानकारण का नाम ही **'उक्थ'** है । घट, कटक, वस्त्र–इन तीनों का उक्थ क्रमशः 'मृत्', 'सुवर्ण', 'तन्तु' है । साम कहते हैं समानता को । वह उक्थ ही यावत् कार्य्यों में समानरूप से रहता हुआ 'साम' कहलाता है । घट, शराव, उखा (पातली), झाल आदि यच्चयावत् मृत्पात्र परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु मिट्टी सब में समान है । सर्वत्र मिट्टी अभिन्न है । अतएव इन मृण्मयपात्रों का मिट्टी–'साम' है । **ऋचा समं मेने'**–यह साम का लक्षण है । घट-शरावादि मृण्मयपात्र मूर्त्तिएँ हैं । **'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः'**–के अनुसार मूर्त्तिएँ ऋक् हैं । एक-एक मूर्त्ति एक-एक ऋक् है । इन विभिन्न ऋचाओं से मिट्टी समान है । घट और मृत्ति–दोनों का समान सम्बन्ध है । जितनी ऋक् है–उतनी मिट्टी है । मृण्मयपात्ररूप ऋक् का जो आकार है–वही उस मिट्टी का आकार है, अतएव–**'ऋचा समं मेने'**–इस व्युत्पत्ति से हम मिट्टी को मृण्मय मूर्त्तियों का साम कहने के लिए तय्यार हैं ।

तीसरा है–ब्रह्म । प्रतिष्ठातत्त्व का नाम ही ब्रह्म है । यह प्रतिष्ठा–आत्म, लोक, विधृति भेद से तीन प्रकार की है । 'घटोऽस्ति' में जो 'है' भाग है–वह आत्म-प्रतिष्ठा है । घड़ा मिट्टी में प्रतिष्ठित है । मिट्टी की प्रतिष्ठा भी इस घट में है । यही दूसरी लोकप्रतिष्ठा है एवं घड़ा पृथिवी पर रखा है । पार्थिवप्रतिष्ठा से यह विधृत है । यही तीसरी विधृतिप्रतिष्ठा है । इसी को परप्रतिष्ठा भी कह सकते हैं । इन तीनों में से प्रकृत में प्रभवरूपा लोकप्रतिष्ठा का ही ग्रहण है । मिट्टीरूप उक्थ में घट प्रतिष्ठित है । घट को मिट्टी ने धारण कर रखा है, अतएव–**'बिभर्त्ति'**–इस व्युत्पत्ति से मिट्टी उस घड़े का ब्रह्म है । बस, उक्थ-ब्रह्म-साम भावत्रयोपेत मिट्टी ही घट का आत्मा है । उक्थ प्रभव है, ब्रह्म प्रतिष्ठा है एवं अवसानरूप साम परायण है । उक्थ, ब्रह्म, साम कहो या प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण कहो–एक ही बात है । पार्थिव प्रजा का उक्थ-ब्रह्म-साम पृथिवी है । रूपप्रपञ्च का उक्थ-ब्रह्म-साम वाक् है । मन-प्राण-वाक् आत्मा के तीन विवर्त्त हैं । तीनों क्रमशः रूप, कर्म्म, नाम से भी व्यवहृत हैं । यही आत्मा का एक स्वरूप है । पृथिवी उक्थ है । सूर्य्य उक्थ है । चन्द्रमा उक्थ है । संसार के यावन्मात्र पदार्थ 'उक्थ' हैं । उन-उन लोक के पदार्थों के लिए वे-वे लोकी उक्थ हैं–ब्रह्म हैं–साम हैं । इसी उक्थ-साम-ब्रह्मसबन्धी आत्मस्वरूप को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मण–श्रुति कहती है—

"अयं वा इदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेतेषां साम एतद्धि सर्वैर्नामभिः समं । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति"–इत्यादि ॥[1]

'उक्थब्रह्मसामसमष्टि आत्मा है'–पूर्व के सारे प्रपञ्च से हमें प्रकृत में यह मात्र बतलाना है । आत्मा बिना प्राण के नहीं रहता । प्राण बिना वाक् के नहीं रहता । मनभाग आत्मा है । प्राण-

१–शत० ब्रा० १४।४।४।१ ।

भाग प्राण है। वाक्‌भाग वाक् है। तीनों की समष्टि प्रजापति है। प्रजापति में तीन उक्थ हैं–तीन साम हैं, तीन ब्रह्म हैं। मन पहला उक्थ, ब्रह्म, साम है। यह रूपों का आत्मा है। प्राण दूसरा उक्थ, ब्रह्म, साम है। यह कर्म्मों का आत्मा है। वाक् तीसरा उक्थ, ब्रह्म, साम है–यह नामों का आत्मा है। जो उक्थ है–वही ब्रह्म है–वही साम है, अतएव हम तीनों का केवल 'उक्थ' शब्द से ही ग्रहण करेंगे। इस उक्थ में से प्राण निकलते हैं। उक्थ से निकलने वाले प्राण ही 'अर्क' कहलाते हैं। यह प्राण उस 'आत्मोक्थ' से निकलकर किसी वस्तु को पकड़ते हैं–बस, प्राणगृहीत जो वस्तु है–वही 'अशिति' (अन्न) है।

मन को सूर्य्यबिम्ब समझिए। मन स्वस्थान पर प्रतिष्ठित है। इसमें से रश्मिएँ निकलती हैं। ये मनोमय रश्मिएँ रूपविषय को पकड़ती हैं। बस, मन उक्थ है, रश्मि प्राण है, रूप अशिति है। एवमेव प्राण एक बिम्ब है। इससे निकलने वाली रश्मिएँ अर्क हैं। इन रश्मियों से सम्बद्ध कर्म्मप्रपञ्च अशिति है। वाक् उक्थ है। रश्मिएँ अर्क हैं। नाम अशिति है। इस प्रकार मन-प्राण-वाक् तीनों उक्थों में–उक्थ, अर्क, अशिति–तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यह उक्थार्काशितिभाव अपेक्षाभाव पर निर्भर है। मन स्वयं उक्थ है, प्राण अर्क है, वाक् अशिति है। अशिति अन्न है। अन्न भोग्य पदार्थ हैं। भोग्य पदार्थ स्वयं अनात्मीय आत्मपरिगृहीत होता है, अतएव ऋषि ने इसे–'पशु' शब्द से व्यवहृत किया है। 'उक्थ, अर्क, अशिति–आत्मा-प्राण-पशु' एक ही बात है—

१–मन –ज्ञानमय आत्मा –उक्थ
२–प्राण –क्रियामय प्राण –अर्क
३–वाक् –अर्थमय पशु –अशिति

१–मन –उक्थ
२–मनरश्मिएँ –अर्क
३–रूप –अशिति

१–प्राण –उक्थ
२–प्राणरश्मिएँ –अर्क
३–कर्म्म –अशिति

१–वाक् –उक्थ
२–वाक् रश्मिएँ –अर्क
३–नाम –अशिति

इन तीनों की समष्टि ही प्रजापति है। संसार के पदार्थमात्र नामरूपकर्म्मात्मक हैं। तीनों के उक्थ-ब्रह्म-साम मन-प्राण-वाक् हैं। मन, प्राण, वाक् की समष्टि ही प्रजापति है। सुतरां सर्वत्र–**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च'**[1] **'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो०'**[2]–इत्यादि श्रुतियों की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। इस मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति का उक्थभाग आत्मा कहलाता है। इससे निकलने वाली जो रश्मिएँ हैं–वे ही प्राण हैं। 'प्राण' तत्त्व कहाँ से पैदा होता है?–इसका सीधा सा उत्तर है–आत्मा। आत्मा ही प्राण का प्रभव है। इन आत्माओं के पुरुष (१)और प्रकृति (५)भेद से ६ भेद हो जाते हैं। षोडशी आत्मा पहला आत्मा है। यही आत्मा पुरुष आत्मा है एवं स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी–ये पाँच प्राकृत आत्मा हैं। ये ६ओं आत्मा हैं–उक्थ हैं। इन ६ओं में से ६ प्रकार के प्राण निकलते हैं। **'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'**[3]–के अनुसार पाँचों प्राकृतात्मा और पुरुष अभिन्न हैं, अतएव षोडशी आत्मा के प्राणभाग का प्राकृतात्माओं के स्वयम्भू नाम के प्राकृतात्मा में अन्तर्भाव हो जाता है–जैसा कि दूसरे प्रश्न में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। स्वयम्भू एक पिण्ड है। इससे निकलने वाले प्राण का नाम यजुः प्राण है–इसे ही **'परोरजा'** प्राण कहा जाता है। परमेष्ठी पिण्ड है–उक्थ है–आत्मा है। इससे निकलने वाला प्राण रयिप्राण है। सूर्य्य-आत्मा से निकलने वाला प्राण धिषणाप्राण है। चन्द्रात्मा से निकलने वाला प्राण प्रज्ञाप्राण है एवं पृथिवी-आत्मा से निकलने वाला प्राण भूतप्राण है। बस, आत्मा चूंकि कुल पाँच हैं एवं प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है, अतएव प्राण भी कुल पाँच ही प्रकार का होता है–जैसा कि पूर्व के उपनिषदों में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है—

संसार में जितने वस्तुपिण्ड हैं–सब नामरूपकर्म्मात्मक होने से मनःप्राणवाङ्मय हैं। क्योंकि नाम विना वाक् के अनुपपन्न है, रूप विना मन के अनुपपन्न है एवं कर्म्म विना प्राण के अनुपपन्न है एवं–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'**–इसके अनुसार मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व आत्मा है, अतः हम वस्तुमात्र के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। इसी आधार पर–**'आत्मैवेदं सर्वम्'**–यह निगम चलता है। ऋषि-प्राण का प्रभव बतलाते हुए कहते हैं कि–**'आत्मनो वा एष प्राणो जायते'**। आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है। आप जितने भी पिण्ड देख रहे हैं–विश्वास कीजिए–सबमें से रश्मिएँ निकल रही हैं। स्वज्योतिर्मय-परज्योतिर्मय आत्माओं में तो भूतज्योति के कारण उस प्राणतत्त्व के–रश्मिभूत के सहारे प्रत्यक्ष हो जाता है। सूर्य्य स्वज्योतिर्मय है। चन्द्रमा परज्योतिर्म्मय है। दोनों की रश्मियाँ तो हम देखते हैं। परन्तु रूपज्योतिर्मय पृथिवी आदि पदार्थों से निकलने वाली रश्मियों को हम नहीं देखते। परन्तु विज्ञान कहता है कि तुम पिण्डमात्र के साथ प्राण का सम्बन्ध समझो। वस्तुमात्र में से प्राण निकलता है। उस प्राण का मण्डल बड़ी दूर तक बनता है। उस प्राणमण्डल में–

१–शत० ब्रा० ६।१।२।११। २–यजुर्वेद २३।६५।
३–गीता १३।१६।

अशिति बैठी रहती है। इसी अशिति को 'पशु' कहा जाता है। सूर्य्य[1] उक्थ है। रश्मिमण्डल अर्क है। रश्मिमण्डलरूप बृहत्साम में प्रतिष्ठित पृथिवी, चन्द्र, मंगल, शनि, बुध, शुक्र आदि ग्रह, अस्मदादि चतुर्दशविध भूतसर्ग अशिति हैं। इन सबको सूर्य्य अपनी रश्मियों द्वारा खाया करता है। सबका रस चूसा करता है। यह सारा प्रपञ्च उसी उक्थ सूर्य्य से पैदा होकर, उसी पर प्रतिष्ठित होकर उसी का अन्न बन रहा है। पृथिवी उक्थ है। पृथिवी की कृष्ण रश्मिएँ अर्क हैं। कृष्ण-रश्मिरूप रथन्तर साम में प्रतिष्ठित हम सब अशिति हैं। हम उक्थ हैं। हमारे शरीर से निकलकर चारों ओर व्याप्त होने वाली रश्मिएँ अर्क हैं। शरीर, स्त्री, प्रजा, पशु, वित्त सब हमारी अशिति हैं। जहाँ तक हमारी संपत्ति रहती है, हमारी आत्मरश्मिएँ व्याप्त रहती हैं। सारी सम्पत्ति आत्मरश्मियों के भीतर प्रतिष्ठित हैं। इसी आधार पर—'यावद् वित्तं तावदात्मा'—यह कहा जाता है। जो सूर्य्य-पृथिवी आदि हमारा अन्नाद है—वही हमारा अन्न भी है। हम सबके रसों को खाकर ही जीवित रहने में समर्थ होते हैं। निदर्शन-मात्र है। संसार के पदार्थमात्र में उक्थ, अर्क, अशिति—तीनों भाव हैं। सब एक दूसरे के प्रति अन्न हैं, अन्नाद हैं। इसी अशितिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ॥[2]

वस्तुमात्र आत्मा है। इस उक्थ आत्मा से चारों ओर निकलने वाली रश्मिएँ ही प्राण हैं। प्राण कहाँ से उत्पन्न हुआ—इसका उत्तर है?—आत्मा—उक्थ पिण्ड। आत्मभाग मन है। यही मन उक्थ

१—उक्थ-अर्क-अशिति का विशद विवेचन ऐतरेय आरण्यक (२।१।२) में देखना चाहिए।

उक्थ	अर्क	अशिति
पृथिवी	—अग्नि	—अन्न
अन्तरिक्ष	—वायु	—अन्न
द्यौ	—आदित्य	—अन्न
पुरुष	—रश्मि	—अन्न
मुख	—वाक्	—अन्न
नासा	—वायु	—अन्न
ललाट	—चक्षु	—अन्न

२—सामवेद पू० ६।१०।६।

है। इससे निकलने वाली रश्मिएँ प्राण हैं। प्राण से बद्ध वाक्भाग पशु है। प्राण सर्वथा निराकार है–अधामच्छद है। वह जगह नहीं रोकता, अतएव प्राण का–'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दरहितः–उक्थात्मनो निर्गतः कश्चन तत्त्वविशेषः प्राणः'–यह लक्षण किया जाता है। वाक् भूतमय होने से धामच्छद है जगह रोकने वाली है। इसी अभिप्राय से–'वाग् धामच्छत्'[1]–यह कहा जाता है। हम जो कुछ देखते हैं–सब वाक् है। आत्मप्रजापति इस भूतमय वाक्भाग को ही देखने में समर्थ होता है, अतएव 'अपश्यत्'–इस व्युत्पत्ति से हम इसे 'पशु' कहने के लिए तय्यार हैं। प्रत्यक्षदृष्ट वस्तुमात्र पशु है। इस वाक्रूप पशु की प्रतिष्ठा प्राण है। प्राण पर वाक् उपहित रहती है। इस प्राण ने ही उस वस्तु को पकड़ रखा है। जब तक प्राण है, तब तक वह वस्तु है। प्राण (दम) निकले बाद वस्तुपिण्ड विशीर्ण हो जाता है–जर्जरित होता हुआ नष्ट हो जाता है। हम वाक् को देखते हैं, प्राण को नहीं देखते, अतएव हम प्राण को अधामच्छद कहते हैं। इस अधामच्छद प्राण का पूर्ण विकास अधिदैवत में–सूर्य्य में है, अध्यात्म में चक्षुरिन्द्रिय में है, अतएव प्रकाश अधामच्छद है। चक्षु भी अधामच्छद है। चक्षुप्राण में सारा विश्व ही एक ही बिन्दु पर समा जाता है। उधर एक ही मकान में–एक ही स्थान पर १० दीपप्रकाश समा जाते हैं। सब परस्पर असंग हैं। यह नीरूप असंग प्राणतत्त्व उस केन्द्रस्थ उक्थ मनरूप आत्मा पर हित है। आत्मरश्मिएँ ही तो प्राण हैं, अतः इनका उसी पर हित रहना न्यायसंगत है। बस, प्राण के इसी साधारण प्रभवविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पिप्पलाद कहते हैं—

"आत्मन एष प्राणो जायते"।

आत्मा से उत्पन्न होकर प्राण किस तरह से उस आत्मा से युक्त रहता है?–इसका उत्तर देते हुए आगे जाकर ऋषि कहते हैं—

"यथा एषा पुरुषे छाया-एतस्मिन्नेतदाततम्"।

अपने शरीर की आत्मा को आबालवृद्ध सभी पहचानते हैं। बस, छाया का और शरीर का जो सम्बन्ध है–करीब-करीब वही सम्बन्ध आत्मा और प्राण का है। करीब-करीब हमने इसलिए कहा है कि छायादृष्टान्त के साथ प्राण का एक देश से सम्बन्ध है। छाया शरीर से अविनाभूत है। जब तक शरीर है–तब तक अवश्यमेव छाया है। छाया शरीर से बद्ध है, परन्तु शरीर से पृथक् तत्त्व है। साथ ही में इसका प्रभव शरीर ही है। तथैव जब तक प्राण है, तब तक अवश्यमेव आत्मा है। प्राण आत्मा से बद्ध है, परन्तु आत्मा से पृथक् तत्त्व है। साथ ही में इस प्राण का प्रभव वही आत्मा है। इस अंश में छाया-प्राण समान हैं, परन्तु छाया शरीर के एक भाग में रहती है–प्राण चारों ओर रहता है। 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषां अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्'[2]–के अनुसार प्राण अपना वर्त्तुलमण्डल बनाता है। दीप–लौ आत्मा है। उससे निकलकर चारों ओर अपना गोलमण्डल बनाने वाला रश्मि-

---

१–शत० ब्रा० १०।१।३-१०।   २–ऋग्वेद मं० १०।१२९।५।

मण्डल प्राण है। बस, आत्मा से निकलकर चारों ओर अपनी व्याप्ति रखता हुआ प्राण उसी प्रकार इस आत्मा में आतत रहता है-जैसे कि इस शरीर में छाया आतत रहती है।

बस, पहले प्रश्न का यही समाधान है।

॥ १ ॥

(२) दूसरा प्रश्न है—

"कथमायात्यस्मिञ्छरीरे" ?

हमने बतला दिया है कि जीवसृष्टिभेद से अनन्त प्रकार के प्राण हो जाते हैं। सूर्य्य आत्मा है। रश्मिएँ प्राण हैं। एक पानी के पात्र में रश्मि का सम्बन्ध होता है। नया प्रतिबिम्बरूप सूर्य्य उत्पन्न हो जाता है। अर्क उक्थ बन जाता है। अब इससे भी स्वतन्त्र प्राण निकलने लगते हैं। यद्यपि इस प्रकार अनन्त प्राण हो जाते हैं, तथापि इन अनन्त प्राणों का केवल पाँच ही प्राणों में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि प्रकृतिमण्डल में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी पाँच प्राकृतात्मा हैं। आत्मा पाँच हैं। आत्मा से प्राण निकलता है। सुतरां आत्मपञ्चत्व के कारण पाँच प्राणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन पांचों प्राणों का आत्मा के साथ किस आधार पर सम्बन्ध होता है-**'कथमायात्यस्मिन् शरीरे'** ?-इस प्रश्न का यही निष्कर्ष है।

हमारे अध्यात्म में अव्यक्त, महान्, प्रज्ञान (मन), विज्ञान (बुद्धि), शरीररूप-ये पाँच आत्मा हैं। इससे इस प्रश्न का साधारणसा यही उत्तर हो जाता है कि अव्यक्त के द्वारा वाक्प्राण वाले परोरजा-प्राण का अध्यात्म में आगमन होता है। महान् को अधिकृत करके रयिप्राणवाले पारमेष्ठ्यप्राण का आगमन होता है। प्रज्ञान के द्वारा प्रज्ञाप्राणवाले चान्द्रप्राण का आगमन होता है। विज्ञानात्मा के द्वारा धिषणाप्राणवाले सौरप्राण का आगमन होता है एवं शरीर के द्वारा भूतप्राणवाले पार्थिव प्राण का आगमन होता है। ऐसी अवस्था में-**'कथमायात्यस्मिञ्छरीरे'**-इस प्रश्न का ऋषि को—

१-अव्यक्ताधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे	परोरजाप्राणः	स्वायम्भुवः
२-महदधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे	रयिप्राणः	पारमेष्ठ्यः
३-विज्ञानात्माधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे	धिषणाप्राणः	सौरः
४-प्रज्ञानाधिकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे	प्रज्ञाप्राणः	चान्द्रः
५-शरीराधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे	भूतप्राणः	पार्थिवः

-यह उत्तर देना चाहिए था। परन्तु यह उत्तर न देकर केवल प्रज्ञान मन को सर्वाधार मानते हुए ऋषि कहते हैं कि—

"मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे"-इति ।।

इस उत्तर में कुछ रहस्य है। इससे मालूम होता है कि पाँचों आत्माओं से किसी अन्य ही आत्मा का ऋषि प्रकृत में ग्रहण कर रहे हैं। प्रधानदृष्टि किसी छठे आत्मा पर है, गौणदृष्टि से ६ओं आत्माओं पर है। कठोपनिषत् में बतलाए गए ब्रह्मसत्य-देवसत्यस्वरूप का स्मरण कीजिए। पूर्वोक्त अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, शरीर पांचों आत्मा ब्रह्मसत्य हैं एवं शरीरस्थानीय पृथिवी एवं चन्द्रमास्थानीय प्रज्ञान दोनों के मध्य में रहने वाला अर्काग्निरूप अग्निवायुइन्द्रात्मा भोक्तात्मा देवसत्य है। पानी से पृथिवी बनती है। पृथिवी देवसत्य का अन्तिमभाग है। पानी रुद्राग्नि के प्रवेश से घन होता है। वही पानी शर (मलाई) है। वही उत्तरोत्तर की घनता से पिण्ड पृथिवीरूप में परिणत होता है। इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति के तपः-श्रम से जो तेजरस निकलता है-वही अग्नि है। इस अग्नि के अग्नि, वायु, आदित्य-तीन भेद हो जाते हैं। यह अग्नित्रय ब्रह्मसत्य से सर्वथा पृथक् वस्तु है। इसी देवसत्य का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"आपो वा अर्कः। तद्यदपां शर आसीत्-तत् समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तत-अग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत। आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्"-इत्यादि ।।[1]

ये ही तीनों अध्यात्मजगत् के भोक्तात्मा हैं। यह आत्मा उन पाँचों ब्रह्मसत्यों से पृथक् ६ठा आत्मा है-जिसका कि विशद विवेचन पूर्व के उपनिषदों में किया जा चुका है। इस ६ठे आत्मा के अग्नि, वायु, आदित्य-तीन भाग हैं। अग्नि-आत्मा अपान है। यही विष्णुतन्त्र है। वायुरात्मा व्यान है-यही ब्रह्मतन्त्र है। आदित्यात्मा प्राणात्मा है-यही शिवतन्त्र है। अपानात्मा आग्नेय है। व्यानात्मा वायव्य है। प्राणात्मा आदित्य है-ऐन्द्र है। तीन आत्माओं की समष्टि 'भोक्तात्मा' है। बस, प्रकृत में आत्मशब्द से ऋषि इस ६ठे आत्मा का ही ग्रहण करते हैं। वस्तुतस्तु और भी सूक्ष्मविचार करने पर भोक्तात्मा का अपानात्मा, प्राणात्मा भी इस प्रकरण से अलग निकल जाता है। केवल मध्य का वायव्य व्यानात्मा ही रह जाता है। व्यानात्मा उक्थ है। इससे वायव्यप्राण निकलता है। प्राण कहाँ से पैदा होता है? इसका अर्थ है-वायव्यप्राण कहाँ से पैदा होता है? आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है-इसका उत्तर है-'व्यानात्मा' से यह प्राण उत्पन्न होता है। यह व्यानप्राण मन के आधार पर ही शरीर में प्रविष्ट होता है-अतएव ऋषि को-'**कथमायात्यस्मिञ्छरीरे**'-इस प्रश्न का-'**मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे**'-यही उत्तर देना पड़ा है।

मन के द्वारा ही यह वायव्यप्राण शरीर में आता है। रस, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र-ये सातों धातु अपानाग्नि से (पार्थिवाग्नि से) सम्बन्ध रखते हैं। ओज

१-शत० ब्रा० १०।६।५।२-३।

व्यानाग्नि (आन्तरिक्ष्य वायुरूप अग्नि) से सम्बन्ध रखता है एवं मन दिव्यप्राणाग्नि से सम्बन्ध रखता है। अन्न में सबसे ऊपर का स्तर पार्थिव है। यही वाक्‌भाग है। इसके भीतर ओजरूप प्राणभाग है। सर्वान्तरतम मन है। अन्न में पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य–तीनों रस मौजूद हैं। दूसरे शब्दों में–अपानाग्नि, व्यानवायु, प्राणइन्द्र तीनों हैं। अन्न खाया जाता है। इसके रसमल के क्रमिक विशकलन से यही भुक्त अन्न क्रमशः रस, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र–इन सात अवस्थाओं में परिणत हो जाता है–ये सातों पार्थिव हैं–वाक् हैं। पार्थिव भाग के निकल जाने से दूसरा अन्नगर्भित प्राणभाग उल्बण हो जाता है–वही ओज है। ओज आन्तरिक्ष्य मध्यस्थ व्यानवायु है। इसके अलग निकल जाने पर शुद्ध सोम रह जाता है–यही मन है। शुक्र से ओज बनता है। ओज से मन बनता है। मन चान्द्ररस है–चन्द्रमा की वस्तु है। चान्द्रसोम ओषधिरूप में परिणत होकर पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार तीसरी अवस्था में मन बनता है, अत एव–**'अन्नमयं हि सोम्य मनः'**[1]–यह कहा जाता है। शुक्रपर्य्यन्त पार्थिवभाग वैश्वानर है। ओज आन्तरिक्ष्य तैजस है। मन दिव्यप्राज्ञ है। वैश्वानर अग्नि है, तैजस वायु है, मन इन्द्र है। इसीलिए तो–**'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा–तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'**[2]–यह कहा जाता है—

अन्नमयं ब्रह्म:

१–रस, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, पार्थिव धातु		वाक्	(अपानाग्नि)
२–ओज————————————	आन्तरिक्ष्य,	प्राण	(व्यानवायु)
३–शुद्ध सोम————————————	दिव्य	मन	(प्राणादित्यः)

(स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः)

अन्नरस शुक्र बनता है। यह शुक्र ही प्रजोत्पत्ति का पहला उपादान है। यह शुक्र सर्वाङ्गशरीर में–शरीरस्वरूप में परिणत होकर प्रतिष्ठित होता है। प्रजननक्रिया द्वारा होने वाले घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। इस अग्निताप से शरीराकार में परिणत सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त जमा हुआ शुक्र पिघलता है। पिघलकर वह अण्डकोषों में आता है। इसी अभिप्राय से–**'यदा वै स्त्रियै च पुंसश्च संतप्यते अथ रेतः सिच्यते'**[3]–कहा जाता है। यहाँ से उपस्थ द्वारा निकलकर योनिगत आग्नेय शोणित में सुत (आहुत) होकर १० मास के अनन्तर सुत (अपत्य) रूप में परिणत होता है। रेत की हमने सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्ति बतलाई है एवं उसे शरीराकाराकारित बतलाया है, अतएव सिक्तरेत उसी रूप में परिणत होता है। शरीर के जिस भाग का रेत च्युत नहीं होता–सन्तान में उसी भाग की कमी हो जाती है। माता के गर्भ में स्थित गर्भ पहले रेतोरूप से पिता के गर्भ में (सर्वाङ्गशरीर में गर्भित) रहता है। वहाँ से सर्वाङ्ग शरीर से निकलकर माता की योनि मे सिक्त हो–दूसरा जन्म लेता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

"पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः"।

१–छान्दोग्योप० ६।६।५। २–कौषी० उप० ३।२। ३–शत० ब्रा० ३।५।३।१६।

तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवाऽऽत्मानं बिभर्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति-अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म" ।।[1]

इस प्रकार यद्यपि रेत का सर्वाङ्ग शरीर में संस्थान बतलाया जाता है, तथापि इसका उक्थ हृदय ही समझना चाहिए। कारण इसका यही है कि हृदय में मन प्रतिष्ठित है। मन रेतोरूप है- सोमरूप है। इसी के आधार पर रेत प्रतिष्ठित है। इसी अभिप्राय से-**'रेतो हृदये श्रितम्'**[2]-यह कहा जाता है। यह रेत साक्षात् सोम है। आपः, वायु, सोम तीनों भृगु हैं। इन तीनों के आधार पर क्रमशः आग्नेय (रौद्र), वायव्य, सौरप्राण प्रतिष्ठित हैं-जैसा कि पूर्व की त्रिलोकीव्यूहन में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। सोम, वायु दोनों आन्तरिक्ष्य हैं-सजातीय हैं। **'त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्'**[3] के अनुसार चान्द्रसोम भी अन्तरिक्ष में ही रहता है। एवं-**'वायुर्वान्तरिक्षम्'**-के अनुसार वायु भी अन्तरिक्ष में ही रहता है। तीसरा आपोभाग-पार्थिव निर्म्माण में उपयुक्त हो जाता है। वायु ओज है। सोम मन है। पार्थिव आपोमय अग्नि भूत है। यह अलग है-मन, वायु अविनाभूत हैं। जहाँ मन है-वहाँ वायु (प्राण) अवश्य हैं। यह वायुप्राण-व्यानात्मा से उत्पन्न होने वाला प्राण मन के आधार पर हीप्रतिष्ठित रहता है। जब तक मन है तब तक श्वास-प्रश्वास है। वाक् पृथिवी है। मन अन्तरिक्ष है। इसी अभिप्राय से- **'इयं वै वाक्-अदो मनः'**[4]-यह कहा जाता है। मन के साथ ही आन्तरिक्ष्य वायु है। **'यन्मनः स इन्द्रः'**[5] के अनुसार मन इन्द्र है एवं-**'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः'**[6]-के अनुसार मनइन्द्र वायुमय है। वह वायुभाग ही इस **'प्रज्ञेन्द्र'** का आत्मा है। मन प्रज्ञा है। वायु प्राण है। प्रज्ञा ही उसकी आत्मा है। दोनों ऐसे मिले हुए हैं कि दोनों को पृथक् नहीं देखा जा सकता। इसी आधार पर-**'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। या वा प्रज्ञा (मनः) स प्राणः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः- सहोत्क्रामतः'**-इत्यादि ।।[7] अधिक कहना व्यर्थ है-निम्नलिखित श्रुतिवचन स्पष्ट ही दोनों का अविनाभाव बतला रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि हमारे ऋषि **'मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे'**-कहते हैं- तो क्या अत्युक्ति करते हैं—

१-"मनोऽन्तरिक्षलोकः"।[8]

२-"मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ"।[9]

१-ऐत० आ० २।५।१।

२-तै० ब्रा० ३।१०।८।७।

३-ऋग्वेद मं० १।६१।२२।

४-ऐ० ब्रा० ५।३३।

५-गोपथ० ब्रा० उ० ४।११।

६-या० नि० दैवतकाण्ड ७।५।

७-कौषी० उप० ३।३।

८-बृहदा० उप० १।५।४।

९-शत० ब्रा० ८।१।१।७।

३–"यन्मनः स इन्द्रः" ।[1]

४–"वातो वा मनो वा" ।[2]

५–"मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः" ।[3]

६–"मनो वै प्राणानामधिपतिः" ।[4]

७–"मनसि ह्ययमात्मा (व्यानात्मा) प्रतिष्ठितः" ।[5]

८–"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" ।[6]

९–"या वा प्रज्ञा स प्राणः" ।[7]

१०–"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा" ।[8]

मन के आधार पर ही प्राणवायु अध्यात्म में प्रविष्ट होता है। इसका प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि मन सोम है। चेतना का आभास इसी पर पड़ता है। विज्ञान चैतन्य मन पर प्रतिबिम्बित होता है। जहाँ चेतना आई कि श्वास-प्रश्वास प्रारम्भ हुआ। जब तक चैतन्य है–मन है–तब तक ही श्वास-प्रश्वास है। इसीलिए तो मृत्युकाल में हृदय पर हाथ लगाकर जीवनसत्ता का अनुमान लगाया जाता है। जब तक हृदयगति है–मनोव्यापार है–तब तक जीवनप्राण (व्यान) है। व्यानप्राण को जीवन का कारण बतलाया जाता है,–वह इस मन के आधार पर ही अध्यात्म में प्रविष्ट है। मन सूर्य्य है। व्यान आन्तरिक्ष्यहै। अपान पार्थिवाग्नि है–वाक् है। वाक्प्राणरूप अग्नि–वायु दोनों ही–सौर मन के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। चेतना से ही शरीर में गर्मी है। इसीलिए–'मनो वा अग्निः'[9]–यह कहा जाता है। चेतनासत्ता से ही प्राणव्यापार है। बस, इन्हीं सब कारणों को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने–'कथमायात्यस्मिन् शरीरे' के उत्तर में–'मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे' कहा है।

पहले उपनिषत् में हमने कहा था कि इस तीसरे प्रश्न में चान्द्रप्रज्ञाप्राणवाले आन्तरिक्ष्य व्यानरूप प्राण का निरूपण है। अध्यात्म मन चन्द्रमा है–वह उक्थ है। चन्द्रमा सोममय है। असल में रेत का उक्थ चन्द्रमा का प्रज्ञाभाग है। प्राण का उक्थ चन्द्रमा का प्राण (व्यान) भाग है। व्यान उत्पन्न होता है–प्राणात्मा में। उत्पन्न होकर शरीर में आता है–प्रज्ञामन के द्वारा।

१–गो० ब्रा० उ० ४।११।
२–शत० ब्रा० ५।१।४।८।
३–शत० ब्रा० ७।५।२।६।
४–शत० ब्रा० १४।३।२।३।
५–शत० ब्रा० ६।७।१।२१।
६–कौषी० उप० ३।२।
७–कौषी० उप० ३।२।
८–कौ० उप० ३।२।
९–शत० ब्रा० १०।१।२।३।

यह है—इस प्रश्न का प्रधान उत्तर। अब गौणपक्ष से यदि विचार किया जाता है तो यह समाधान पाँचों प्राणों के साथ लागू हो जाता है—जैसा कि प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है।

वाक्प्राण, रयिप्राण, धिषणाप्राण, प्रज्ञाप्राण, भूत प्राण—इन पाँचों प्राणों का प्रभव अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, शरीर ही हैं। परन्तु आगमन इनका मन के द्वारा ही होता है। **'मनोविनाशे सकलं विनष्टम्'**—के अनुसार मन ही सारे प्राणों का आलम्बन है। मन पर ही विज्ञान चमकता है। विज्ञान पर महान् है। महान् पर अव्यक्त है। यदि मन है तो विज्ञान, महान्, अव्यक्त सब कुछ है। मन नहीं तो कुछ नहीं। मन हृदय में है। हृदय-मन प्रजापति है। **'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'**[1]—के अनुसार मन ही सर्वालम्बन है। इसीलिए तो—**'मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः'**[2]—यह कहा है। मन अन्नमय है। अन्न खाना बन्द कर दो—मन नष्ट हो जाएगा। मन के नष्ट होते ही सारे प्राण भाग जायेंगे। बस, इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रखकर पिप्पलाद ने—**'मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे'** यह कहा है। इस प्रकार से 'कथमायात्यस्मिञ्छरीरे'—इस दूसरे प्रश्न का समाधान हो चुका ॥३॥

॥ २ ॥
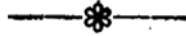
(३) तीसरा प्रश्न है—

"आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते 'प्रतितिष्ठते" ॥

यद्यपि गौणरूप से इस प्रश्न के 'प्राण से' सभी प्राणों का ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु प्रधानरूप से यहाँ का प्राण मध्यस्थव्यान ही समझना चाहिए। यह व्यानप्राण मन के द्वारा शरीर में आ गया। अब प्रश्न होता है कि शरीर में आकर यह किस-किस रूप से प्रतिष्ठित होता है? बस, इस प्रकरण में इसी का उत्तर दिया जाता है। पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज—पशु इन पाँच भागों में विभक्त हैं। इन पाँच पशुओं में ही इतर सारे पशुओं का अन्तर्भाव है। इन पशुओं में प्रत्येक में आदि मध्य, अन्त विभाग से तीन मुख हैं। इनमें मध्य के मुख्य में तीन मुख हैं। इस प्रकार पाङ्क्त पशुओं में पाँच मुखों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन पाँचों में आद्यन्त के मुख—'मुख, मूलद्वार' नाम से प्रसिद्ध हैं। मुख मुख है। यह अन्नागमन द्वार है। मूलद्वार पश्चिममुख है। यह अन्ननिर्गमनद्वार है। मध्य में कण्ठद्वार पहला है। हृदयद्वार दूसरा है। नाभिद्वार तीसरा है। इस प्रकार मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, मूलभेद से प्रत्येक में पाँच द्वार हो जाते हैं। हृदय मध्य में है। ऊपर भी दो द्वार (कण्ठ, मुख) हैं। हृदय से नीचे भी दो द्वार (नाभि, मूलद्वार) हैं। हृदय से ऊपर के दोनों द्वारों में सौर प्राणाग्नि की सत्ता है। नीचे पार्थिव अपानाग्नि की सत्ता है। मध्य में आन्तरिक्ष्य व्यानाग्नि की सत्ता है। जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

1—यजुर्वेद ३१।१९। 2—शत० ब्रा० ७।५।२।६।

१–मुख–पूर्वमुख–अन्नागमन द्वार } २–कण्ठ } →सौर प्राणाग्नि = (द्यौः)—१

२–कण्ठ, ३–हृदय, ४–नाभि } –मध्यममुख—→आन्तरिक्ष्य व्यानाग्नि = अन्तरिक्ष—२

४–नाभि, ५–मूलद्वार = पश्चिममुख–अन्ननिर्गमनद्वार } →पार्थिव अपानाग्नि = (पृथिवी)—३
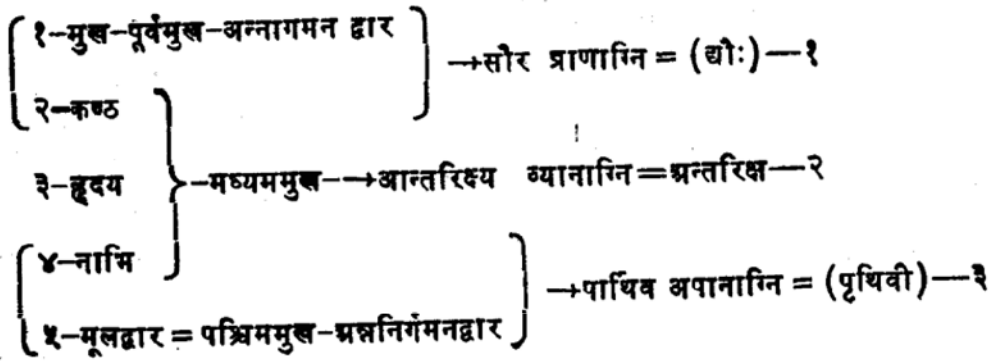
इस प्रकार मूलद्वार से प्रारम्भ तक–ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त–अपान पार्थिव अग्नि, व्यान आन्तरिक्ष्य अग्नि, दिव्य प्राणाग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों अग्नियों के मध्य में जो व्यानाग्नि है–वह स्तौम्य त्रिलोकी की वस्तु है। स्तौम्य त्रिलोकी के अतिरिक्त एक रोदसी त्रिलोकी और है। उसमें भी ये ही तीन लोक हैं। रोदसी त्रिलोकी के पृथिवीभाग से शरीर बनता है। सूर्य्य से विज्ञान बनता है। मध्य के आन्तरिक्ष्य वायु से वायव्य प्राण बनता है। यह उस स्तौम्य त्रिलोकी के आन्तरिक्ष्य व्यान से पृथक् समझना चाहिए। स्तौम्य त्रिलोकी का आन्तरिक्ष्य व्यान तो एक प्रकार से अग्निरूप ही है। पार्थिव अग्निरस ही तीन रूप में परिणत हो रहा है एवं यह रोदसी का प्राण वायुरूप है। यद्यपि पूर्व में हमने यहाँ के प्राण से स्तौम्य व्यान का ग्रहण कर लिया है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर मानना पड़ता है कि यहाँ का प्राण असल में देवसत्य की वस्तु नहीं–अपि तु, ब्रह्मसत्य की वस्तु है। सूर्य्य, पृथिवी, चान्द्रसोम और वायुमय अन्तरिक्ष–तीनों ब्रह्मसत्य की वस्तु हैं। इनमें मध्य का प्राण ही मन के द्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होता है। यह आन्तरिक्ष्य प्राण 'प्राण' है। यह हृदय में उक्तरूप से प्रतिष्ठित होकर 'व्यान' नाम से प्रसिद्ध हुआ–'व्यानः सर्वशरीरगः'–के अनुसार सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता है। पार्थिव अपानाग्नि–मध्य के व्यानाग्नि के धक्के से आगति-गतिशील बनकर–अपान, समान रूप से परिणत हो जाता है एवं इसी प्रकार इसी व्यान के प्रतिरोध से प्राणाग्नि प्राणोदानरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार स्तौम्य त्रिलोकी के त्रैलोक्याग्नि की–१–अपानाग्नि, २–समानाग्नि, ३–व्यानाग्नि, ४–प्राणाग्नि, ५–उदानाग्नि–ये पाँच भेद हो जाते हैं। ये पाँचों स्तौम्य त्रिलोकी की वस्तु हैं। स्तौम्य त्रिलोकी अमृता पृथिवी है। 'अग्निगर्भा पृथिवी'–के अनुसार पृथिवी अग्निमय है, अतएव अपानादि पाँचों पार्थिव प्राणों को हम 'आग्नेय' कहने के लिए तय्यार हैं। इन पाँचों आग्नेय प्राणों का आधार शरीर है। शरीर चित्यपिण्ड पृथिवीरूप होने से ब्रह्मसत्य की वस्तु है एवं दृतिद्वार से प्रविष्ट होने वाला सूर्य्यप्राण विज्ञान है। बाकी बचता है–रोदसी का अन्तरिक्ष। इस अन्तरिक्ष का प्राण 'उक्थ, अर्क' भेद से दो भागों में विभक्त है। अन्तरिक्ष आत्मा उक्थ है। वायु (प्राणवायु) अर्क है। यही तीसरे प्रश्न का प्राण है। यह हृत्स्थ सौम्य मन पर प्रतिष्ठित होता है। प्रज्ञाप्राणवाला प्राण ही यहाँ प्राण है। प्रज्ञाप्राण चन्द्रमा की वस्तु है, अतएव इस प्राण को भी हम ब्रह्मसत्य की ही वस्तु मानने के लिए तय्यार हैं। मन के द्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होने वाला प्राण वायुरूप है एवं स्तौम्य त्रिलोकी के अपानादि पाचों प्राण आग्नेय हैं। अपानात्मा, समानात्मा, व्यानात्मा, प्राणात्मा,

उदानात्मा—ये पाँच आत्मा, वस्तुतः तीन आत्मा देवसत्यरूप हैं। चौथा ब्रह्मसत्यरूप वायव्य प्राणात्मा इन पाँच भागों में विभक्त होकर इन पाँचों में प्रतिष्ठित होता है। अपानाग्नि पर प्रतिष्ठित होकर वही प्राणवायु अपान नाम से व्यवहृत होने लगता है। समानाग्नि पर आके वही समान कहलाने लगता है। एवमेव व्यान, प्राण, उदान पर आके वही प्राण व्यान, प्राण, उदान कहलाने लगता है। इस प्रकार अध्यात्म में प्रविष्ट प्राण पाँच अग्नि आत्माओं में विभक्त होकर स्वयं भी उन्हीं नामों से व्यवहृत होने लगता है। सच पूछो तो एक ही पार्थिव अग्नि आत्मा को पञ्चधा विभक्त करने वाला भी यही प्राणवायु है। प्राणवायु आन्तरिक्ष्य है। अन्तरिक्ष ने ही पृथिवी-द्यौ का विभाग कर रखा है—यदि मध्य में विभाजक अन्तरिक्ष न हो तो पार्थिव-दिव्याग्नि एक हो जाय। एवमेव अपानप्राण आदान-विसर्ग के कारण अपान, समान, प्राण-उदान—इन चार स्वरूपों में परिणत हो जाता है। व्यापार क्रियाधीन है। यदि वायु न हो तो अपानप्राण का आदानविसर्ग ही न हो। इन्हीं सब कारणों को लक्ष्य में रखकर हम कह सकते हैं कि मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य प्राणवायु ही एक अग्नि को प्राणोदानव्यानसमानरूप से पाँच भागों में विभक्त कर आप स्वयं पाँच भागों में विभक्त हो जाता है। पाँचों स्थानों पर आप वायव्य प्राण का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। पहले अपान को ही लीजिए।

मल, मूत्र, रेतादि का परित्याग अपानाग्नि से होता है। विना गतिशील वायु के परित्याग-क्रिया असंभव है। वायुगर्भित अपान ही गतिशील बनकर इन मलों को बाहर फेंकने में समर्थ होता है। मुख में हुत अन्न को प्रज्वलित कर ऊपर फेंकना समान का काम है। फेंकना क्रिया है। क्रिया वायु का धर्म्म है। सुतरां समानाग्नि के साथ भी वायव्य प्राण की सत्ता सिद्ध हो जाती है। व्यानाग्नि का काम दोनों को (अपानसमानरूप अपान को एवं प्राणोदानरूप प्राण को) विष्टब्ध रखना है। यह व्यापार भी वायव्यप्राणसापेक्ष ही है, अतः मध्यस्थ व्यानाग्नि के साथ भी वायव्यप्राण का निवास मानना पड़ता है। प्राण का काम है—प्रश्वास। उदान का काम है—निःश्वास। दोनों का वायुपना तो सिद्ध ही है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए हमें मानना पड़ता है कि वह एक ही प्राणवायु अध्यात्म में प्रविष्ट होकर अग्नि को पञ्चधा विभक्त कर हृदय में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ पाँचों स्थानों में अर्करूप से व्याप्त होता हुआ सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त हो जाता है।
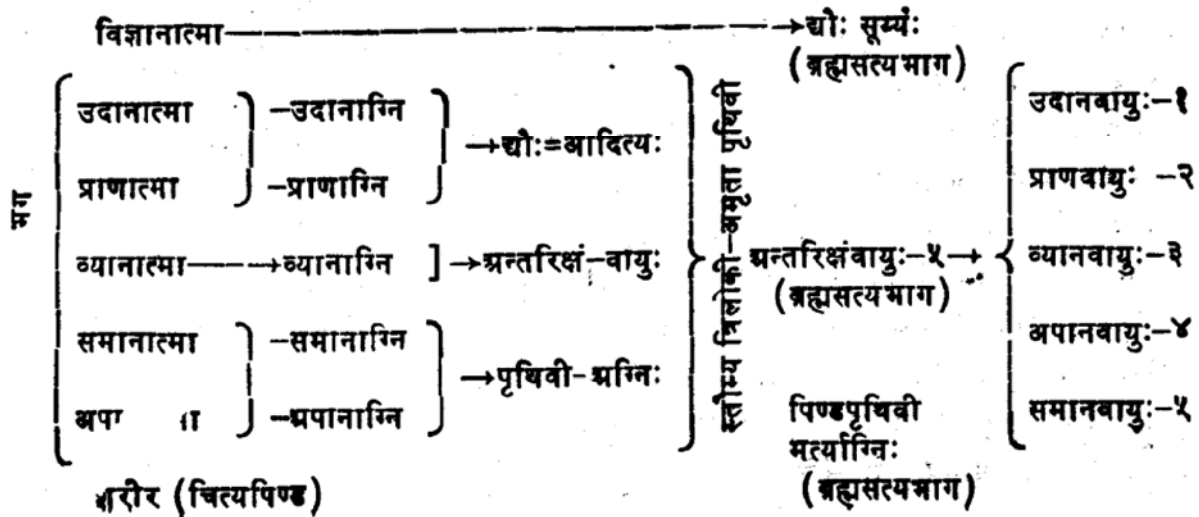
पञ्च आग्नेय प्राण	पञ्च वायव्यप्राण
१–उदानाग्निः	१–उदानवायुः
२–प्राणाग्निः	२–प्राणवायुः
३–व्यानाग्निः	३–व्यानवायुः
४–समानाग्निः	४–समानवायुः
५–अपानाग्निः	५–अपानवायुः

इस तालिका से पूर्व का विभाग स्पष्ट हो जाता है। पाँच वायव्य प्राणों से युक्त पाँचों आग्नेय प्राण तापरहित हैं। इनमें जरा भी ताप नहीं है। इन पाँचों प्राणाग्नियों में अपान–समान एक वस्तु हैं, प्राणोदान एक वस्तु हैं, अतः पाँच के स्थान में हम अपान, प्राण–ये दो और मध्य में व्यानाग्नि बोलेंगे। स्तौम्य त्रिलोकी के इन तीनों अग्नियों में परस्पर घर्षण होता है। इस घर्षण से तापधर्म्मा नया वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। इस घर्षण की स्थानत्रय से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। अपानस्थान में रहने वाला घर्षणजन्य अग्नि–अपानरूप पार्थिव अग्निप्रधान, होने से **'वैश्वानर'** कहलाता है। दूसरा **'तैजस'** कहलाता है। तीसरा **'प्राज्ञ'** कहलाता है। इस प्रकार तीनों के तारतम्य से वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ–तीन वैकारिक अग्नि और उत्पन्न हो जाते हैं। ये तीनों वैश्वानर हैं। मूलाधार पृथिवी है। कण्ठप्रदेश द्यौ है। शिरःस्थान विज्ञानमय सूर्य्य है। इस सारी संस्था में त्रिकल वैश्वानर व्याप्त है, अतएव इसके लिए–**'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्'–'वैश्वानरो यतते सूर्येण'**-यह कहा जाता है। इन सारे अग्नियों का संस्थान कहाँ कहाँ है–यह और जान लेना चाहिए।

मूलद्वार में अपानाग्नि रहता है। यहीं अपानवायु रहता है। मल, मूत्र, रेतादि का परित्याग इसी के द्वारा होता है। नाभिद्वार में समानाग्नि और समानवायु रहता है। चारों ओर से रसापहरण कर शरीररक्षा करना इसका काम है। इसीलिए तो पालक विष्णु का नाभि में निवास बतलाया जाता है एवं गर्भगत शिशु नाभिद्वारा ही अन्नरसादि को चारों ओर से लेकर खाने में समर्थ होता है, अतः **'समन्तान्नयति रसादिकम्'**–इस व्युत्पत्ति से यह अग्नि-वायु समान नाम से व्यवहृत है। एवं व्यान हृदय में प्रतिष्ठित होता हुआ सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता है। व्यान ही पाँचरूप धारण करता है, अतएव इसकी सर्वाङ्गशरीर में व्याप्ति बतलाना न्यायसंगत है। इसी हृदयस्थान से संस्पृष्ट होकर नाभि से नीचे नीचे प्राणाग्नि और वायु प्रतिष्ठित रहता है। कण्ठ में उदानाग्नि और उदानवायु रहता है। बाकी बचते हैं–वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ–ये तीन वैकारिक आत्मा। इनमें वैश्वानराग्नि नाभिस्थान से दक्षिण में रहता है। यद्यपि यह रहता नाभि में है, परन्तु नाभिस्थान समान से घिर जाता है। अतएव उसके पास ही इसे सजातीयता के कारण दक्षिण में अपना स्थान बनाना पड़ता है। इसी का नाम जाठराग्नि है। चतुर्विध अन्न का परिपाक करना इसी का काम है एवं व्यानस्थानीय हृदय में प्राज्ञ प्रतिष्ठित है। कण्ठनलिका में तैजसात्मा प्रतिष्ठित है। तैजसात्मा उदानाग्नि-उदानवायु से संश्लिष्ट है। यही तैजस आयु का अधिष्ठाता है। प्राज्ञ आत्मा व्यानाग्नि–व्यानवायु से संश्लिष्ट है। वैश्वानराग्नि समानाग्नि-समानवायु से संश्लिष्ट है।

एक बात और–हमने बतलाया है कि हृदय से नीचे पृथिवी है–ऊपर द्यौ है। इनमें हृदय से नीचे पायु-उपस्थ–दोनों अपानप्रधान हैं। ऊपर का भाग सौरप्राणप्रधान है। हस्तकस्थ सौरप्राण–दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो नासा, एक मुख भेद से सात भागों में विभक्त हो जाता है। ये सातों दिव्यप्राण हैं–जैसा कि आगे आने वाले चौथे प्रश्न में स्पष्ट हो जाएगा। इन्हीं सातों के लिए–'सप्तशीर्षण्याः प्राणाः'–कहा जाता है। नीचे के लिए 'द्वाववाञ्चौ' कहा जाता है। मध्य में नाभि है। जैसे हृदय मध्य है। कण्ठ मध्य है। एवमेव नाभि भी मध्य ही है। यही अन्तरिक्ष है। नीचे पार्थिव अपान है। यह पायूपस्थभेद से द्विधा विभक्त है। ऊपर द्युप्राण है। वह सप्तधा विभक्त है, मध्य में व्यान है। इस प्रकार प्रकारान्तर से त्रिलोकी के प्राण दशधा विभक्त हो जाते हैं। इन्हीं के लिए—

'सप्तशीर्षण्याः प्राणाः, द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमी'–यह कहा जाता है। चक्षुश्रोत्रमुखनासिकारूप प्राणाग्नि पर शासन करने वाला वही अध्यात्मप्रविष्ट प्राण है एवं पायूपस्थरूप अपान पर शासन करने वाला वही–अपान ही–मध्यगत वही व्यान है। एक सम्राट्–अपने राज्य के भिन्न-भिन्न ग्रामों में भिन्न-भिन्न अधिकारियों को नियुक्त करता है और कहता है कि तुम इन ग्रामों का शासन करो, तुम इनका शासन करो, एवमेव यह वायव्यप्राण भिन्न-भिन्न संस्थाओं में प्रतिनिधिरूप अपानादि भिन्न-भिन्न प्राणों को प्रतिष्ठित करता है। दृष्टान्त यथार्थ है। राजा अपनी राजधानी में रहता है। राजा के नियुक्त पुरुष शासन करते हैं। एवमेव व्यान उक्थरूप में–हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। इसके अर्करूप–प्राणापानविभाग भिन्न-भिन्न संस्थाओं का संचालन करते हैं–जैसा कि पूर्व प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है। इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं—

"यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठ-स्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते" ॥ ४ ॥

पायूपस्थस्थान में वही अपान है। चक्षु-श्रोत्र-नासिका-मुख में वही प्राण है–यहाँ यह स्वस्व रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अतएव यहाँ के लिए 'प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते' कहा है एवं वही मध्य के नाभिदेश में प्रतिष्ठित होकर समान कहलाने लगता है। इसी समानस्थान पर हमने वैश्वानर अग्नि की सत्ता बतलाई है। पार्थिव अपानसमान, सौर-प्राणोदान, मध्य का आन्तरिक्ष्य व्यान–तीनों मौलिक प्राणाग्नि हैं। इनमें ताप नहीं है। ताप वैकारिक अग्नि का धर्म्म है। वैकारिक अग्नि मध्य के व्यानाग्नि के आधार पर उन्हीं दोनों अग्नियों के उपांशु-अन्तर्य्याम से उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाले इसी वैश्वानर अग्नि के–अपान, व्यान, प्राण भेद से तीन स्वरूप हो जाते हैं। अपानप्रधान वही वैश्वानर वैश्वानर कहलाता है। वायुप्रधान वही वैश्वानर तैजस कहलाता है एवं सौरप्राणरूप प्राज्ञइन्द्रप्रधान वही वैश्वानर प्राज्ञ कहलाता है। वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ–ये तीन वैकारिक अग्नि स्तोम्य त्रिलोकी की वस्तु हैं। कठोपनिषत् में इन्हीं तीनों की समष्टि को हमने 'देवसत्य' कहा है एवं अपान, व्यान, प्राण –तीनों रोदसी त्रिलोकी की वस्तु हैं। नाभिस्थान तक रोदसी के अपानरूप अन्नात्मक पार्थिव अग्नि की सत्ता है। इसी को हमने समान कहा है। उचित था कि वैकारिक पार्थिवाग्निप्रधान वैकारिक

वैश्वानराग्नि इसी स्थान पर प्रतिष्ठित होता। परन्तु चूंकि यह स्थान समान से घिरा रहता है, अतः समान से दक्षिणभाग में इसे रहना पड़ता है। दक्षिणादिक् आग्नेयी है, अतः सजातीय सम्बन्ध से यह वैश्वानर समान के उत्तर में न जाकर दक्षिण में ही प्रतिष्ठित होता है। दक्षिण में प्रतिष्ठित इस उक्थरूप वैश्वानर से निकलने वाले अर्क सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त रहते हैं, अतएव इसके लिए 'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्'–'वैश्वानरो यतते सूर्येण'–इत्यादि कहा जाता है। ब्रह्मरन्ध्र सूर्य्य है। मूलद्वार पृथिवी है। सर्वाङ्गशरीर में ताप है॥

दूसरा तैजस–कण्ठनलिका में उदान से मिलकर रहता है। मध्य की व्याननाड़ी से १०१ नाड़िएँ निकलती हैं। इनमें सीधी जाने वाली एक नाड़ी में उदान रहता है–वहीं तैजस रहता है। एवं तीसरा प्राज्ञभाग हृदय में व्यानस्थान में प्रतिष्ठित रहता है। इस विषय का हम आगे स्पष्टीकरण करने वाले हैं। अभी केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि समान के दक्षिणभाग में वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित रहता है। भुक्तान्न की आहुति इसी पर होती है। जैसे घृताहुति से अग्नि में ज्वालाएँ निकल पड़ती हैं–एवमेव अन्नाहुति से इस वैश्वानर में ज्वालाएँ निकल पड़ती हैं। इन ज्वालाओं को वैज्ञानिकों ने सात विभागों में विभक्त माना है। वे ही सातों ज्वालाएँ–काली, कराली, मनोजवा, सुधूम्रवर्णा, सुलोहिता, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरूपी–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन सातों का विशद विवेचन आगे आने वाले 'मुण्डकोपनिषत्' के द्वितीयमुण्डक में करने वाले हैं। अभी उनके नाममात्र ही जान लेना ही पर्य्याप्त होगा। नाभिस्थित समानवायु ही वैश्वानराग्नि में हुत अन्न को ऊँचा उठाता है। इसीलिए तो 'समुन्नयति वैश्वानराग्नौ हुतमन्नम्'–इस व्युत्पत्ति से इसे समान कहा जाता है। समानवायु वायु है। गतिधर्म्मा है। ज्वाला उठना गतिधर्म्म है। गति के अध्यक्ष वायु हैं, अतएव पार्थिव वैश्वानर अग्नि को यदि कोई ज्वालारूप में परिणत कर सकता है–तो वह यही हमारा पार्थिव समानवायु कर सकता है। निष्कर्ष यही हुआ कि व्यानात्मा से उत्पन्न व्यानप्राण ही पायूपस्थ में प्रतिष्ठित होकर अपान कहलाने लगता है। यही चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका में प्रतिष्ठित होकर प्राण कहलाने लगता है एवं यही नाभिप्रदेश में प्रतिष्ठित होकर समीपस्थ वैश्वानर अग्नि में हुत अन्न को समुन्नयन द्वारा सात ज्वालाओं में परिणत करता हुआ समान कहलाने लगता है। बस, व्यानप्राण के इन्हीं अपान, प्राण, समान–तीनों रूपों का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"पायूपस्थेऽपानम्। चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते। मध्ये तु समानः। एष हि एतद्धुतमन्नं समुन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति"॥

यहाँ का मध्य नाभि ही है, क्योंकि हृदय और मूलद्वार की अपेक्षा नाभि ही मध्य में पड़ता है॥५॥

बाकी बचते हैं–व्यान और उदान। एवं वैकारिक तैजस और प्राज्ञ। अब आगे के प्रकरण में इन्हीं का निरूपण किया जाता है।

'प्राण कहाँ से पैदा होता है ?'–इसका उत्तर देते हुए ऋषि ने कहा था कि प्राण आत्मा से पैदा होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए हमने कहा था कि यहाँ आत्मा से व्यानात्मा अभिप्रेत है। यह व्यानात्मा ही हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। और-और स्थानों का प्राणापानसमानादिरूप में परिणत व्यानात्मा आत्मा नहीं प्राण है। अर्थात् इतर स्थानों में व्यान स्वयं प्रतिष्ठित नहीं होता–इसके प्राण प्रतिष्ठित होते हैं। परन्तु हृदय में स्वयं व्यानात्मा उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है, अतएव ऋषि कहते हैं कि–'हृदि ह्येष आत्मा'। इसी व्यानस्थान पर वैकारिक प्राज्ञात्मा रहता है। यह प्राज्ञ भी प्राण (व्यान) से युक्त है। यही असली आत्मा है। आयु भाग आत्मा बनता है, अतएव इसके लिए–'तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'[1]–इत्यादि कहा जाता है। सर्वाङ्गशरीर का मध्यस्थान यही हृदय है। यहीं आत्मा प्रतिष्ठित है। 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः'[2]–के अनुसार इस व्यान से १०१ नाड़िएँ निकलती हैं। इनमें एक नाड़ी बिलकुल सीधी जा रही है। जैसा कि कठोपनिषत् में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। इन सौ में से प्रत्येक में से फिर अवान्तर १०० शाखाएँ निकलती हैं। इस प्रकार १०१ को कुल दस हजार एक सौ (१०१००) नाड़िएँ हो जाती हैं। इनमें से प्रति नाड़ियों में से फिर ७२-७२ हजार शाखाएँ निकलती हैं। इन सबका यदि संकलन किया जाता है तो–(७२७२१०२०१)–व्यान नाड़ीसंख्या अर्थात् मूलनाड़ी, शाखानाड़ी, प्रतिशाखानाड़ियों को मिलाकर कुल ७२ करोड़, ७२ लाख, १० हजार दो सौ एक नाड़िएँ हो जाती हैं। सम्भव है–कल्पनारसिक महानुभाव इस संख्या को काल्पनिक समझें एवं व्यानशून्य शव की परीक्षा करने वाले आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक इस नाड़ीसंख्या का मखौल करें। परन्तु उन्हें–'स्थालीपुलाकन्याय'–को सामने रखते हुए मानना चाहिए कि भारतीय ऋषि आप्त थे–साक्षात्कृतधर्म्मा थे। जो सूक्ष्मतत्त्वयन्त्रसहस्र की सहायता से भी हम नहीं देख सकते–अपनी योगज दृष्टि के प्रभाव से वे उनको भी देखने में समर्थ थे। अतएव—

> "आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
> अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते" ।।[3]

–के अनुसार वे सब कुछ देखने में समर्थ थे, अतएव 'हम नहीं देखते, अतः नहीं मान सकते'–कहकर उनके आविष्कारों का तिरस्कार करना केवल हमारी धृष्टता है–अपराध है। अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध है। अस्तु, कहना यही है कि इन्हीं नाड़ियों में हमारा व्यानात्मा प्राणरूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है। इसी सर्वव्याप्ति के कारण यह 'व्यान' कहलाता है एवं इसीलिए 'व्यान' सर्वव्यापक कहलाता है। कभी मनुष्य हँसता है, कभी रोता है, कभी अट्टहास करता है, कभी उदास रहता है, कभी गुनगुनाता है, कभी चिल्लाता है, कभी आँखें मटकाता है, कभी ललाट पर त्रिवली चढ़ाता है, कभी तेज दौड़ता है, कभी बैठता है, कभी सोता है, कहाँ तक गिनावें ? समझ लीजिए–उसमें ऐसी-ऐसी ७२ करोड़, ७२ लाख, १० हजार, २ सौ एक विभिन्न वृत्तिएँ होती हैं। यह सब इसी व्यान की महिमा है। पृथक्-पृथक् नाड़ीस्रोतों से निकलने वाला, अतएव भिन्न-भिन्नस्वरूप धारण करता हुआ वह व्यान ही हमसे भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ करवाता है। जैसे सूर्य्य-उक्थ से निकलने वाली हजार रश्मिएँ संसार में व्याप्त

१–कौषी० उप० ३।२। २–कठोप० २।३।१६। ३–वाक्यपदीय १।३७।

होकर विश्व के असंख्य सर्वथा विभिन्न पदार्थों का संचालन कर रही हैं—ठीक इसी प्रकार हृदयस्थ प्राज्ञात्मक व्यानबिम्ब से निकलने वाली पूर्वसंख्यायुक्त व्यानरश्मिएँ ही अनन्त चेष्टाओं का संचालन कर रही हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्। तासां शतं शतमेकैकस्याम्। द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। आसु व्यानश्चरति" ॥६॥*

व्यान का स्वरूप बतला दिया। अब केवल उदान बचता है। व्यान ही उदान बनता है—यह कहा जा चुका है। व्यान की मूलनाड़िएँ १०१ बतलाई गई हैं। इनमें एक नाड़ी सीधी कण्ठनलिका द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक गई है। इसी को सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं। नासानाडीद्वय इडापिङ्गला नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनों के मध्य में होकर एक नाड़ी सीधी जाती है—यही सुषुम्णा है। यही प्रधान सूर्य्यरश्मि है। इसका उपसंहारस्थान ब्रह्मरन्ध्र है। उपक्रमस्थान हृदयस्थ व्यान है। ब्रह्मरन्ध्रस्थित इसी नाड़ीद्वार से हमारे में निरन्तर सौर प्राण आया करता है एवं हृदय पर धक्का मार के निरन्तर सूर्य्य में जाया करता है। इसी आदानविसर्गात्मक आयुर्यज्ञ को—'अहरहर्यज्ञः'—कहा जाता है। 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'—से ही—'अहरहर्यज्ञः' अभिप्रेत है। उस सौर प्रजापति ने अपने पृथिवीभाग से शरीरमूर्त्ति का निर्म्माण किया एवं चितेनिधेय त्रिलोकी से अपान, समान, व्यान, उदान, प्राण उत्पन्न किया। सब कुछ बनाकर उसने विचारा कि जैसे राजा विना प्रजा उच्छृंखल हो जाती है—एवमेव यह मेरा प्रजातन्त्र मेरे शासन के विना उच्छृंखल हो जायगा। अतः मुझे स्वस्वरूप से इसमें प्रविष्ट होना चाहिए। यह विचार कर उसने ब्रह्मकपाल का भेदन कर छिद्र बनाकर शरीरयष्टि में प्रवेश किया। प्रज्ञानब्रह्म प्रपद से घुसा था। यह विज्ञानब्रह्म ब्रह्मरन्ध्र से घुसा। वहाँ घुसकर उसने अपनी प्रजा को देखा—सम्भाला—उन पर अपना प्रभुत्व जमाया, अतएव ऋषियों ने उसका नाम—'इदमदर्शम्'—इस व्युत्पत्ति से 'इदन्द्र' रख दिया। परोक्षप्रिय देवता 'इदन्द्र' को ही 'इन्द्र' कहते हैं। यह वही हमारा सौर मघवा इन्द्र है। प्रज्ञानेन्द्र पार्थिव इन्द्र था—मरुत्वानिन्द्र था। यह दिव्य इन्द्र है। इस आगत इन्द्रप्राण का नाम ही 'आयु' है। जब तक यह है, तब तक आयु है। इसी अभिप्राय से—'यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः'—यह कहा जाता है[1]—अपि च—'स यदोत्क्रामति-अथ हैतत् पुरुषो म्रियते'।[2] ब्रह्मरन्ध्र से सूर्य्य तक प्रत्येक प्राणी के लिए प्रातिस्विक पथ नियत है। इसी को 'महापथ' कहा जाता है। इसी के द्वारा सौर आयुप्राण निरन्तर अध्यात्म में आया करता है, एवं इसी के द्वारा जाया करता है। हमारा विज्ञानात्मा निमेषमात्र में सूर्य्य में तीन बार आता जाता है। यही आत्मगतियों में नित्यगति है। इस नित्यगतिरूप अहरहर्यज्ञ का निरूपण करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

---

*– इस छठे मन्त्र के नाड़ी-विषयक प्रसंग के सन्दर्भ में स्व० शास्त्रीजी परिशिष्टात्मक नाड़ीस्वरूप-परिचय भी लिखा है—जिसे तृतीय प्रश्नोपरान्त दिया जा रहा है। देखें पृष्ठ संख्या १४५।

१—कौषी० उप० ३।२। २—शत० ब्रा० १०।५।२।१३।

"अहरहर्वाऽएष यज्ञस्तायतेऽहरहः संतिष्ठतेऽहरहरेनं स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्तेऽहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"–इत्यादि ।[1]

प्रकृत में इस प्रपञ्च से कहना हमें यही है कि सूर्य्य से आने वाला यह सौरप्राण ही आयु का कारण है। यह स्वयं आयुरूप है। यह उसी व्यान नाड़ी द्वारा आता है। बस, व्याननाड़ी में व्याप्त वह व्यानप्राण ही–उस आगत प्राण को उठाए रखता है। दूसरे शब्दों में अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखता है, अतएव–'ऊर्ध्वं नयति सौरप्राणम्'–इस व्युत्पत्ति से हम ऊर्ध्वनाड़ीगत व्यानप्राण को 'उदान' कहने के लिए तय्यार हैं। अपि च–यही आत्मोत्क्रमणस्थान है। सौर प्राण इसी उदानमय ऊर्ध्वनाड़ी से निकलता है, अतः 'उत्क्रमय्यते अनेन मार्गेण'–इस व्युत्पत्ति से भी हम इस उदानवायु को 'उदान' कहने के लिए तय्यार हैं। अस्तु, इस विषय का निरूपण स्वयं ऋषि ही आगे जाकर करने वाले हैं, अतः प्रकृत में हम केवल यही बतलाना चाहते हैं कि ऊपर जाने वाली तो सुषुम्णा नाड़ी है। उसके द्वारा ऊर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित होता हुआ वही व्यानप्राण 'उदान' कहलाने लगता है।

मनुष्यलोक, देवलोक, असुरलोक भेद से लोक तीन प्रकार के हैं। ऊर्ध्वलोक देवलोक है। सौरमण्डल के सम्मुख का पार्थिवभाग मनुष्यलोक है, एवं तमोमय विरुद्धभाग आसुरलोक है। देवलोक सत्त्वप्रधान है। असुरलोक तमःप्रधान है। मनुष्यलोक सान्ध्य होने से उभयधर्म्मा है। ऐसी अवस्था में जो मनुष्य सत्त्वप्रधान पुण्यकर्म्म करते हैं–वे शरीरत्यागानन्तर पुण्यलोक (देवलोक) में जाते हैं एवं तमःप्रधान पाप करने वाले असुर्य तमोलोकरूप पापलोक में जाते हैं एवं सत्त्वतमोमय रजोधर्म्म वाले पुरुष पुनः-पुनः इसी भूमण्डल पर जन्म लिया करते हैं। इन तीनों स्थानों की प्राप्ति का मुख्य कारण यही उदान है। पुण्यकर्म्म से वही उदान इस आत्मा को ऊपर के लोक में ले जाता है। पापकर्म्म की प्रबलता से वही उदान इसे पापलोक में ढकेल देता है एवं सान्ध्यकर्म्मों से वही उदान मनुष्यलोकप्राप्ति का कारण बन जाता है। तात्पर्य्य यही है कि आयुरूप सौर प्राणात्मा उदान से युक्त रहता है। उदान ही आत्मा का आधार है। इधर उदान कर्म्मतारतम्य से तीन भावों में परिणत हो जाता है। बस, इसी उदानस्वरूप को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"अथ-एकया ऊर्ध्व उदानः। पुण्येन पुण्यं लोकं नयति (उदानः) पापेन पापम्-उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" ।।७।।

आश्वलायन का तीसरा प्रश्न था कि यह आत्मप्राण अध्यात्म में प्रविष्ट होकर किस रूप से प्रतिष्ठित होता है? किन भागों में विभक्त होकर यह इस शरीरतन्त्र का संचालन करता है? ऋषि ने बडे विस्तार के साथ इस प्रश्न का समाधान कर दिया, साथ ही में किसके द्वारा यह शरीर छोडता है–यह चौथा प्रश्न था। ऋषि ने इस तीसरे, चौथे प्रश्न का भी उत्तर दे दिया। उन्होंने बतला दिया

१–शत० ब्रा० ६।४।४।१५।

कि वह अन्यात्मा को–अपान, समान, व्यान, उदान, प्राण–इन पाँचों भागों में विभक्त कर–पाँचों तन्त्रों में तन्त्रायीरूप से प्रतिष्ठित होकर अपान, समान, व्यान, प्राण, उदान नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस पञ्चविध प्राण का जो उदानभाग है–वही उत्क्रमण में मुख्यनिमित्त है। उदान के द्वारा ही यह प्राण शरीर से बाहर निकलता है। बस, ३-४ प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

॥ ३–४ ॥

——❀——
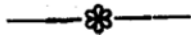
(५)–आश्वलायन का पाँचवाँ प्रश्न था—

"कथं बाह्यमभिधत्ते" ॥

एवं—

(६)–छठा प्रश्न था—

"कथमध्यात्मम्" ॥

इन दोनों प्रश्नों का क्रमशः यही तात्पर्य्य प्रतीत होता है कि इस व्यानरूप आत्मप्राण ने किस रूप से अधिदैवतमण्डल (ईश्वरीयजगत्) पर अपना अधिकार जमा रखा है एवं अध्यात्म पर किस रूप से अपना शासन कर रहा है? तीसरे प्रश्न का–'शरीर में किस रूप से प्रतिष्ठित होता है?'–यह अर्थ था एवं इस '५-६ठे प्रश्न का'–किस रूप से ईश्वरशरीर और जीवशरीर को प्रतिष्ठित रखता है?–यह अर्थ है। दोनों में बड़ा अन्तर है। स्वयं प्रतिष्ठित होना एवं प्रतिष्ठित होकर दूसरे को प्रतिष्ठित रखना–दोनों विभिन्न बातें हैं। दोनों में से पहले अधिदैवतजगत् को ही लीजिए। अधिदैवतजगत् में–आदित्यप्राण ने ही बाह्यजगत् को प्रतिष्ठित कर रखा है। पाठकों को स्मरण होगा कि प्रकृति में हमने सौर प्राण को प्रधान बतलाया था, अध्यात्म में व्यान की प्रधानता बतलाई गई थी। प्रकृति में वह आत्मप्राण आदित्यरूप में परिणत होकर ही त्रैलोक्यरूप ईश्वर को विधृत कर रहा है। आदित्यप्राण ही सबकी प्रतिष्ठा है। दूसरे शब्दों में बहिर्जगत् का मूलाधार सौरप्राण ही है। यह बाह्यप्राण ही प्रातःकाल सूर्य्यरूप से उदित होता है।

अब चलिए अध्यात्म की ओर। अध्यात्म में चक्षुप्राण ने सबको प्रतिष्ठित कर रखा है। चक्षु रूप में परिणत उसी व्यान ने शरीर को विधृत कर रखा है। आँखों में जब तक प्राण है–तब तक अध्यात्मजगत् की सत्ता है। आँखें बिगड़ते ही आत्मोत्क्रमण हो जाता है। इस चाक्षुषप्राण के ऊपर अनुग्रह करने वाला वही बाह्यप्राण है। रात्रि को बाह्यप्राण अभिभूत हो जाता है, अतएव उस बाह्य प्राण के आधार पर प्रतिष्ठित यह चक्षुप्राण भी अभिभूत हो जाता है। रात पड़ते आँखें मिच जाती हैं, परन्तु प्रातःकाल होते ही चाक्षुषप्राण उदित बाह्यप्राणरूप सूर्य्य के अनुग्रह से उल्बण हो जाता है। सूर्य्योदय होते ही आँख खुल जाती हैं। इस चाक्षुष आन्तरप्राण को अनुगृहीत करता हुआ ही

यह आदित्यात्मक बाह्यप्राण उदित होता है। सचमुच बात यथार्थ है। सूर्य्यसत्ता ने ही विश्वसत्ता को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रखा है। जिस दिन सूर्य्य न होगा–संसार में प्रलय हो जायगा। यह सूर्य्य प्राणघन है। प्राण उसी व्यान का एकरूप है, अतएव हम कह सकते हैं कि आदित्यात्मक व्यानप्राण ने ही सम्पूर्ण विश्व को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रखा है। इधर उसी सौरप्राण से निर्म्मित चक्षुप्राण सर्वेसर्वा है। आँख मिचते ही अँधेरा है–प्रलय है। चक्षु से यहाँ ऋषि का दक्षिण चाक्षुषपुरुष की ओर इशारा है। यही चाक्षुषपुरुष शरीरजगत् का सम्राट् है। बस, इन्हीं दोनों समाधानों को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि कहते हैं—

"आदित्यो ह वै बाह्यःप्राण उदयति-एष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः"।

दो तरह से अनुग्रह है। चक्षुरिन्द्रिय का उपादान भी आदित्यप्राण ही है एवं सूर्य्यसत्ता में ही चक्षु अपना व्यापार करने में समर्थ हो पाता है। प्रकाशाभाव में रहती हुई आँख भी बेकार है।

॥ ५-६ ॥
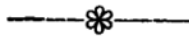
आश्वलायन ने जो ६ प्रश्न किए थे–उनका उत्तर हो चुका। अब 'सिंहावलोकनन्याय' द्वारा एक बार ६ओं प्रश्नों के समाधान की ओर साधारणदृष्टि डालते हुए पिप्पलाद निम्नलिखित प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

यद्यपि हमने अपने अक्षरों से–अग्निवायुभेद से अपानादि दो-दो भेद बतलाए हैं, परन्तु अभी तक ऋषि ने अपने मुख से इस द्वैतभाव का स्पष्टीकरण नहीं किया है। अब ऋषि अपने मुख से दोनों प्राणों की विभिन्नता बतलाते हैं—

हम कह आए हैं कि पार्थिव अग्निदेवता (आग्नेयप्राण) शरीरस्थ पायूपस्थ में प्रतिष्ठित होकर अपान कहलाने लगता है। पृथिवी के ऊपर अन्तरिक्षरूप जो आकाश है–वही यहाँ समान बनता है। अर्थात्–वही पार्थिव देवता ऊपर जाकर अध्यात्म में समान कहलाने लगता है। नाभिस्थान में हमने समान की सत्ता बतलाई है। नाभि अन्तरिक्ष है, खाली जगह है, अतएव हम इसके लिए अवश्य ही 'आकाश'शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी नाभि-आकाश में समान रहता है, अतएव 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्'–इस न्याय से ऋषि ने समान को 'आकाश' शब्द से ही व्यवहृत किया है। समान को आकाशरूप बतलाने में बडा चमत्कार है। वस्तुतः अपानवत् समान कोई पृथक् वस्तु तो है नहीं। अपि तु, पायूपस्थरूप धरातल में रहने वाला वही अपान ऊपर के नाभिगत शून्यप्रदेश में जाकर समान कहलाने लगता है। अपान पार्थिव-देवता है–नाभिगत अपान-समानरूप में परिणत अपान पार्थिवप्रतिष्ठा के अभाव में पार्थिव बतलाया नहीं जा सकता एवं अन्तरिक्ष में वायु (व्यान) प्रतिष्ठित है, अतः समान–'आन्तरिक्ष्य' भी नहीं कहा जा सकता। यदि इसे कोई नाम मिल सकता है तो 'सान्ध्य' नाम ही मिल सकता है। सन्धि में आकाश

है, अतएव ऋषि को अगत्या समान के लिए **'आकाश'** शब्द का प्रयोग करना पड़ा है। असल में यह आकाश पार्थिवदेवता (अपान) के ही अन्तर्भूत है। आकाश में वायु है। वही वायव्याग्नि अध्यात्म में आकर हृदय में प्रतिष्ठित होकर **'व्यानाग्नि'** नाम से प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार प्रकृतिमण्डल के पार्थिव अग्नि, आकाशरूप अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायव्य अग्नि—तीनों अध्यात्म में क्रमशः पायूपस्थ, नाभि, हृदय—इन तीनों स्थानों में प्रतिष्ठित होकर क्रमशः अपान, समान, व्यान नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं—

"पृथिव्यां या देवता (अग्निः) सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य (अपानरूपे परिणता सती-वर्त्तते)। अन्तरा यदाकाशः स समानः। वायुर्व्यानः" ॥८॥

बाक़ी बचते हैं—उदान और प्राण। हमने नाभि के दक्षिणभाग में सप्तार्चियुक्त वैकारिक वैश्वानराग्नि की सत्ता बतलाई थी। हृदय में प्राज्ञ की सत्ता बतलाई थी एवं कण्ठ में तैजसात्मा की सत्ता बतलाई थी। यह कण्ठगत क्रियामय तैजसात्मा 'तैजस' क्यों कहलाता है ?—इसका उत्तर ब्रह्मरन्ध्र से आने वाला वही सौर तेज है। सौर आयुमय इन्द्रतेज 'पर-देवता' कहलाता है एवं अध्यात्मगत वही परतेज 'अवरतेज' कहलाने लगता है। उसी सुषुम्णायुक्त कण्ठ में तो वैकारिक वायुरूप आन्तरिक्ष्य आत्मा है और वहीं ब्रह्मरन्ध्रद्वारा सौरतेज आता है। इस तेज के सम्बन्ध से वह वायव्य आत्मा **'तैजसात्मा'** कहलाने लगता है। यह तैजसात्मा ही तेजोसम्बन्ध से आयुरूप बन रहा है। जब आत्मा उत्क्रान्त हो जाता है तो—'**तेजः परस्यां देवतायाम्**'—इस सिद्धान्त के अनुसार यह तेजोभाग उसी महापथ द्वारा परतेज में जा मिलता है। बतलाना इससे हमें यही है कि कण्ठगत आयुरूप तेजोमय तैजसात्मा का आधार हृदय से सीधी ऊपर आने वाली एक नाड़ी में स्थित व्यानवायु है। तेजोभाग की उत्क्रान्ति का मुख्यकारण एतन्नाडीगत यही व्यानवायु है। तेज का तेजस्त्व इसी नाड़ीगत व्यानवायु पर निर्भर है, अतः इस तेज को ही हम उदान कहने के लिए तय्यार हैं।

तात्पर्य्य यही है कि सौर तेज, वायव्य तैजसात्मा, व्यानवायुरूप उदान—तीनों एक स्थान पर हैं। हृदय से ऊपर उदान है। वही तैजसात्मा है। यह तैजसात्मा वायुरूप है। दूसरे शब्दों में व्यानवायु का विकार है। जहाँ उदान है—वहीं तेज है। दोनों दो वस्तु होते हुए भी अभिन्न हैं, अतएव प्रज्ञा, प्राण—दोनों को भिन्न रहने पर भी एकमात्र अविनाभाव के कारण जैसे प्रज्ञाप्राण के लिए—'**या वा प्रज्ञा स प्राणः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः**'[1]—यह कहा जाता है। एवमेव तैजसात्मरूप सुषुम्णागत तेज एवं तत्रगत उदान—दोनों के अविनाभाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने '**तेज**' को ही उदान बतला दिया है। वस्तुतः—तेजोमय तैजसात्मा पृथक् है—वैकारिक है। व्यानरूप उदान मौलिक है।

अथवा—'**तेज**' शब्द से यहाँ विद्युत्-तेज समझना चाहिए। आन्तरिक्ष्य वायव्यतेज ही विद्युत्-तेज है। वायु में एक भाग इन्द्र का रहता है। इन्द्र विद्युत् है। यही इन्द्र तेजोभाग है। वायु व्यानभाग है। दोनों

१—कौषी॰ उप॰ ३।३।

अविनाभूत हैं । वायुमय यह आन्तरिक्ष्य इन्द्ररूपतेजोभाग ही अध्यात्म में प्रतिष्ठित होकर **'उदान'** नाम से प्रसिद्ध होता है । उदान आन्तररूप है, तेज बाह्यरूप है । श्वास-प्रश्वास उदान का रूप है । चूंकि उदान तेजोमय है, अतएव जब मनुष्य उपशान्ततेजा हो जाता है, तब उसकी सारी इन्द्रिएँ तेजःशून्य हो जाती हैं । जब उदानवायु बड़े वेग से चलने लगता है–तो समझलो वह शीघ्र ही मरने वाला है । अर्थात् उदान ही आत्मा की उत्क्रान्ति का मुख्य कारण है–जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । वह उदान जब जाने लगता है तो बड़ा प्रबल हो जाता है । जब श्वास-प्रश्वास बड़े जोर से चलने लगता है तो थोड़ी देर बाद वह मनुष्य उपशान्ततेजा हो जाता है । उपशान्ततेजपने में मुख्यकारण उदान है । उदानोपलक्षित प्राणोदानरूप श्वासप्रश्वास ही तेजःसत्ता के कारण हैं । जिसमें श्वासप्रश्वास नहीं, उसमें तेज नहीं, अतएव हम तेजोभाग को उदान कह सकते हैं ।

जब आत्मा उपशान्ततेजा हो जाता है–उस समय वह आत्मा **'संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः'**–के अनुसार मन में संवलित इन्द्रियवर्ग, प्राण (पाँचों वायव्यप्राण) तैजसात्मा से युक्त होकर शरीरान्तर को प्राप्त हो जाता है । मन हृदय में प्रतिष्ठित है । जब मनुष्य मरने लगता है–उस समय सर्वाङ्ग शरीर में व्यापक चैतन्य सिमटकर मन में आ जाता है । ऐसी अवस्था से सारा शरीर शिथिल रहता है । केवल हृदय पर धड़कन रहती है । इन्द्रिय, प्राण, तेज के अलावा, पूर्वप्रज्ञा, विद्या, कर्म्म आदि भी इसके साथ रहते हैं । इस प्रकार मन में संपद्यमान इस सारे प्रपञ्चों से युक्त हो कर यह भोक्तात्मा शरीरान्तर को प्राप्त होता है । **'अन्ते मतिः सा गतिः'**–के अनुसार यह मनुष्य मृत्यु-काल में जिस ओर अपना मन रखता है, उस समय अपने संकल्पमन के द्वारा इन्द्रियों सहित यह आत्मा प्राण में लीन हो जाता है । प्राण द्वारा उसी उदान रूप तेजोभाग में युक्त होता है । उससे युक्त होता हुआ यह आत्मा के साथ उसी उदान द्वारा यथासंकल्पित लोक में जाता है ।

सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि प्रकृति में रोदसी विश्व का–रोदसी त्रिलोकी का मूलाधार सूर्य्य है एवं अध्यात्म त्रिलोकी का मूलाधार चक्षु (विज्ञानात्मा-परिद्रष्टा नाम से प्रसिद्ध) है । **'धियो यो नः प्रचोदयात्'**–के अनुसार वह प्राकृतिक सौर विज्ञानप्राण ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निरन्तर आता हुआ सर्वप्रतिष्ठाभूत विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध चक्षुप्राण के ऊपर अनुग्रह किया करता है । जब तक वह आता रहता है, तभी तक यह अध्यात्म में प्रविष्ट रहता है । सौरप्राण इन्द्र है । इन्द्र वाक् है । वाक्-तत्त्व विना मन-प्राण के अनुपपन्न है । सुतरां सौरप्राण की मनःप्राणवाङ्मयता सिद्ध हो जाती है । मनःप्राणवाङ्मय सूर्य्य का अंशभूत अध्यात्मजगत् का सूर्य्य (विज्ञानात्मा) भी मनःप्राणवाङ्मय है । यह अपनी इन तीनों कलाओं की सत्ता के लिए प्रतिदिन सूर्य्य से तीनों लेता रहता है । **'शतधा वर्तमानः'–इस प्रथम प्रश्न के मन्त्रभाग के विज्ञान के अनुसार उस खजाने में से इसे ३६००० (छत्तीस हजार) मन मिलते हैं । इतने ही प्राण मिलते हैं । इतनी ही वाक् मिलती है ।** प्रतिदिन एक वाक्, एक प्राण, एक मन मिलता है । ३६००० दिन तक यह अन्नागमन होता रहता है । इसी आधार पर–**'शतायुर्वै पुरुषः'**–यह श्रौतसिद्धान्त प्रचलित है । इस चक्षु पर उसका यही अनुग्रह है । उसके अनुग्रह से ही यह स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है । दूसरे शब्दों में जीवित है । विज्ञान इतर प्राणों की प्रतिष्ठा कैसे है ? इसका उत्तर चौथे प्रश्न में दिया जाएगा ।

चाक्षुष (विज्ञान) प्राण ही आयु का अधिष्ठाता है। उस एक ही प्राण के पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः भेद से प्राणोदानसमानव्यानापान–ये पाँच भेद हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से तो इस मुख्य सौर विज्ञानमय प्राण के लिए प्रथम प्रश्न में–**'अहमेवैतत्-पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य–एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि'**–यह कहा गया है। सूर्य्य से ही रोदसी त्रिलोकी का निर्म्माण होता है। सौर अग्नि सावित्राग्नि नाम से प्रसिद्ध है–वह पृथिवी में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उसकी प्रातिस्विक वस्तु बनता हुआ **'गायत्राग्नि'** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। वही प्रवर्ग्यभूत सौर अग्नि अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित होकर 'वायु' कहलाने लगता है। सावित्राग्निप्राण अध्यात्म में प्राण नाम से प्रसिद्ध है। गायत्राग्निप्राण (जो कि पृथिवी में आकर पृथिवी का देवता बन गया है) अध्यात्म में अपानरूप से प्रविष्ट होता है। अपान का अवष्टम्भन इसी पृथिवीदेवता के आधार पर है। पायु के ऊपर नाभिरूप आकाश (अन्तरिक्ष) है–वहाँ आने वाला यही अपान समान-नाम धारण कर लेता है–जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है एवं आन्तरिक्ष्य वायु अध्यात्म में (हृदयप्रदेश में) प्रतिष्ठित होकर व्यान नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार वह एक ही पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीन भागों में विभक्त होकर वहाँ सावित्र-गायत्र-वायु नाम धारण कर अध्यात्म में प्रविष्ट होकर अपान-व्यान-प्राण नाम धारण कर लेता है। आता हुआ अपान ही समान नाम धारण कर लेता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयति। एष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य (अपानरूपेण परिणतः-पायूपस्थाने प्रतितिष्ठति–इतिशेषः) (अथ यत्) अन्तरा यदाकाशः (नाभिप्रदेशः) स समानः (हृदयस्थः-आन्तरिक्ष्यः) वायुर्व्यानः" ॥८॥

बाकी बचता है–उदान। हृदय से १०१ नाड़ी निकलकर ऊपर जाती हैं। उनमें एक नाड़ी सीधी जाती है। वह सुषुम्णा नाम से प्रसिद्ध है–जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इनमें १०० तो व्यान की प्रतिष्ठा हैं। एक सीधी जाने वाली (कण्ठनलिका द्वारा सीधी जाने वाली नाड़ी) उदान की प्रतिष्ठा है। कण्ठनलिका में ब्रह्मरन्ध्र से आया हुआ सौर तेज उदान के साथ अन्तर्य्यामसम्बन्ध से बद्ध रहता है। सौर तेज प्रवर्ग्य बनकर आता हुआ अध्यात्म की वस्तु बनकर प्राण कहलाने लगता है। वही वापस जाता हुआ उदान कहलाने लगता है। इस उदान में बहिर्य्यामसम्बन्ध से सौर तेज और प्रविष्ट होता है। उदाहरणार्थ पानी में प्रतिबिम्बित सूर्य्य को लीजिए। सौरप्राणघना रश्मि पानी में आकर सूर्य्यरूप में परिणत हो गई है। वह प्रतिबिम्बित सूर्य्य प्राणघन है। इससे भी सूर्य्यवत् स्वतन्त्र रश्मि निकलती है। यह निकलता हुआ रश्मिप्राण उदान है। इसमें वह व्यापक सौर तेज भी घुसा रहता है। बस, तथैव जाते हुए उदान में वह सौर तेज घुस जाता है। चौथे प्रश्न में जहाँ सुषुप्ति के निरूपण करते समय–**'स यदा तेजसा अभिभूतो भवति–अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति'**[1]–यह कहा गया है। वहाँ का **'तेज'**

१–प्रश्नो० ४।६।

उदान में प्रविष्ट यही सौर तेज है–जैसा कि वहाँ भलीभाँति स्पष्ट कर दिया जाएगा । उदान तेजोयुक्त है–आगत सौर तेज से अविनाभूत है, अतएव हम इस तेजोमय उदान को 'तेज' नाम से व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं । आत्मा जब शरीर को छोडता है–दूसरे शब्दों में जब शरीर से उत्क्रान्त होता है–तब इसी के द्वारा होता है, अतएव **'उत्क्रमते येनात्मा'**–इस व्युत्पत्ति से इसे 'उदान' कहा जाता है । इसी पाँचवें तेजोमय उदान का स्वरूप लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"तेजो ह वै उदानः" ।।

तेजोरूप उदान उदान है । उत्क्रमण का साधन है, अतएव जब सौरप्राण का अनुग्रह बन्द हो जाता है–दूसरे शब्दों में उसके प्राण का आगमन बन्द हो जाता है–तो तेजोमय उदान उपशान्ततेजा हो जाता है । जब तक वह सौर तेज उदान में आता रहता है–तब तक तो **'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'**[1]–के अनुसार तेजोयुक्त हुआ उदानसंपरिष्वक्त प्राण आयु (जीवन) का कारण बना रहता है । यही उदानतेज सारी इन्द्रियों में सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त रहता है । परन्तु तैल समाप्त हो जाने से जैसे वर्त्तिकागत परमाणुरूप से शेष बचा तैल सिमटकर एक स्थान पर आ जाता है एवमेव शरीर इन्द्रियों का सारा तेज (चैतन्य) सिमट कर हृदयस्थ मन में आ जाता है । मरणावस्थापन्न मनुष्य का सारा शरीर-सारी इन्द्रिएँ अपना अपना काम छोड देती हैं । सब उपशान्ततेजा हो जाते हैं । केवल हृदय पर वह तेज रहता है । यह एक टिमटिमाती दीपशिखा है जो कि अभी बुझने वाली है । इस समय केवल हृदय पर धड़कन रहती है । इस क्रम से इन्द्रियों द्वारा मन में (हृदयस्थ मन में) सिमटता हुआ वह–तैजसात्मा उपशान्ततेजा होता हुआ उसी मार्ग द्वारा पुनर्भव को प्राप्त हो जाता है । **'भव'** नाम शरीर का है । पुनर्भव नाम शरीरान्तर का है । वस्तुतः भवनाम संसार का है । इस अवस्था में यह इस बार संसार छोडता हुआ पुनः भव में आने के लिए संसार छोड देता है । **'पुनर्भव'** का यही तात्पर्य्य है । उदान के साथ ही पुनर्भव का (उत्क्रान्ति का–तत्सम्बन्धी शरीरान्तर धारण करने का) सम्बन्ध है, अतएव उदानस्वरूप निरूपण करते समय ऋषि ने इस पुनर्भव का भी निरूपण कर दिया है—

"तेजो ह वा उदानस्तस्मात्-उपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः" ।।

"तेजो ह वै उदानः । तस्मात्–मनसि संपद्यमानैरिन्द्रियैः सह (स भोक्तात्मा) उपशान्ततेजो भूत्वा पुनर्भवं प्राप्नोति"–इत्यन्वयः" ।।६।।

१–कौषी॰ उप॰ ३।२ ।

उदान द्वारा उत्क्रान्त होने वाला आत्मा 'भोक्तात्मा' है। **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**-के अनुसार वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञरूप देवसत्य, प्राज्ञसंपरिष्वक्त प्रज्ञानमन एवं उक्थप्रज्ञान से निकलने वाला अर्करूप इन्द्रियवर्ग-भोक्तात्मा है। यही उत्क्रान्त होता है। उत्क्रान्त होने वाले आत्मा में प्राज्ञसंपरिष्वक्त प्रज्ञान ही मुख्य है। क्योंकि संस्कार इसी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। भावना-वासनारूप ये संस्काररूप कर्म्म ही जन्ममरण के कारण हैं। इन्हीं का पुनर्भव से सम्बन्ध है। इसीलिए हमने इस तीसरे प्रश्न को प्रज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले 'प्रज्ञान प्राण' का निरूपक माना है। इसीलिए ऋषि ने **'मनसि संपद्यमानैः'**-कहा है। उदान द्वारा उत्क्रान्त होकर यह किस लोक में जाता है? इसके जाने का कैसा क्रम है? प्रसंगात् इन पुनर्भवसम्बन्धी विषयों का समाधान करने के लिए १० वाँ मन्त्र हमारे सामने आता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-ये चारों 'अन्तःकरण' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्रिएँ बहिः करण हैं-ये चारों अंन्तःकरण हैं। ये चारों महान् की कलाएँ हैं। जैसा कि आगे आने वाले चौथे प्रश्न में स्पष्ट हो जाएगा। इनमें बुद्धि-अहंकार को छोडते हैं। मन और चित्त की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। क्योंकि पुनर्भव में प्रधानरूप से इन्हीं दोनों का सम्बन्ध है। वही चिन्मय महत् सोम (ज्ञानमय महानात्मा-अंशरूप से) संकल्पविकल्पात्मक बनकर-**'मन'** कहलाने लगता है एवं उसी का अंशभूत सत्त्वभाग **'चित्त'** कहलाता है। पहले मन है। मन के साथ ही उससे अभिन्न सत्त्वात्मक चित्त-भाग है। मन में जो संकल्पविकल्प होता है-वह चित्त द्वारा ही होता है। प्रज्ञाप्राणवत् चित्त मन से (प्रज्ञानमन से) अविनाभूत है, अतएव-**'यत्प्रज्ञानमुत चेतः'**[1]-इत्यादिरूप से चेतोरूप चित्त और प्रज्ञानमन को एक ही वस्तु बतलाया गया है। चित्त सत्त्वात्मक है। जब तक संकल्पविकल्पात्मक (प्रज्ञान) मन का प्राबल्य रहता है-तब महदंशभूत यह चित्त मन के साथ बद्ध रहता है। मन के लय होने पर सत्त्वरूप चित्त का भी इसी घन में (महान् में) लय हो जाता है। जब तक संकल्पात्मक मन है-जब तक तो चित्त इसी में ओतप्रोत है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"-इति ॥[2]

'सत्त्वात्मकं चित्तम्' के अनुसार चित्त को सत्त्वरूप बतलाया है। आगे जाकर ऋषि बतलाने वाला हैं कि **'अन्ते मतिः सा गतिः'**-के अनुसार जैसा अन्तकाल में संकल्प होता है-वह तदनुरूप लोक में ही जाता है। ऐसी अवस्था में हमारे सामने एक प्रश्न आता है। वह प्रश्न यही है कि मन में अच्छे बुरे संकल्प उत्पन्न होने का क्या कारण है? क्यों इसमें अच्छा संकल्प होता है? क्यों बुरा संकल्प होता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए ही ऋषि ने मन्त्र में चित्त शब्द उपात्त किया है। चित्त सत्त्वरूप है। यदि मनुष्य अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषादिमूलक प्रवृत्तिरूप कर्म्म करता है तो अविद्यासंस्कार से वह सत्त्वरूप चित्तभाग मलिन हो जाता है। कल्पना कर लीजिए कि चित्त एक दीपक है। उस पर चारों ओर से व्याप्त संकल्पविकल्पात्मक मन काच है। इस काच पर अविद्यामल आ जाता है तो सत्त्वरूप दीपशिखा की रश्मिएँ भी मलिन हो जाती हैं। काच में से क्यों मैली रोशनी निकली?-इसका

१-यजुर्वेद ३४।३ ।   २-यजुर्वेद ३४।५ ।

उत्तर है–मलिनता। बस, यही उत्तर यहाँ भी है। मन ही अविद्या को लाकर उस सत्त्वभाग को मलिन कर डालता है। इस मलिन सत्त्व पर प्रतिष्ठित मन से बुरे ही संकल्प होते हैं। परन्तु निवृत्तिकर्म्म से वह चित्तसत्त्व विशुद्ध होता हुआ अच्छे संकल्प का कारण बन जाता है। सुसंकल्प के लिए विशुद्धसत्त्वा बनना आवश्यक है। क्योंकि संकल्प सत्त्वरूपचित्त के ही अधीन है। निकलता हुआ, अतएव उदान नाम से प्रसिद्ध मुख्यप्राण को हमने उत्क्रान्ति का कारण माना है। भोक्तात्मा जैसे चित्त से युक्त रहता है-यच्चित्त रहता है (अर्थात् मरणकाल में चित्त जैसा शुद्ध या मलिन) रहता है–ऐसे चित्त से (चित्तयुक्त मन से) युक्त होकर (उत्क्रान्ति के लिए) उसी मुख्यप्राणरूप उदान के पास आता है। वहाँ तेजोभाग रहता है। उस तेज से युक्त होकर चित्तयुक्त प्रज्ञानमन उस वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप आत्मा के साथ युक्त होता हुआ अपने यथासंकल्पित लोक में उस आत्मा को ले जाता है। भोक्तात्मा अच्छे बुरे लोक में जाय, मुक्त हो या बन्धन में पडे–इन सबका एकमात्र कारण चित्त पर प्रतिष्ठित संकल्पविकल्पात्मक मन ही है। वही प्राणरूप तेज से-इन्द्रियों से-संस्कार से-भूतानुशय से इस सारे प्रपञ्च से–युक्त हो उसे स्वसंकल्पित लोक में ले जाता है। इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है—

"न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" ॥

मन का आधारभूत चित्त (सत्त्व) जैसा होता है–मन में वैसा ही संकल्प होता है। बस, जैसा भी चित्त होता है–अर्थात् मन जैसे चित्त से युक्त होता है–वैसे चित्त के द्वारा वह प्राण में आता है। वहाँ के तेज से युक्त होकर देवसत्य नाम से प्रसिद्ध आत्मा से युक्त होता है। उसे साथ लेकर स्वसंकल्पित लोक में उसे ले जाता है। पुण्यसंकल्प द्वारा देवलोक में ले जाता है। पापसंकल्प द्वारा यमलोक में ले जाता है तथा दोनों की साम्यावस्था में वापस मनुष्ययोनि में ले आता है। जैसा कि—

"अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति। पापेन पापम्–उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" ॥

—इत्यादिरूप से पूर्व में कहा जा चुका है। इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"यच्चित्तः (मनः-यादृशचित्तयुक्तम्) तेन (तादृशेन चित्तेन युक्तं) एष (मनः) प्राणं (उदानाख्यं) आयाति। (तत्रस्थित सौर)-तेजसा युक्तः (भूत्वा) सह आत्मना (वैश्वानरतैजसप्राज्ञरूपभूतात्मना युक्तः-तं) यथासंकल्पितं लोकं नयति" ॥१०॥

फलश्रुतिः—

यह सारा प्रपञ्च उस मुख्य विज्ञानप्राण की महिमा है। वह अमृतभावापन्न है—अक्षररूप है। यदि प्रज्ञान उस प्राण को जान लेता है—तन्मय हो जाता है—तो वह मृत्युपाश से विमुक्त हो जाता है इस उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य विज्ञानाक्षर है—जैसा कि आगे के प्रश्नों से स्पष्ट हो जाएगा। यहाँ प्राण से यही अक्षररूप विज्ञानप्राण है—जो कि अध्यात्म में आकर पञ्चधा विभक्त हो रहा है। उस विज्ञान को प्राप्त कर लेने पर मर्त्यबन्धन टूट जाता है। जो विद्वान् इस प्राण के स्वरूप को जान जाता है—प्रजाओं के प्राणभूत प्रजापतिरूप षोडशकल सौरप्राण को जान लेता है—उसका वंश कभी नष्ट नहीं होता। क्योंकि उसे जान लेने से प्रजोत्पत्ति का अधिष्ठाताभूत प्राजापत्य प्राण इसके शुक्र में प्रतिष्ठित हो जाता है एवं यह स्वयं शरीरपरित्याग करता हुआ—उसी प्राणरूप अमृताक्षर में लीन होता हुआ अतएव पुनर्भव से छूटता हुआ अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है इसी अभिप्राय से ऋषि कहते है—

"य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः" ॥११॥

आश्वलायन ने जो ६ प्रश्न किए थे—उनका यहाँ ५ प्रश्नों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिये। आश्वलायन द्वारा किये गये सभी प्रश्नों का निरूपण हो चुका। अब उन पाँचों को **'सिंहावलोकनन्याय'** से उपसंहृत करते हुए ऋषि कहते हैं—

"उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुते" ॥१२॥

वह विज्ञानाक्षर प्राणरूप से प्रकृति में कैसे उत्पन्न हुआ? यह पहला प्रश्न था। उत्पन्न होकर शरीर में कैसे आया? यह दूसरा प्रश्न था। आकर कैसे किस स्थान पर प्रतिष्ठित हुआ? यह तीसरा प्रश्न था। किसके द्वारा इस शरीर को छोडकर—**'तेजः परस्यां देवतायाम्'**—के अनुसार उत्क्रान्त होकर अपने विभुभाव में व्याप्त हो गया? यह चौथा प्रश्न था एवं अध्यात्म और अधिदैवत में किस रूप से प्रतिष्ठित है?—यह पाँचवाँ प्रश्न था। उत्पत्ति, आयति, स्थान, विभुत्व, पञ्चधा अध्यात्मशब्द—इन पाँचों का पाँचों प्रश्नों से सम्बन्ध है। इस रहस्य को जो जान जाता है—उसे यह मालूम हो जाता है कि यह सब विज्ञानाक्षर की ही महिमा है—जिसे कि अन्तर्य्यामिरूप से अन्तःप्रविष्ट रहने पर भी अविद्या में ग्रस्त-न देखने वाले मनुष्य दंद्रम्यमाण हो रहे हैं। उसे जानो—जानकर अमृतत्व प्राप्त करो—इस प्राणनिरूपण से हमें केवल यही बतलाया है ॥१२॥

॥ इति प्रज्ञाप्राणनिरूपणात्मकस्तृतीयप्रश्नः ॥

॥ ३ ॥

नाड़ीस्वरूप-परिचय ❀

उपनिषत् का तृतीय प्रश्न समाप्त हो चुका है–जिस प्राण की हृदय में प्रतिष्ठा बतलाई है–उसके लिए—

"अत्रैतदेकशतं नाडीनाम् । तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । आसु व्यानश्चरति" ॥[1]

—यह कहा है । केवल भौतिक सायन्स को ही प्रधान मानने वाला एवं केवल इसी को पहचानने वाला आधुनिक वैज्ञानिक-जगत् श्रुति के इन अक्षरों पर विश्वास करे या न करे–किन्तु भारतीय सन्तान के लिए तो वेद ईश्वर का वाक्य है । ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाला भारतीय जगत् वेद को उसका निःश्वास समझता है । वेद को उससे अभिन्न अतएव तत्सम पूज्य समझता है, अतः उसके मुख से सुनी हुई व्यान-सम्बन्धी ७२ हजार नाड़ियों के विषय में कम से कम इस जगत् को तो न कभी सन्देह हुआ था, न है–न होगा । इसका विश्वास है कि ऋषियों ने अपनी योगज दृष्टि से जिन इन्द्रियातीत पदार्थों का प्रत्यक्ष किया है–लोककल्याणार्थं उन्हीं तत्त्वों का उन्होंने 'शब्द' ब्रह्म को आधार मानकर निरूपण किया है । यह सच है कि डाक्टर ऑपरेशन द्वारा ७२ हजार नाड़ियों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । परन्तु इन्द्रिय एवं यन्त्रागम्य होने पर भी जैसे अब वे धीरे धीरे निराकार अन्तःप्रविष्ट देहातिरिक्त आत्मतत्त्व की सत्ता स्वीकार करने लगे हैं–एवमेव कोई समय आवेगा कि आज ७२ हजार शिराओं का उपहास करने वाला वही पाश्चात्य जगत् इनकी सत्ता मानेगा और अवश्य मानेगा । आज उन्हीं शिराओं का संक्षिप्त स्वरूप हम अपने उपनिषत्-प्रेमी पाठकों के सामने रखना चाहते हैं ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश–ये पाँचभूत अतिसुप्रसिद्ध हैं । पाँचों भूतों से ही हमारा शरीर बना है, सप्तधातु, शिरा, धमनी, स्नायु आदि आदि सारा शरीरप्रपञ्च इन्हीं पाँच भूतों में अन्तर्भूत है । पञ्चीकृत पाँच भूतों से शरीर बना है, अतएव शरीर को 'महाभूतसमष्टि' कहा जाता है । ७२ हजार नाड़ियों का इन्हीं पाँचभूतों से सम्बन्ध है । ७२ हजार के पाँच समान विभाग कर डालिए । इस विभाग से प्रत्येक विभाग में १४४०० (चौदह हजार चार सौ) नाड़िऐं हो जाती हैं । पाँचों भूतों में प्रत्येक में इतनी इतनी नाड़ियों का सम्बन्ध है । शिरा-स्नायु-धमनी–तीन प्रकार की नाड़िऐं आयुर्वेदशास्त्र में सुप्रसिद्ध हैं । रसवाहिनी नाड़िऐं–'शिरा' नाम से प्रसिद्ध हैं । ज्ञानवाहिनी नाड़िऐं 'स्नायु' नाम से प्रसिद्ध हैं, अतएव स्नायुनाड़िऐं–'ज्ञानतन्तु' भी कहलाती हैं एवं वायुवाहिनी नाड़िऐं 'धमनी' (धौंकनी नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध) नाम से प्रसिद्ध हैं । जिन ७२ हजार नाड़ियों का यहाँ निरूपण हो रहा है–उनका केवल इसी धमनी से सम्बन्ध है । व्यान वायु है । 'आसु व्यानश्चरति'–से वायुवाहिनी धमनियों का ही ग्रहण हो सकता है ।

❀ पृष्ठ संख्या १३४ पर उल्लिखित तृतीय प्रश्न के छठे मन्त्र का परिशिष्टात्मक नाड़ीविषयक विवेचन ।

१–प्रश्नोप० ३।६ ।

केवल ये ही ७२ हजार हैं। यदि शिरा-स्नायु की संख्या मिलादी जाती है तो तिगुनी नाड़िएँ (२१६००० दो लाख सोलह हजार) हो जाती हैं। जहाँ व्यानवायु है–वहाँ रस भी अवश्य है एवं जहाँ रस है वहाँ–'यावानु वै रसस्तावानात्मा'–इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान (चेतना) भी अवश्य है। वायु, रस, ज्ञान–तीनों अविनाभूत हैं। वायुसंचार से रसनिर्म्माण होता है। रस पर ज्ञान प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार धमनी, शिरा, स्नायु–तीनों नाड़ियों का अविनाभाव सिद्ध हो जाता है। उपनिषन्मात्र अक्षर-विद्या का निरूपण करते हैं। अक्षर अव्यय के प्राण से सम्बन्ध रखने वाला क्रियाशक्तिमय तत्त्व है। यही देवसत्य में आकर 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध होता है। व्यानवायु ही हिरण्यगर्भ है। चूंकि उपनिषद् प्रधानरूप से इसी का निरूपण करते हैं, अतएव उपनिषदों में हिरण्यगर्भ वायु से (व्यानवायु से) सम्बन्ध रखने वाली धमनी नाम से प्रसिद्ध ७२ हजार नाड़ियों का ही निरूपण किया गया है। अप्राकृत होने से स्नायु और शिरा को उपनिषदों में छोड़ दिया गया है। हाँ, कहीं कहीं (क्षुरिकोपनिषदादि में) योग के सम्बन्ध से शिराओं का निरूपण किया गया है, परन्तु गौणरूप से, अतएव हम भी यहाँ उपनिषत्-सम्बन्धी केवल ७२ हजार वायव्य (व्यान) नाड़ियों का ही निरूपण करेंगे।

(१)–पञ्चभूतात्मक शरीर में एक ही प्रकार की व्याननाड़िएँ–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्चधा विभक्त पाँच भूतों के सम्बन्ध से पाँच स्थानों पर विभक्त होकर १–पृथिवीनाड़ी, २–जलनाड़ी, ३–तेजोनाड़ी, ४–वायुनाड़ी, ५–व्योमनाड़ी–इन नामों से प्रसिद्ध हो जाती हैं। इन नाड़ियों के सम्बन्ध से हृदय में उक्थरूप से प्रतिष्ठित व्यानवायु अर्करूप से सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो जाता है, अतएव इसके लिए–'व्यानः सर्वशरीरगः'–यह कहा जाता है। इन पञ्चधा विभक्त नाड़ियों का शरीरगत भिन्न-भिन्न भावों से सम्बन्ध है एवं आयतन भेद से रस, वर्ण, स्पर्श भी पाँचों के भिन्न-भिन्न हैं। पहले पृथिवी–नाड़ियों को ही लीजिए। अस्थि, मांस, त्वचा–तीनों घनद्रव्य हैं। 'यत् कठिनं सा पृथिवी'[1]–के अनुसार तीनों का पृथिवीभाग से सम्बन्ध है। इन तीन स्थूल धातुओं के कारण १४४०० पार्थिव नाड़िएँ क्रमशः ४८०० (चार हजार आठ सौ) संख्या में तीनों में विभक्त हैं। अस्थि, मांस, त्वचा–तीनों में प्रत्येक के साथ ४८०० का सम्बन्ध है। संकलनया कुल १४४०० नाड़िएँ हो जाती हैं। इनका रस मधुर है, वर्ण पीत (पीला) है। स्पर्श सम (न उष्ण-न मृदु) है। इतनी ही जल नाड़िएँ हैं। शुक्र, शोणित, मज्जा–तीन तरल धातु हैं। कफ, लाला आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव है। 'यद् द्रवं तदापः'[2]–के अनुसार ये तीनों आपः भूत हैं। इन तीनों में वे जल नाड़िएँ–४८०० क्रम से तीन भागों में विभक्त हैं। संकलनया १४४०० हो जाती हैं। रस इनका शिव है। वर्ण श्वेत है। स्पर्श ठण्डा है। इतनी ही तेजोनाड़िएँ हैं। क्षुधा, तृषा, निद्रा–तीन आग्नेय धातु हैं। अन्न की आहुति से शरीराग्नि शान्त होता हुआ शिव बन जाता है, अतएव रुद्राग्नि को शान्त करने वाले इस अन्न का नाम वैज्ञानिकों ने 'शान्तरुद्रिय' रखा है। 'शान्तरुद्रिय' को ही परोक्षप्रिय भूसुर 'शतरुद्रिय' कहा करते हैं। शतपथ के नवमकाण्ड के संचिति-प्रकरण में इस विषय का विशद विवेचन देखना चाहिए। विना अन्न के अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। प्रज्वलित अग्नि क्षुब्ध हो जाता है। इस अग्नि के इस क्षोभ का ही नाम भूख

१–गर्भोप० १। २–गर्भोप० १।

और प्यास है, अतएव इन दोनों वृत्तियों को हम अग्नि का करने के लिए तय्यार हैं। तीसरी है निद्रा-वृत्ति। तेज (सौर तेज के) प्रबल आक्रमण से ही निद्रा होती है, जैसा कि चतुर्थ प्रश्न में बडे विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है, अतएव निद्रा का भी हम तेज में ही अन्तर्भाव मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार क्षुधा, पिपासा, निद्रा-तीनों का **'तेजोभूतत्व'** भलीभांति सिद्ध हो जाता है। प्रत्येक के साथ ४८०० तेजोनाड़ियों का सम्बन्ध है। संकलन से १४४०० नाड़िएँ हो जाती हैं। इनका रस तीक्ष्ण है, वर्ण लाल है-स्पर्श ऊष्म है। इतनी ही वायुनाड़िएँ हैं।

धावन (दौड़), चलन, भाषण-तीन वायुधातुएँ हैं। दौड़ना, चलना, बोलना-तीनों गतिधर्म्मा वायु के व्यापार हैं, अतएव हम इन तीनों व्यापारों को वायुधातु कहने के लिए तय्यार हैं। जो नाड़ी-विभाग पूर्व में था, वही यहाँ है।

इतनी ही व्योमनाड़िएँ हैं। द्वेष, लज्जा, भय-तीन भावों का आकाश से सम्बन्ध है। लज्जा में आकाश संकुचित होता है। भय में प्रतिष्ठा से गिरता है-जगह छोडता है एवं द्वेष में दूसरे से अपने को हटाता है। तीनों व्यापार अन्तरिक्षरूप आकाश से सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनों के साथ भी वही विभाग है। इन पाँचों प्रकार की नाड़ियों का यदि संकलन किया जाता है तो कुल ७२ हजार नाड़िएँ हो जाती हैं। पाँच जगह समान संख्या से तीन तीन स्थानों पर विभक्त हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर अनुगम-श्रुति कहती है—

"यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति"-इति॥[1]

वायुनाड़ियों का रस अम्ल है। वर्ण चित्र है। स्पर्श सम है। व्योमनाड़ियों का रस कटु है। वर्ण श्याम है-स्पर्श कटु है।

इन पाँचों नाड़ियों की पुष्टि प्राणादि पाँच प्राणों से होती हैं। इस शरीर में वह एक ही सौर प्राण-**'पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य'**-के अनुसार प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान-इन पाँच भागों में विभक्त होकर प्रतिष्ठित रहता है। **'हृदि एष आत्मा'**-के अनुसार प्राण हृदय में प्रतिष्ठित है। अपान मूलद्वार में प्रतिष्ठित है। समान नाभिप्रदेश में प्रतिष्ठित है। उदान कण्ठदेश में प्रतिष्ठित है एवं व्यान सर्वशरीर में प्रतिष्ठित है। इन पाँचों प्राणों के दो दो काम हैं। नाड़ियों को पुष्ट करना-तत्तद्भूतरसोपजनित-तत्तद्भूतमय तत्तन्नाड़ियों को तत्तद्भूतों से सुरक्षित रखना पहला काम है। हृत्प्रदेश में प्रतिष्ठित प्राण पृथिवीनाड़ियों को पुष्ट करता है। मूलद्वार में प्रतिष्ठित अपानप्राण जलनाड़ियों को पुष्ट करता है। कण्ठप्रदेश में प्रतिष्ठित उदान तेजोनाड़ियों को पुष्ट करता है। नाभिप्रदेश में प्रतिष्ठित समानप्राण वायुनाड़ियों को पुष्ट करता है एवं सर्वशरीर-प्रतिष्ठित व्यानप्राण व्योम-नाड़ियों का पोषण करता है।

१-छान्दोग्योप० २।२२।३।

हमारे शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिएँ हैं, पाँच कर्म्मेन्द्रिएँ हैं। चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, रसना, त्वक्–ये पाँच ज्ञानेन्द्रिएँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ–पाँच कर्म्मेन्द्रिएँ हैं। इन दसों इन्द्रियों के भी प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण (शरीरवत्) पाँच भूत ही हैं। नासेन्द्रिय गन्ध से सम्बन्ध रखने के कारण–**'पृथिवीन्द्रिय'** है, क्योंकि गन्धतन्मात्रा का पृथिवी से ही सम्बन्ध है–जैसा कि छठे प्रश्न में बड़े विस्तार से बतलाया जाएगा। रसना (जिह्वा), शिश्न (उपस्थ) दोनों जलेन्द्रिय हैं। रसना सदा आर्द्र रहती है। शिश्न से ही मूत्रविसर्जन होता है, अतएव इन दोनों को अवश्य ही हम 'जलेन्द्रिय' कह सकते हैं। नेत्र, पाद–दोनों तेज-इन्द्रिय हैं। नेत्र आदित्यतेज से निष्पन्न हैं। पाद भूमि से बने हैं। भूमण्डल अग्निमय भूतात्मा का प्रवेश इस पाद के प्रपदस्थान से होता है। पाणि, नाभि, त्वक्–तीनों वायव्य इन्द्रिएँ हैं। श्रोत्र, वाक्–दोनों व्योमेन्द्रिएँ हैं—

नासा	—	पृथिवीन्द्रिएँ	—	पृथिवी।
जिह्वा-शिश्न	—	जलेन्द्रिएँ	—	जल।
नेत्र-पाद	—	तेज-इन्द्रिएँ	—	तेज।
पाणि, नाभि	—	वायव्येन्द्रिएँ	—	वायु।
श्रोत्र, वाक्	—	व्योमेन्द्रिएँ	—	आकाश।

नासा	(घ्राण)	– ज्ञानेन्द्रिय	– पृथिवीन्द्रिय	→पृथिवी
जिह्वा	(रसना)	– ज्ञानेन्द्रिय	– जलेन्द्रिय	→जल
शिश्न	(उपस्थ)	– कर्मेन्द्रिय	– जलेन्द्रिय	→जल
पाणि		– कर्म्मेन्द्रिय	– वायव्येन्द्रिय	→वायु
नाभि		– कर्म्मेन्द्रिय	– वायव्येन्द्रिय	→वायु
त्वक्		– ज्ञानेन्द्रिय	– वायव्येन्द्रिय	→वायु
श्रोत्र		– ज्ञानेन्द्रिय	– व्योमेन्द्रिय	→आकाश
वाक्		– कर्म्मेन्द्रिय	– व्योमेन्द्रिय	→आकाश
नेत्र		– ज्ञानेन्द्रिय	– तेज-इन्द्रिय	→तेज
पाद		– कर्म्मेन्द्रिय	– तेज-इन्द्रिय	→तेज

इनमें और तो सब इन्द्रिएँ आ जाती हैं–केवल पायु (मूलद्वार) छूट जाता है। **'पायूपस्थे'** के अनुसार इसका उपस्थ में ही अन्तर्भाव है। इसके अलावा यहाँ **'नाभिर्दशमी'**–के अनुसार नाभिरिन्द्रिय

और मानली गई है। नासेन्द्रिय का कार्य्य है–नाड़ी द्वारा गन्धग्रहण, गन्धविसर्जन। अच्छी गन्ध ले लेना, बुरी को छोड़ देना–दो काम इसके हैं। शिश्न और जिह्वा का–रसग्रहण, रसपरित्याग–दो धर्म्म हैं। जिह्वा स्वादरस को लेती है। शिश्न रतिरस को लेता है। जिह्वा रसरूप थूक का परित्याग करती है। शिश्न मूत्रविसर्जन करता है। नेत्रों में, पादों में सौर तेज आता रहता है–जाता रहता है। गति इन्द्र का धर्म्म है। इन्द्र में प्रकाश एवं गति दोनों हैं। प्रकाशभाग ज्ञानसम्बन्धी है। गतिभाग क्रिया सम्बन्धी है। दोनों की समष्टि तेज है। पाद से क्रिया-तेज का आदान-विसर्ग होता है। चक्षु से ज्ञानमय रूपतेज का आदान-विसर्ग होता है। पाणि, नाभि, त्वक् से वायु का आदान-विसर्ग होता है। पाणि से जो क्रिया होती है–वह वायव्या ही है। श्रोत्र-वाक् से शब्द का आदान-विसर्ग होता है। श्रोत्र शब्द लेता है, वाक् निकालती है। इन इन्द्रिय विषयों के आगमन-निर्गमन के अधिष्ठाता भी वे ही पाँचों प्राण हैं। तत्तदिन्द्रियसम्बन्धी नाड़ियों का पोषण करना इनका पहला काम था एवं नाड़ीपोषण द्वारा तत्तद्विषयों की आगति-निर्गति करना दूसरा काम है।

(२)–प्राण हृदय में प्रतिष्ठित है। इसकी व्याप्ति नान्दनद्वार (ब्रह्मरन्ध्र) तक है। वहीं से यह आता है। नान्दन इसकी योनि है। हृदय प्रतिष्ठा है। हृत्प्रतिष्ठ प्राण अपनी योनिरूप नान्दन से सूर्य्य तक अपना सम्बन्ध रखता है। ब्रह्मरन्ध्र से निकलकर निमेषमात्र में तीन बार सूर्य्य में जाता है–आता है। गुदप्रतिष्ठ अपान प्राण (पार्थिव देवता) गुद से निकलकर भूकेन्द्र तक जाता आता रहता है। व्यान-प्राण हृदय से ऊपर नान्दन तक, हृदय से नीचे गुदा तक सर्वाङ्ग शरीर में चक्कर लगाया करता है। कण्ठस्थ उदान तेज द्वारा आधिदैविक सौर प्राण देवताओं को इन्द्रियों में परिणत कर शरीर में प्रतिष्ठित रखता है। जब तक तेजरूप उदान है–तभी तक वे देवता इन्द्रियरूप में परिणत होकर अध्यात्म में प्रविष्ट हैं। उपशान्ततेजा के इन्द्रियदेवता मन से युक्त हो–शरीर से उत्क्रान्त हो जाते हैं एवं समान भूतप्रपञ्च को देह में प्रविष्ट रखता है। अन्नाहुति से भूतसत्ता रहती है। इस आहुति को समभाव में परिणत कर तद्द्वारा भूतों को प्रतिष्ठित रखने वाला वही समान है–जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। नाड़ी-सम्बन्ध से प्रत्येक के साथ १४४०० नाड़ियों का सम्बन्ध हो जाता है। संकलन से कुल ७२ हजार नाड़िएँ हो जाती हैं।

(३)–ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र–इन तीन देवताओं से ही आधिदैविक प्रपञ्च का संचालन हो रहा है। इन्हीं तीन पर अध्यात्मजगत् प्रतिष्ठित है। ब्रह्मा स्थितितत्त्व है। इस प्रतिष्ठा पर विष्णु और इन्द्र–ये दो अक्षर प्रतिष्ठित हैं। हमारे में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ–इन तीनों लोकों का रस निरन्तर आता रहता है। इस त्रैलोक्य अन्न को हम निरन्तर खाते रहते हैं। परन्तु साथ ही में तीनों भाग खर्च भी होते रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो भूख ही न लगे। बस, इसमें जितना अन्न का आगमन होता है–वह आगतिरूप अशनाया-युक्त विष्णु की कृपा है। ब्रह्माक्षर-प्रतिष्ठित विष्णु अशनाया द्वारा त्रैलोक्य के अन्न को लिया करते हैं, परन्तु विक्षेपणधर्म्मा इन्द्र अपने विक्षेपण के प्रभाव से आये हुए अन्न को निकाल देते हैं। सूर्य्य से जो भाग आता है–वह प्राण कहलाता है। इसका आगमन नान्दनद्वार से होता है। यह आगमन विष्णु द्वारा होता है। साथ ही में आया हुआ प्राण निकल भी जाता है। वह

आया हुआ प्राण आध्यत्मिक सूर्य्य था। वही सूर्य्य निकलता हुआ उदान नाम धारण कर लेता है। यह निर्गमन-विक्षेपणधर्म्मा इन्द्र के द्वारा होता है। इस प्रकार इन्द्र-विष्णु की स्पर्धा के कारण नान्दन, कण्ठ-स्थान में प्रतिष्ठित आध्यात्मिक सूर्य्य की (सौर प्राण की) प्राण, उदान–दो सँज्ञाएँ हो जाती हैं। यह हुई भूलोक के अन्न के आदान-विसर्ग की व्यवस्था।

अब चलिए–पार्थिव अन्न की ओर। मूलद्वारा विष्णु जिस पार्थिव रस को लाकर (पार्थिव प्राण को लाकर) नाभि में प्रतिष्ठित करते हैं–वह 'समान' कहलाता है। इन्द्र द्वारा गुदमार्ग से निकलता हुआ वही समान 'अपान' नाम धारण कर लेता है एवं अन्तरिक्ष से वायव्यभाग आता है। इसी का नाम व्यान है। इन सारे द्यावापृथिवी के रसों को सर्वाङ्गशरीर में अपनी क्रियाशक्तिद्वारा यथास्थान प्रतिष्ठित करना इस व्यान का काम है। यदि व्यान न हो तो किसी रस का संचार न हो। रस का संचार न हो तो न शरीर में प्राणोदानरूप सौर देवता रहें एवं न समानापानरूप पार्थिव देवता रहें, अतएव प्रादेशमित अतएव च वामन नाम से प्रसिद्ध मध्यस्थ व्यानरूप विष्णु के लिए—

"उर्ध्वं प्राणमुन्नयति–अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते" ॥[1]

—यह कहा जाता है। प्राणोदान द्युलोक का अन्न है। समानापान पार्थिव अन्न है। व्यान आन्तरिक्ष्य है। मध्य व्यान ही दोनों का संचालक है। यही जीवन का कारण है–जैसा कि पूर्व के उपनिषदों में कई स्थानों पर बताया जा चुका है। ये पाँचों असल में सौर प्राण हैं। सूर्य्य ही त्रैलोक्य में परिणत होकर पाँच स्थानों में परिणत हो रहा है। इन्हीं को हमने गार्हपत्यादि नाम से व्यवहृत किया है। पाँचों प्राणाग्नि हैं। इन्हीं के लिए चौथे प्रश्न में–'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति'–यह कहा गया है। वही सौर सत्यप्राण (मुख्यप्राण)–'पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य'–के अनुसार क्रमशः–नान्दन, कण्ठ, हृदय, नाभि, मूलद्वार–इन पाँच स्थानों में क्रमशः प्राण, उदान, व्यान, समान, अपानरूप में परिणत होकर प्रतिष्ठित हुआ है। सौर प्राण आदित्याग्निरूप होने से सत्य है। क्योंकि अग्नि सत्य हुआ करती है, अतएव तद्रूप इन पाँचों को हम सत्य कहने के लिए तय्यार हैं। पाँचों प्राण स्वस्व प्रतिष्ठा में सत्यरूप से (उक्थरूप से) प्रतिष्ठित होकर अर्करूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं।

(४)–इन पाँचो में चार सन्धिभाग हैं। इन चार सन्धियों में चार प्रकार का वायव्य (अतएव ऋत) प्राण प्रतिष्ठित है। इन पाँचों के ऊपर सर्वत्र एक ऋतप्राण और भरा रहता है। इस प्रकार सत्यवत् पाँच ही प्रकार के ऋतप्राण हो जाते हैं। मूलद्वार से नाभि तक एक प्रादेश है। इस अन्तरिक्ष में जो ऋत-प्राण भरा रहता है–वह 'कूर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध तान्त्रिक कूर्म्मचक्र का इसी से सम्बन्ध है। नाभि से हृदय तक के एक प्रादेश में जो ऋतप्राण भरा रहता है–वह 'नाग' नाम से प्रसिद्ध है। हृदय से कण्ठ तक के एक प्रादेश में व्याप्त ऋतप्राण 'कृकल' नाम से प्रसिद्ध है। कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र तक के

१–कठोप० २।२।३।

एक प्रादेश में व्याप्त ऋतप्राण 'देवदत्त' नाम से प्रसिद्ध है। ये चारों ऋतप्राण सत्य से वेष्टित हैं। उपक्रम में नान्दनस्थानीय प्राण नाम से प्रसिद्ध सत्यतत्त्व है। उपसंहार में मूलद्वारस्थानीय अपान नाम से प्रसिद्ध सत्यतत्त्व है। परन्तु इन पाँचों सत्यों पर व्याप्त एक ऋतप्राण और है। 'ऋते भूमिरियं श्रिता'–के अनुसार ऋतचतुष्टयीगर्भित सत्यपञ्चक उस ऋत के पेट में हैं। इसीलिए अन्त में ऋषि को–'ऋतं नात्येति किञ्चन'–यही कहना पड़ता है। इस सर्वव्यापक ऋतप्राण का नाम है–'धनञ्जय'। प्राणापानरूप सत्य से शरीर प्रतिष्ठित है। दोनों अध्यात्मप्रपञ्च की संपत्ति (धन) हैं। परन्तु उस सर्वव्यापक ऋतप्राण ने इन पर भी अपना प्रभुत्व रख रखा है, अतएव वैज्ञानिकों ने इसे 'धनञ्जय' नाम से व्यवहृत किया है।

(५)–जैसे निद्राभयादि उन सत्यप्राणों के काम नियत हैं–एवमेव इन पाँचों ऋतप्राणों के कार्य्य भी नियत हैं। नाग से उद्‌गार निकलता है। मनुष्य में जो उद्‌गार वायु निकलता है–उसका प्रभव नागवायु है। नेत्रों में जो निमेषोन्मेष हुआ करता है–वह 'कूर्म्म' से सम्बन्ध रखता है। क्षुधा-पिपासा का जैसे उदान से सम्बन्ध है, तथैव इन दोनों का कृकलास से भी सम्बन्ध है। जँभाई (जृम्भा) देवदत्त से निकलती है। मृतशरीर में जो शोथ (सूजन) आ जाती है–वह धनञ्जय की महिमा है। इन पाँचों से युक्त पाँचों सत्यप्राणों में प्रत्येक के साथ १४४०० नाड़ियों का सम्बन्ध है। संकलनया ७२ हजार नाड़िएँ हो जाती हैं।

यह है–७२ हजार नाड़ियों का स्वरूपनिदर्शन। शरीर में ७२ हजार क्रियाओं का ऋषियों ने प्रत्यक्ष किया है। उन्हीं के आधार पर ७२ हजार नाड़ियों का अपनी आर्षदृष्टि से पता लगाया है। प्रत्येक क्रिया की भिन्न-भिन्न नाड़ी है। उन ७२ (बहत्तर) हजार नाड़ियों में प्रविष्ट, अतएव ७२ हजार स्वरूप धारण करने वाले उस व्यानवायु ने ही सबका संचालन कर रखा है।

पूर्वोक्त सारे विषयों का निर्दिष्ट संख्याक्रम से आगे बतलाए जाने वाली तालिकाओं से भली-भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है––

(१)—नाड्यश्चतुर्दशसहस्रचतुःशतानि (१४४००) पञ्चधा प्रगुणितानि=७२,०००

१–❀ १–पृथिवी

१४४०० पृथिवीनाड्यः—		
अस्थनि	— ४८००	मधुरो रसः
मांसे	— ४८००	पीतो वर्णः
त्वचि	— ४८००	समस्पर्शः
	१४४००	

प्राणो हृदये पृथिवीगृहे वसन् पृथिवीनाडीः पुष्णाति । पृथिवीन्द्रिये नासामूले पृथिवीतन्मात्रां गन्धं प्रवेशयति निर्गमयति च ।

२–❀ २–आपः

१४४०० जलनाड्यः—		
शुक्रे	— ४८००	शिवो रसः
शोणिते	— ४८००	श्वेतो वर्णः
मज्जायाम्	— ४८००	शीतस्पर्शः
	१४४००	

अपानो गुदे तिष्ठन् जलनाडीः पुष्णाति । जिह्वाशिश्ने जलेन्द्रिये रसं प्रवेशयति निर्गमयति च ।

३–❀ ३–तेजः

१४४०० तेजोनाड्यः—		
क्षुधायाम्	— ४८००	तीक्ष्णो रसः
पिपासायाम्	— ४८००	रक्तो वर्णः
निद्रायाम्	— ४८००	उष्णः स्पर्शः
	१४४००	

उदानः कण्ठे तिष्ठन् तेजोनाडीः पुष्णाति । नेत्रं पादं च तेज-इन्द्रियं प्रवेशाय निर्गमाय च ।

क्रमशः

४–❀ ४–वायुः

१४४०० वायुनाड्यः—	
धावने – ४८००	अम्लो रसः
चलने – ४८००	चित्रो वर्णः
भाषणे – ४८००	समः स्पर्शः
१४४००	

समानो नाम्नो वायुनाडीः पोषयति, पार्थिवाग्निरिन्द्रिये त्वक्-प्रवेशाय निर्गमाय च ।

५–❀ ५–आकाशः

१४४०० व्योमनाड्यः—	
द्वेषे – ४८००	कटुरसः
लज्जायाम्– ४८००	श्यामो वर्णः
भये – ४८००	कटुस्पर्शः
१४४००	

व्यानः सर्वशरीरे व्योमनाडीः पोषयति, श्रोत्रं शाब्दिकं शब्दस्य प्रवेशाय निर्गमाय च ।

—❀—

(२)

०	सत्यम्	सूर्य्यं प्रवेशयति विष्णुः नान्दनः ∫ प्राणः ∫ १४४००	→सत्यम्–१ 'प्राणः'	→द्यौः–३
देवदत्तः	ऋतम्	'ऋतम्'–१		
०	सत्यम्	सूर्य्यं निर्गमयति इन्द्रः कण्ठः ∫ उदान ∫ १४४००	→सत्यम्–२ 'उदानः'	
कृकलः	ऋतम्	'ऋतम्'–२		
०	सत्यम्	देहे रसान् संनिवेशयति हृदयः ∫ व्यानः ∫ १४४००	→सत्यम्–३ 'व्यान्'	अन्तरिक्षम्–२
नागः	ऋतम्	'ऋतम्'–३		
०	सत्यम्	पृथिवीं प्रवेशयति विष्णुः नाभिः ∫ समानः ∫ १४४००	→सत्यम्–४ 'समानः'	→पृथिवी–१
कूर्म्मः	ऋतम्	'ऋतम्'–४		
०	सत्यम्	पृथिवीं निर्गमयति इन्द्रः गुदः ∫ अपानः ∫ १४४००	→सत्यम्–५ 'अपानः'	

(वाम पार्श्व रेखाएँ: ५–ब ... ध ... यः; ५–भू ... प ... भू)

सम्भूय– ७२००० नाडयः

नाडीषु पञ्चप्राणाः

१४४००—प्राणः→नान्दनात्—सूर्य्यान्तः ।
१४४००—अपानः→गुदात्——भूकेन्द्रान्तः ।

१४४००—व्यानः→नान्दनात्—गुदान्तः ।

१४४००—उदानः→देवान् देहे निवेशयति ।
१४४००—समानः→भूतानि देहे निवेशयति ।

७२०००

चलाः–ऋतानि–पञ्च

(१) नागः — ऋतम् — 'हृदयान्नाभ्यन्ते वितस्तिमात्रप्रदेशे' ।
(२) कूर्म्मः — ऋतम् — 'नाभेर्मूलान्ते जलगृहे वितस्तिमात्रदेशे' ।
(३) कृकलः — ऋतम् — 'हृदयात् कण्ठान्ते तेजोगृहे वितस्तिमात्रदेशे' ।
(४) देवदत्तः — ऋतम् — 'नाभेः पार्श्वे वामे वितस्तिमात्रप्रदेशे' ।
(५) धनञ्जयः — ऋतम् — नाभेः पार्श्वे दक्षिणे वितस्तिमात्रदेशे' ।

सत्याः-अचलाः-पञ्च

१–प्राणः — सत्यः ।
२–अपानः — सत्यः ।
३–व्यानः — सत्यः ।
४–समानः — सत्यः ।
५–उदानः — सत्यः ।

१–नागात् —उद्गारः ।

२–कूर्म्मात् —नेत्रनिमेषोन्मेषौ ।

३–कृकलात् —क्षुधापिपासे ।

४–देवदत्तात् —जृम्भा ।

५–धनञ्जयात् —श्वयथुः ।

।। इति नाडी-तालिका-प्रदर्शनम् ।।
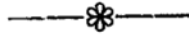
इस प्रकार व्यान वायु की आधारभूता ७२ हजार मूलनाड़िएँ होती हैं । इनमें प्रतिनाड़ी शाखाओं का संकलन और करा दिया जाता है तो कुल –७२७२१०१०१ इतनी नाड़िएँ हो जाती हैं– जैसा कि मन्त्रार्थ करते समय बतलाया जा चुका है । जिन ७२ हजार मूलनाड़ियों का पूर्व में निरूपण किया गया है–उसमें से निम्नलिखित १० नाड़िएँ मुख्य मानी जाती हैं—

१–इडा — वामनासायाम् — वायुमयी — वायुस्वरसम्बन्धिनी

२–पिङ्गला — दक्षिणनासायाम् — सौरप्राणमयी — सूर्य्यस्वरसम्बन्धिनी

३–सुषुम्णा — उभयोर्मध्ये — चान्द्रप्राणमयी — चन्द्रस्वरसम्बन्धिनी

४–गान्धारी — वामनेत्रे

५–हस्तिजिह्वा — दक्षनेत्रे

६–पूषा — दक्षकर्णे

७–यशस्विनी — वामकर्णे

८–अलम्बुसा — मुखे

९–कुहूः — लिङ्गे

१०–शंखिनी — मूले

निम्नलिखित श्लोकों से इन नाड़ियों का स्वरूप ज्ञान भलीभाँति हो जाता है—

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ॥१॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥२॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥३॥

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥४॥

इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ।
इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥५॥

सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥६॥

नागः कूर्मः कृकरेको देवदत्तो धनञ्जयः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥७॥

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति ॥८॥

प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् ।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति—इत्यादि" ॥[1]

1—ध्यानबिन्दु० ५१–५८ एवं ६० ।

कितने ही वैज्ञानिक १४ नाड़ी प्रधान मानते हैं। इन चौदह नाड़ियों का कार्य्य-देवता-स्थान-परिमाण सब भिन्न-भिन्न हैं। पूर्व में देवदत्तादि का जो जो कार्य्य हमने बतलाया है एवं जिन पार्थिवादि नाड़ियों का शुक्रादि धातुओं से सम्बन्ध बतल.या है–वह सब आगे के श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि श्लोक उद्धृत करने की आवश्यकता न थी, तथापि लक्षणैकचक्षुष्क (प्रमाणपरतन्त्र) महानुभावों के सन्तोष के लिए ऐसा करना पड़ता है—

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥१॥

त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते ।
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः ॥२॥

देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहि सांकृते ।
कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ॥३॥

चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव ।
कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥४॥

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव ।
कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता ॥५॥

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाड्यो हि मुनिपुङ्गव ।
द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश ॥६॥

सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती ।
पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी ॥७॥

अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी तपस्विनी ।
शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश ॥८॥

आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा ।
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥९॥

पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ।
सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥१०॥

सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥११॥

सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ।
गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपार्श्वयोः ॥१२॥

पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता ॥१३॥

यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ॥१४॥

गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ।
अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा" ॥१५॥'

॥ इति परिशिष्टसहितस्तृतीयप्रश्नः ॥

१-श्रीजाबालदर्शनोप० ४।१-१० एवं १३-१७।

अथ
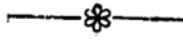
भूतप्राणनिरूपणात्मकः चतुर्थप्रश्नः

४

४–पृथिवी=भोक्तात्मा

"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः" ।।
(कैवल्योप० १८)

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" ।
(कठोप० १।३।४)

चतुर्थः प्रश्नः

[मूलपाठः] अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ ।। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ।।१।।

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुन पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति ।। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ।।२।।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति ।। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ।।३।।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः ।। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ।।४।।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ।।५।।

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवःस्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन्छरीर एतत्सुखं भवति ।।६।।

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते ।। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ।।७।।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ।।८।।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ।। स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ।। ९ ।।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति ।। तदेष श्लोकः ।।१०।।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ।।११।।

।। इति चतुर्थप्रश्नस्य मूलपाठः ।।

।। ४ ।।

अथ

भूतप्राणनिरूपणात्मकः चतुर्थप्रश्नः

[**विज्ञानभाष्य**] प्रत्येक उपनिषत् के कई कई मूलमन्त्र होते हैं। उन मन्त्रों के आधार पर उपनिषद्-विद्या आगे चलती है। विस्तारभय से हम सभी स्थानों पर उनका निरूपण नहीं कर सकते। उपनिषत् का विषय ही बहुत विस्तृत हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि मूलमन्त्रों का निरूपण और करने लगें तो विस्तार का ठिकाना ही न रहे। जिस चौथे प्रश्न का आगे निरूपण करने वाले हैं– उसके विषय में निम्नलिखित मूलमन्त्र हमारे सामने आता है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ" ॥[1]

अध्यात्मजगत् का निरूपण करने वाला यह जगती (छन्द से छन्दित) मन्त्र–आगे के चतुर्थ प्रश्न में बतलाई जाने वाली–'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-इन तीनों अवस्थाओं का मूल है। सौर्य्यायणी गार्ग्य, पिप्पलाद से पांच प्रश्न करने वाले हैं। उन पाँचों में से पूर्व के तीन प्रश्नों का क्रमशः यह स्वरूप है—

१–'**एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति ?**'

२–'**कान्यस्मिन् जाग्रति ?**'

३–'**कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ?**'

पूर्वोक्त मन्त्र इन तीनों प्रश्नों का भली प्रकार से समाधान करता है। प्रश्नत्रयी के उत्तरभूत मन्त्रगत '**ऋषि**' क्या पदार्थ है? इसके लिए निम्नलिखित संक्षिप्त ऋषिनिरूपण पर ध्यान देना आवश्यक होगा। '**तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते**'–के अनुसार वह ब्रह्मतत्त्व (जिसे कि प्रजापति कहा जाता है) क्रमशः–'अमृत-ब्रह्म-शुक्र'–इन तीन भागों में विभक्त है। इन्हीं तीनों का आगे जाकर हम क्रमशः–आत्मयोनि, प्राणयोनि, पशुयोनिरूप से निरूपण करने वाले हैं। इनमें शुक्र यज्ञ का मूल है। प्राण सत्य का मूल है एवं अमृत आत्मा का मूल है। यज्ञ अप्राकृत वस्तु है। आत्मा भी अप्राकृत है,

---

१–यजुर्वेद ३४।५५।

अतएव इन दोनों को छोडकर मध्यपतित सत्य की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करते हैं । इस प्राणरूपसत्यत्व के–**'यदस्य त्वं यदस्य च देवेषु'**–के अनुसार ब्रह्म और देव–दो विवर्त्त हैं । ब्रह्मविवर्त्त–स्वयम्भू, परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी–इन पाँच भागों में विभक्त है । देवप्रपञ्च–वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ तीन भागों में विभक्त है । ब्रह्मसत्य अधियज्ञ कहलाता है । इसके पाँच अवयव हैं, अतएव–**'पाङ्क्तो वै यज्ञः'**–यह कहा जाता है । देवसत्य भागत्रय में विभक्त है, अतएव **'त्रिःसत्या वै देवाः'**–यह कहा जाता है । इनमें ब्रह्मसत्य देवसत्य का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है । ब्रह्मसत्य के भी पाँच अवयव हैं । इनमें जो स्वयम्भूसत्य है–वह शेष सारे प्रपञ्च का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है । स्वयम्भू के प्राण का नाम ही ऋषितत्त्व है । ब्रह्मसत्य देवसत्य की समष्टि–**'सत्य'** है । इसके पर और अवर–दो भेद हो जाते हैं । जैसा कि पाँचवें प्रश्न में विस्तार के साथ बतलाया जाएगा । इस पराचीन (पर) अर्वाचीन (अवर) ब्रह्मसत्य का जो विज्ञान है–उसी का नाम **'वेदशास्त्र'** है । वह विज्ञान शब्दावच्छिन्न होकर वेद है । विषयावच्छिन्न होकर ब्रह्म है एवं संस्कारावच्छिन्न होकर विद्या है । शब्द, विषय, संस्कार–इन तीन उपाधियों के भेद से वह एक ही परावर ब्रह्मसत्य–विद्या, ब्रह्म, वेद–इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है । इन तीनों में हमारा वेदशब्द शब्दावच्छिन्न विज्ञान से सम्बन्ध रखता है । वेद-मूर्ति परावरब्रह्मसत्यरूप अर्थ का मूलतत्त्व ऋषिप्राण है । एवमेव तत्प्रतिपादक शब्दब्रह्मरूप वेद-शास्त्र का भी मूलतत्त्व ऋषि ही है । इसी अभिप्राय से ऋषिप्राण तत्प्रतिपादक वेदमन्त्र की अभिन्नता लक्ष्य में रखकर **'ऋषिर्वेदमन्त्रः'**–कहा जाता है । आपोमयी मैथुनीसृष्टि जब न थी तो क्या था ? इसका उत्तर यही ऋषिप्राण है । इसी ऋषिप्राण से इच्छा-तप-श्रम द्वारा आगे का सारा विश्व बनता है, अतएव–**'सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा ऽरिषन्'**–इस व्युत्पत्ति से वह असत्प्राण वैज्ञानिक जगत् में **'ऋषि'** नाम से प्रसिद्ध हुआ । स्वयम्भू का वह प्राण वेद रूप है । ऋग्-यजुः-सामभेद से वेद तीन प्रकार का है । स्वयम्भू का यह अपौरुषेय वेदतत्त्व **'ब्रह्मनिःश्वसित'** नाम से प्रसिद्ध है–जैसा कि कई बार बतलाया जा चुका है । इसमे ऋक्साम सृष्टि में अनुपयुक्त किन्तु सहकारी हैं । यजुः में 'यत्-जू' दो भाग हैं । इसमें 'जू' भाग वाक् है । **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'**[1]–के अनुसार यही वाक् ब्रह्माग्नि है । 'यत्'भाग प्राण है । बस, वाङ्मय यह प्राण ही (ब्रह्माग्निमय प्राण ही) ऋषितत्त्व है । इस ब्रह्माग्नि के अवान्तर सारे विभाग **'ऋषि'** हैं । ब्रह्माग्नि प्राणों का (ऋषि-प्राणों का) उक्थ है । इनकी अनन्तता एवं दुर्विज्ञेयता बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

> **"विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।**
> **ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे"** ।।[2]

उन अनन्त ऋषियों (प्राणों) में से वैज्ञानिकों ने १२ प्राणों को सृष्टि में उपयुक्त समझा है । वे १२ प्राण वेद में इन नामों से प्रसिद्ध हैं—

१–शत० ब्रा० १०।५।१।१ । २–ऋग्वेद मं० १०।६२।५ ।

१–२–**अत्रिमरीची**

१–२–**वसिष्ठागस्त्यौ**

१–२–**क्रतुदक्षौ**

१–२–**भृग्वङ्गिरसौ**

१– **विश्वामित्रः**

१– **मत्स्यः**

१–२–**पुलस्त्यपुलहौ**

इनमें पुलस्त्य-पुलह आसुरी सृष्टि के मूल हैं। शेष १० (दस) ऋषि दिव्यसृष्टि के मूल हैं, अतएव वेद में इन्हीं १० की प्रधानता है। वेदोपबृंहक पुराणशास्त्र इन्हीं १० का निरूपण करता है। ब्रह्माग्निरूप इन्हीं दस ब्रह्माओं के लिए **'दश ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः'**—यह कहा जाता है। इन १० (दश) प्राणों का भी प्रकृत में सम्बन्ध नहीं है। इस प्रपञ्च से तो हमें केवल यही बतलाना है कि ऋषिप्राण स्वयम्भू की वस्तु है। ऋषियों से पितर पैदा होते हैं। पितरों से देवसृष्टि होती है। जिस देवसत्य का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है—वही देवसृष्टि है। जैसे ऋषिप्राण अग्निमय हैं—एवमेव यह देवसृष्टि भी अग्निमय ही है। दोनों ही वेदाग्नि हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्माग्नि का स्वयम्भू के ब्रह्मनिःश्वसित वेद से सम्बन्ध है एवं देवाग्नि का सूर्य्य के गायत्रीमात्रिक वेद से सम्बन्ध है। **'अग्निर्वै ब्रह्म'**[1]—से ब्रह्माग्नि अभिप्रेत है। **'अर्कमभितो विविश्वे'**—के अर्काग्नि से देवाग्नि अभिप्रेत है। जैसे ब्रह्माग्नि के अवान्तर सारे विभाग **'ऋषि'** कहलाते हैं—एवमेव देवाग्नि के सारे विभाग **'देवता'** नाम से प्रसिद्ध हैं। देवाग्निविद्या **'अपराविद्या'** है। यही अपरब्रह्म है। ब्रह्माग्निविद्या **'परविद्या'** है। यही अक्षरसाधक परब्रह्म है। दोनों का समुच्चय ही **'ओंकार'** है। यही सत्यतत्त्व है, अतएव सत्यकामना (परापरब्रह्म की कामना) करने वाले, अतएव **'सत्यकाम'** नाम से प्रसिद्ध शैब्य के लिए पिप्पलाद ने—**'एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार'**—द्वारा इसी सत्य का निरूपण किया है—जैसा कि पाँचवें प्रश्न में स्पष्ट हो जाएगा। स्वयम्भू के मौलिक ऋषिप्राण से क्रमशः देवाग्नि उत्पन्न होती है। देवाग्नि उसी का रूपान्तर है। इस देवाग्नि से अध्यात्मप्रपञ्च का निरूपण होता है। अध्यात्म में आकर वही देवाग्नि सप्तऋषिप्राणरूप से प्रकट होता है। बस, देवभाव से उल्बण होने वाले सात प्रकार के ऋषिप्राण ही मन्त्र के सप्तऋषि हैं। जो आधिदैविक ऋषिप्राण देवताओं के पितामह थे—वे ही अध्यात्म में आकर देवताओं के पुत्र बन जाते हैं। इसी विज्ञान का निरूपण करती हुई ऋग्वेद श्रुति कहती है—

"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः" ॥[2]

१–शत० ब्रा० ८।५।१।१२। २–ऋग्वेद म० १।१।६४।१५।

सातों आध्यात्मिक ऋषिप्राण साथ रहते हैं। साथ रहने वाले इन सातों में सातवाँ अकेला है, ६ जोड़ले हैं। ये आध्यात्मिक ऋषिप्राण देवताओं से उत्पन्न होने के कारण 'देवज' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सातों के विषय अपने-अपने स्थान पर नियत हैं। ये स्वयं अपने स्थान से नहीं हटते एवं सातों को स्वस्थान में ही विभक्त नियत अन्न मिलता है। एक दूसरे के स्थान पर न दूसरे का आक्रमण है, न सातों को मिलने वाला अन्न ही समान है। ये सातों ऋषिप्राण किन नामों से प्रसिद्ध हैं—इसका उत्तर देते हुए—

"अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति" ॥[1]

—इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

शिर (कपाल) एक कटोरा है। इस कटोरे का पैंदा ऊपर है। मध्य का बिलभाग नीचे की ओर है। सम्पूर्ण अध्यात्म का यशोरूप श्रीभाग इसी ज्ञानमय कटोरे में प्रतिष्ठित है। इसके तीर पर (छोर पर) सात ऋषि हैं। वे सातों ऋषि-गोतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सातों का वैज्ञानिकस्वरूप हम ऋषिरहस्य नाम के निबन्ध में लिख चुके हैं, अतः विस्तरभयात् इसके निरूपण के झगड़े में न पड़कर हम केवल यही बतला देना चाहते हैं कि मस्तक में सबसे ऊपर दो श्रोत्र प्राण हैं-ये ही गोतम-भरद्वाज हैं। श्रोत्र से नीचे दो चक्षुप्राण हैं। ये ही विश्वामित्र-जमदग्नि हैं।। दो नासाप्राण हैं-ये ही कश्यप-वसिष्ठ हैं। 'षड्यमाः' के अनुसार ये ६ओं जोड़ले हैं। वाक्रूप अत्रि सातवाँ अकेला प्राण हैं। इस प्रकार शिरोगुहा में सात ऋषिप्राणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन सातों का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण अन्नगर्भित अन्नाद (देवाग्नि) है। अन्नगर्भित (अन्नाहुति से युक्त) अग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य तीन अवस्था हो जाती हैं। इन्हीं तीनों को हमने आधिदैविकमण्डल की अपेक्षा से 'कठ' में वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ कहा है एवं अध्यात्म की अपेक्षा से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ कहा है। अग्नि से अत्रि ऋषि (वाक्) का सम्बन्ध है। वायु से कश्यपवसिष्ठरूप दोनों नासाप्राणों का उद्भव है। आदित्य से विश्वामित्र-जमदग्निरूप दोनों चाक्षुष प्राणों का सम्बन्ध है। विश्वामित्र-प्राण का आदित्येन्द्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव आदित्यरूप इस इन्द्र को वैश्वामित्र कहा जाता है।[2] बाकी बचता है—अग्निमय सोम। 'यौ सह गच्छतः—तदा अत्रैवाख्यायते नाद्यम्'—इस सिद्धान्त के अनुसार यह अग्निमय सोम भी अग्नि ही है। इससे श्रोत्रप्राण का निर्म्माण होता है। ये ही दोनों गोतम, भरद्वाज हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर 'ऋषयो देवजाः (अग्निना उत्पन्नाः')—यह कहा है। इन सातों के मूलरूप अदेवज हैं। परन्तु अध्यात्म में यह अग्न्याधार पर प्रतिष्ठित होते हैं, अतएव इन्हें 'देवजाः' कह दिया जाता है। श्रोत्र, चक्षु, नासा, मुख—ये इन्द्रिएँ उन

२—शत० ब्रा० १४।५।२।४।

१—द्रष्टव्य—ऐ० ब्रा०।१।२।२।६।

सातों प्राणों के आयतनमात्र हैं। ये प्राण नित्य हैं। सारा विश्व इन्हीं से चल रहा है। इसी अभिप्राय से—

'सप्तसु प्राणायतनेषु। सप्त हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति"।[1]

—यह कहा जाता है। **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'** वाली पञ्चावयवता, **'त्रिःसत्या वै देवाः'** –से सम्बन्ध रखने वाला त्रित्ववाद, **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'**–से सम्बन्ध रखने वाला षोडशकलवाद, **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**–से सम्बन्ध रखने वाला चतुष्टयवाद–जैसे असंख्य भावों से सम्बन्ध रखते हैं– एवमेव हमारे इस ऋषिसप्तक का भी अनन्त भावों से सम्बन्ध है।

आधिदैविक, आधिभौतिक प्रपञ्च को थोड़ी देर के लिए जाने दीजिए, केवल आध्यात्मिक प्रपञ्च को ही लीजिए। इन सातों प्राणों का स्थूलरूप से शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा भेद से चार जगह सात-सात रूप से प्रसार है। जैसा कि मुण्डकोपनिषत्में स्पष्ट हो जाएगा। सात धातु हैं। सात में प्रत्येक धातु में सात-सात स्तर हैं। त्वचा में सात रस हैं। रस सप्तविध हैं। हरितवर्ण-युक्त ओज सप्तावयव है। ज्ञान सप्तावयव है। इस प्रकार ज्ञानक्रियार्थमय आध्यात्मिक-प्रपञ्च सात-सात भावों से दशाक्रमवत् व्याप्त है। यह उसी ऋषिप्राण की महिमा है। केवल मस्तक में ही सात हों–यह बात नहीं है। शरीरमात्र में अवान्तरस्वरूप से इस सप्तर्षिप्राण का राज्य है। इसी अभिप्राय से **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'** कहा है। सात समुद्र, सात द्वीप, सात लोक, सातमरुद्गण, आवह-प्रवह संवहभेदभिन्न भूवायु के सात स्तर, भूः-भुवः-स्वः-आदि सात लोक, सप्तपाताल, सप्तसर्ग, सप्तनर्क, सात सौर रश्मि, सात रस, सात उपरस, सात धातु-उपधातु, सातविष, सात उपविष, सप्तभूमिका, सप्त-भंगीनय, सप्ताह, सप्त होता, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तक्रतु–आदि कहाँ तक गिनावें? संसार में जितनी भी सप्तक सृष्टिएँ हैं–सबका प्रभवप्रतिष्ठापरायण–यही तत्त्व है।

इस बाहर के प्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले सप्तवाद का प्रकृत में कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ हमें केवल आध्यात्मिक सप्तवाद पर दृष्टि डालनी है जैसे शिर में सात प्राण हैं, एवमेव सर्वाङ्गशरीर में सात आग्नेयप्राण हैं। ये सातों आग्नेयप्राण गार्हपत्याग्निरूप अपानप्राण, तद्रूप ही समानाग्निप्राण, दक्षिणाग्निरूप व्यानाग्निप्राण, आहवनीयाग्निरूप प्राणाग्नि, एवं उदानाग्निप्राण, सभ्याग्निप्राण, आवसथ्याग्निप्राण–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये सातों आग्नेयप्राण सप्तर्षिप्राण-मूलक हैं। सप्तर्षिमूलक अतएव उन्हीं नामों से प्रसिद्ध ये सातों ऋषिप्राण सदा जागते रहते हैं। **'कान्यस्मिन् जाग्रति'** ? का **'सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम्'**–यही उत्तर है। इन प्राणाग्नियों को जरा भी आलस्य नहीं रहता। जीवनसत्र के सदोमण्डपरूप शरीर में ये सातों सदा जागते रहते हैं। शरीर दुर्ग में अनेक शत्रु (सड़ान आदि दोष) घुसना चाहते हैं, परन्तु ये सातों दुर्गरक्षक सदा अपने पहरे पर

१–शत० ब्रा० १२।२।२।६।

मुस्तैदी के साथ खड़े हुए इस दुर्ग की रक्षा किया करते हैं। जिसके लिए पिप्पलाद—**'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति'**—यह उत्तर देना चाहते हैं—उसी के लिए यहाँ—**'सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्'**—यह कहा है।

(२)—दूसरा प्रश्न था—**'कानि स्वपन्ति'** ? इसका उत्तर है—**'सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः'**—जैसे शरीर-प्रतिष्ठित सप्तप्राण (ऋषिप्राण) सप्ताग्निरूप में परिणत होकर सदा जाग्रत रहकर शरीर-दुर्ग की रक्षा करते हैं—एवमेव वही सातों प्राण शिरोगुहागत प्राणायतनभूत चक्षुरादि में प्रतिष्ठित होकर सुषुप्ति के कारण बनते हैं। इन्द्रियों में वाक् अग्निप्रधान है। नासा वायुप्रधान है। चक्षु आदित्यप्रधान है। अग्नि, वायु, आदित्य की समष्टि का नाम अंगिरा है। इसी को प्रथम प्रश्न में प्राणशब्द से व्यवहृत किया है। श्रोत्र सोममय है। सोम ही भृगु है। इसे ही इस प्रश्न में रयि कहा है। रयिप्राण कहो, भृगु-अङ्गिरा कहो—अग्नीषोम कहो—एक ही बात है। रयिप्राणरूप भृग्वङ्गिरा की समष्टि ही इन्द्रिएँ हैं। हृदय से ब्रह्म-रन्ध्र तक भृगुधरातल है। इस पर आग्नेय इन्द्रिएँ प्रतिष्ठित हैं—जैसा कि पूर्व प्रश्नों में सात (७) प्रकार के त्रैलोक्य के व्यूहन में बतलाया जा चुका है। इस प्रपञ्च से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सातों इन्द्रियप्राण **'भृग्वङ्गिरोमय'** हैं। ऋषिप्राण भृगुगर्भित अंगिरारूप आग्नेयभाग पर ही प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए तो—**'तेऽग्ने परि जज्ञिरे तेऽङ्गिरसः सूनवः'**—यह कहा जाता है। भृग्वङ्गिरोमय इन इन्द्रियप्राणों को हम—

> **"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।**
> **अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः" ॥[1]**

—के अनुसार अवश्य ही **'आप'**: कहने के लिए तय्यार हैं। बस, सुप्रसिद्ध सप्त इन्द्रियप्राण ही मन्त्र के **'सप्तापः'** हैं। प्राज्ञगर्भित प्रज्ञान जब पुरीतति नाड़ी में चला जाता है तो इसका सारा व्यापार तिरोहित हो जाता है—यही सुप्तावस्था है। बस, जब प्राज्ञगर्भित प्रज्ञानपुरुष सो जाता है—विज्ञान द्वारा महदक्षररूप स्व (आत्मा) में अपीत हो जाता है—उस समय ये सातों आपोभाग उसी के साथ उसी लोक में चले जाते हैं—जैसा कि इस 'चतुर्थ प्रश्न' में पूछे गये चौथे प्रश्न में स्पष्ट हो जायगा। कौन सोते हैं ? इसका उत्तर है—**'इन्द्रियाणि'**। **'कानि स्वपन्ति'** ? का पिप्पलाद ने **'यथा गार्ग्य मरीचयः'**—इत्यादि उत्तर दिया है। अर्क ये ही इन्द्रिएँ हैं। ये उस आत्मलोक में चली जाती हैं—तभी सुषुप्ति होती है। जब तक इनका लय नहीं, तब तक सुषुप्ति नहीं।

न इस समय यह देखता, न सुनता, न सूंघता, न बोलता है। वायु से यहाँ गन्धग्रहणरूप घ्राणेन्द्रिय अभिप्रेत है। इस प्रकार सातों आपः सोने वाले प्रज्ञान के लोक में चले जाते हैं। महदक्षर-मय विज्ञान ही प्रज्ञान का लोक है। वही स्वप्नद्रष्टा है। जैसे सात अग्निप्राण सदा जागते रहते हैं, एवमेव उन सातों प्राणों में से दो नासा प्राण भी अस्वप्नज ही हैं।,सदा सत्र में खड़े रहते हैं। सातों

१—गोपथ ब्रा० पूर्व १।३९।

इन्द्रियों में जो वायु था, वह गन्धग्रहणरूप घ्राणेन्द्रिय था। यह तो सो ही जाता है, परन्तु उसी स्थान पर श्वासप्रश्वासरूप दो प्राण और रहते हैं। ये भी सातों प्राणाग्नियों की तरह नहीं सोते। इस प्रकार जागना-सोना-सारी विभूति उपाधिभेदभिन्न उसी सप्तर्षिप्राण की है। आगे का 'चतुर्थ प्रश्न' इस मन्त्र का उपबृंहणमात्र है।

४–भूतप्राणो

कौसल्य आश्वलायन ने जो ६ प्रश्न किये थे, महर्षि पिप्पलाद ने उनका बडे विशदरूप से समाधान कर दिया। आश्वलायन पूर्ण सन्तुष्ट हो गए। अनन्तर सौर्य्यायणि गार्ग्य सामने आए और इन्होंने विनीत भाव से पूछा कि भगवन् !

१–"एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति" ?

(इस पुरुष में कौन सोते हैं ?)

२–"कान्यस्मिन् जाग्रति" ?

(इसमें कौन जागते है ?)

३–"कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति" ?

[(आध्यात्मिक देवताओं में से) कौन देवता स्वप्न देखता है ?]

४–"कस्यैतत् सुखं भवति" ?

[(सुषुप्ति) सुख किसे होता हैं ?]

५–"कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति" ?

[ये (सोने, जागने, स्वप्न देखने वाले) सब किसमें प्रतिष्ठित हैं ?]

सचमुच गार्ग्य के पाँचों ही प्रश्न बडे मार्मिक हैं। इन पाँचों प्रश्नों का प्रकारान्तर से 'कठोपनिषत्' में निरूपण आ चुका है, अतएव यहाँ पर इनके विषय में हम अधिक कुछ नहीं कहेंगे। केवल पूर्वस्वरूप का स्मरणमात्र कराना ही प्रकृत में पर्य्याप्त होगा ।।१।।

(१) प्रथम प्रश्न है—

"एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति" ?

अव्यक्तात्मा और महानात्मा दोनों की समष्टि 'महदक्षर' है। इस महदक्षररूप महानात्मा के पेट में विज्ञानात्मा है। महदक्षररूप चित् के प्रकाश से विज्ञानसूर्य्य प्रकाशित हो रहा है। विज्ञान के नीचे प्रज्ञानात्मा है। चान्द्रभाग ही प्रज्ञानात्मा है–यही सर्वेन्द्रिय मन है। इस पर विज्ञानप्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। सोममय मन सर्वथा जड़ है। वह इस विज्ञानप्रकाश से ही प्रज्ञामय (ज्ञानमय) बन रहा है। इस प्रज्ञानमन में प्रज्ञा और प्राण दो भाग हैं। प्रज्ञा ज्ञानशक्ति है, प्राण क्रियाशक्ति है। दोनों का उक्थ उभयात्मक प्रज्ञानात्मा है। इस प्रज्ञानरूप चन्द्रमा के एवं चित्यपृथिवीरूप शरीर के मध्य में देवसत्यरूप वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञात्मक भोक्तात्मा है। इस भोक्तात्मा का जो 'प्राज्ञ' भाग है, वह और ब्रह्मसत्यांशभूत प्रज्ञाप्राणात्मक प्रज्ञानात्मा दोनों सजातीयभाव के कारण परस्पर में मिले रहते हैं, अतएव प्राज्ञ और प्रज्ञान दोनों एक वस्तु मान ली जाती हैं। वस्तुतः प्रज्ञानमन विभिन्न है–प्राज्ञ दूसरी वस्तु है। विज्ञान द्वारा प्रज्ञान पर जो चेतना आती है–प्रज्ञान द्वारा प्राज्ञभाग पर भी आती है–इसी का नाम चिदाभास है। यह है चिदाभास का क्रमिक अवतार। इसमें जो प्रज्ञानात्मा है–उसी की ओर हम आपका विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करते हैं–क्यों कि सुषुप्ति का इसी से सम्बन्ध है। महान्, विज्ञान, प्रज्ञान भेद से एक ही ज्ञानरूप चिदात्मा के तीन खण्ड हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में अध्यात्म में तीन प्रकार के ज्ञान हो जाते हैं। तीनों ज्ञान आयतनभेद से सर्वथा विभिन्नधर्म्मा बने हुए हैं। हम रास्ते में जा रहे हैं। इस गति में हम तीन व्यापार कर रहे हैं। चलना पहला व्यापार है। मार्ग में आने वाले आपणस्थ पदार्थों को, मनुष्यों को, प्रासादों को और दृश्यों को देखते हुए जाना दूसरा व्यापार है एवं भीतर ही भीतर नई बातें सोचते जाना, नई-नई कल्पना करते जाना तीसरा व्यापार है। तीनों व्यापार सर्वथा भिन्न हैं। तीनों एक साथ हो रहे हैं। चल रहे हैं–देख सुन रहे हैं–सोच रहे हैं। व्यापार क्रिया है। क्रिया विना ज्ञान के असम्भव है। ज्ञान ही क्रिया का आधार है। साथ ही में एक ज्ञान एक समय में एक ही व्यापार करने में समर्थ होता है। हम यहाँ तीन पृथक् व्यापार देख रहे हैं। यह पृथक्त्व एक ज्ञान से असम्भव है, अतएव मानना पड़ता है कि हमारे शरीर में इन तीन व्यापारों का संचालन करने वाले अवश्य ही तीन ज्ञान हैं। बस, वही हमारे तीनों ज्ञान क्रमशः महान्ज्ञान, विज्ञानज्ञान, प्रज्ञानज्ञान नाम से प्रसिद्ध हैं। महान्-ज्ञान ही प्राकृतिकज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान बुद्धि है। प्रज्ञान मन है। पैर चलना महान्ज्ञान का काम है। विचार करना विज्ञान का काम है। दृश्य देखना मन का धर्म्म है। इस प्रकार हम तीनों ज्ञानों का बिलकुल पार्थक्य देख लेते हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रज्ञानज्ञान बाहर के विषयों की अपेक्षा रखता हुआ इन्द्रियों के अधीन रहता है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के द्वारा विषय प्रज्ञान पर आते हैं एवं बुद्धि विषय पर जाया करती है। इन तीनों ज्ञानों में से प्रज्ञानज्ञान ही सुषुप्ति का अधिष्ठाता है। इन्द्रियों के द्वारा प्रज्ञान विषयज्ञान में समर्थ होता है, अतएव सबसे पहले इन्द्रियों का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा।

इन्द्रप्राण की वृत्ति का नाम ही इन्द्रिय है। प्रज्ञानात्मा प्रज्ञाप्राणमय है। इसमें प्रज्ञाभाग सोम है। प्राणभाग इन्द्र है। दोनों अविनाभूत हैं। यह प्रज्ञात्मक प्राण 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' के अनुसार साक्षात् इन्द्र है–यही उक्थ है। तीसरे प्रश्न में यह विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है कि उक्थ विना अर्क के नहीं रहता। अर्क विना अशिति के नहीं रहता। उक्थ आत्मा है, अर्क प्राण है, अशिति पशु है।

तीनों की समष्टि पशु है। हमारा इन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा उक्थ है–बिम्ब है। इसमें से रश्मिएँ निकलती हैं। बस, उक्थ-प्रज्ञान से निकलने वाली रश्मिएँ ही इन्द्रालम्बनता के कारण इन्द्रिएँ कहलाती हैं। इन इन्द्रियों में विषय बद्ध रहता है। इन्द्रियरूप अर्क द्वारा उक्थरूप प्रज्ञानात्मा विषयरूप अशिति को खाया करता है। विषय अशिति है–इन्द्रिएँ अर्क हैं एवं प्रज्ञानमन उक्थ है। तीनों की समष्टि प्रज्ञापति है। प्रज्ञानमन से निकलने वाली इन्द्रियरूप रश्मियों के स्वरूप में दार्शनिकों में बडा मतभेद है। उस मतवाद की प्रकृत में हमें समालोचना नहीं करनी। यहाँ हमें केवल वैदिक सिद्धान्तमात्र का प्रतिपादन करना है।

हमारे दार्शनिकों ने-पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश–ये पाँच तत्त्व माने हैं। 'तत्त्व' शब्द के लिए पाश्चात्यभाषा में 'एलीमेन्टस्' प्रयोग आया करता है। 'तत्त्व' वह पदार्थ है–जिसमें किसी दूसरे पदार्थ का संसर्ग न हो। विशुद्ध मौलिकभाव ही तत्त्व है। यही 'फिजिक्स' है। विजातीय अवान्तर मौलिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से यौगिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यही 'केमेस्ट्री' है। बस, संसार में मौलिक-यौगिक भेद से दो ही प्रकार के पदार्थ हैं। मौलिक पदार्थ तत्त्व हैं। यौगिक पदार्थ तत्त्वसमष्टि हैं। हमारे ऋषियों ने पृथिवी-जल आदि पाँचों को तत्त्व माना है। इस तत्त्व-रहस्य को न समझकर कितने ही ना समझ अपनी ना समझी से ऋषियों पर आक्षेप करते हैं कि–'जब कि हम पाँचों को एनेलाइज (विशकलन) करते हैं तो पाँचों को यौगिक पाते हैं। प्रत्येक में अनेक पदार्थों का संमिश्रण है। पृथिवी के एक ढेले का विशकलन करने पर हम उसमें जल, अग्नि आदि अनेक वस्तुएँ प्राप्त करते हैं-यही अवस्था जल-तेज आदि की है। ऐसी अवस्था में भारतीय दार्शनिकों का पृथिवी-जलादि पाँचों यौगिकों को तत्त्व (मौलिक पदार्थ) मानना नितान्त अशुद्ध हैं। 'भारतीयों की फिलोसफी भले ही किसी अंश में बढी-चढी हो, परन्तु साइन्स से तो वे कोसों दूर हैं'। पाश्चात्यविद्वान् '६५' तत्त्व मानते हैं। भारतीय पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पाँच तत्त्व मानते हैं एवं यूनानदेशवासी यवन पृथिवी, जल, तेज, वायु–ये चार ही तत्त्व मानते हैं। इस पर पाश्चात्यों का पूर्वकथनानुसार कहना है कि पाँच तत्त्व नहीं माने जा सकते। सुवर्ण, रजत, पारदादि पदार्थों की समष्टिमात्र पृथिवी है। इसलिए पृथिवी तत्त्व नहीं हो सकती। हाइड्रोजन-ऑक्सिजन के संयोग से उत्पन्न पानी भी तत्त्व नहीं माना जा सकता। एवमेव ऑक्सिजन नाइट्रोजन दोनों की नियतमात्रा का संश्लेष ही वायु है, अतएव यह भी योगज ही है। अग्नि तो पदार्थ भी नहीं है। यदि 'तप' को अग्नि माना जाता है–तब तो वह पदार्थों की अवस्थामात्र है। स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। यदि अग्नि एक स्वतन्त्र पदार्थ मान भी लिया जाता है, तब भी उसकी तात्त्विकता तो कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसा तापधर्म्मा अग्नि–भूवायुस्थ ऑक्सिजन, और अङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध कार्बन के योग से उत्पन्न होने वाला यौगिक तत्त्व ही होगा। अब चलिए–आकाश की ओर। आकाश भी कोई पदार्थ नहीं है। पृथिवीजलादि पदार्थ जिस खाली स्थान में प्रतिष्ठित हैं–उस शून्यप्रदेश का नाम ही आकाश है। आकाश में जो नीलिमा दीखती है–वह भी घनीभूत वायु की नीलिमा है। बस, इन्हीं सब कारणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीयों का यह पञ्चतत्त्ववाद सर्वथा अवैज्ञानिक अतएव केवल काल्पनिक है, अतएव सर्वथा उपेक्षणीय ही है।

हम कह चुके है कि इस सारी भ्रान्ति का एकमात्र कारण अज्ञान है। अभी इनका विज्ञान अधूरा है। शताब्दियों तक शिष्य बने रहने के बाद भी वे जगद्गुरु भारतवर्ष के गुरुत्व को पहचान सकेंगे कि

नहीं–इसमें सन्देह है । अस्तु, भारतीयों के वे पांच तत्त्व कौन से हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हम आपके सामने–गुण, अणु, रेणु, महा, सत्त्व–इन पांच विभागों को सामने रखेंगे । गुणभूत, अणुभूत, महाभूत, रेणुभूत, सत्त्वभूत–भेद से भूतप्रपञ्च पञ्चधा विभक्त है । इन पांचभूतों के रहस्य को न जानने के कारण ही ऐसी भ्रान्ति हुई है । पहला विभाग गुणभूत का है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द–ये पांच तन्मात्राएँ ही गुणभूत हैं । ये पांचों ही तन्मात्राएँ सर्वथा मौलिक हैं । सर्वथा अमूर्त हैं । सांख्यदर्शन के ये ही पांच तत्त्व हैं । प्राजापत्य प्राण के समन्वय से ये ही पांचों गुणभूत अणुभूत में परिणत हो जाते हैं । गुणभूतों के सजातीय सम्बन्ध से ही अणुभूत उत्पन्न होता है । बडा चमत्कार है । जैसे प्रजापति से ही उत्पन्न विश्व के आधार पर प्रजापति रहता है–एवमेव गुणभूत से उत्पन्न अणुभूत ही गुणभूत का आलम्बन है । अणुभूत उक्थरूप है, अर्थात् केन्द्र में रहता है एवं गुणभूत अर्क है । चारों ओर व्याप्त रहता है । दोनों अविनाभूत हैं । इन्हीं अणुओं का नाम परमाणु है । जैसे सांख्यदर्शन गुणभूत को प्रधानता देता है–एवमेव वैशेषिकदर्शन अणुवाद को अपना लक्ष्य बनाता है । ऐसे-ऐसे विजातीय ३०–३० परमाणुओं के मेल से रेणुभूत का प्रादुर्भाव होता है । प्रत्येक रेणु में ३०–३० परमाणु हैं । अधिक भी परमाणु हो सकते हैं । परन्तु प्रत्येक रेणु में कम से कम ३०–३० परमाणु तो अवश्यमेव रहते हैं । इन रेणुभूतों का हम प्रत्यक्ष कर लेते हैं । जालान्तर्गत भानुरश्मि में रेणुभूत का प्रत्यक्ष हो जाता है–बस, यहाँ तक तात्त्विक सृष्टि है । गुणभूत रूपादि नाम से प्रसिद्ध हैं एवं अणु और रेणुभूत पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश नाम से प्रसिद्ध हैं । गुणभूत अणुभूत में परिणत होते हैं । अणुभूत रेणुभूत में परिणत होते हैं । ये तीनों ही भूत हैं । ये एकद्रव्यरूप हैं, अतएव हम इन तीनों को 'तत्त्व' मानने के लिए तय्यार हैं । आगे जाकर रेणुभूत के पञ्चीकरण से महाभूत उत्पन्न होते हैं । ये महाभूत यौगिक हैं । भारतीय दार्शनिक स्वयं इनको पञ्चीकृत मानते हुए यौगिक मान रहे हैं । इन महाभूतों से सत्त्वभूत उत्पन्न होते हैं । अचेतन, अर्द्धचेतन, चेतन भेदभिन्न त्रिविध सत्त्वसृष्टि इन्हीं पञ्चमहाभूतों से होती है । तात्त्विक, लोक, जीवभेद से तीन प्रकार की सृष्टिएँ हैं । इनमें गुण, अणु, रेणु–ये तीन तात्त्विक सृष्टि हैं । पञ्चमहाभूत लोकसृष्टि है एवं सत्त्वसर्ग जीवसृष्टि है—

१–गुणभूत=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ।

२–अणुभूत=पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ।

३–रेणुभूत=पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ।

४–महाभूत=पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ।

५–सत्त्वभूत=धातु, वृक्षादि, अस्मदादि ।

गन्धतन्मात्रा से पृथिवी अणुभूत उत्पन्न होता है । रसतन्मात्रा से जल अणु उत्पन्न होता है । रूपतन्मात्रा से तेज अणु उत्पन्न होता है । स्पर्शतन्मात्रा से वायु अणु उत्पन्न होता है एवं शब्दतन्मात्रा से आकाशाणु उत्पन्न होता है । यही आगे के भूतों में समझना चाहिए । अणुभूत, रेणुभूत भी पृथिवी आदि नाम से ही प्रसिद्ध हैं । इसी भ्रम में पड़कर काल्पनिक अपने उद्गार निकालने का साहस कर

बैठते हैं। अस्तु, इस अप्राकृत विषय को हम यहाँ अधिक नहीं बढाना चाहते। यहाँ हमें केवल पाँच प्रकार के भूतों में से गुणभूतों की ओर आपका लक्ष्य दिलवाना है। इन गुणभूतों का नाम ही 'भूतमात्रा' है। इन्हीं को अर्थमात्रा भी कहा जाता है। इन अर्थमात्राओं की कृपा से ही–हमारे उस प्रज्ञाप्राणमय प्रज्ञा और प्राण के १०–१० टुकड़े हो जाते हैं। ये ही तीनों विभाग प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूतमात्रा इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों मात्राओं का आलम्बन वही प्रज्ञानात्मा है। कौषीतकि उपनिषद् की परिमरविद्या में इन ३० मात्राओं का विस्तार से निरूपण किया है। यहाँ हम उनके नाममात्र बतला देना ही पर्य्याप्त समझते हैं—

१–वाक्, २–प्राण (घ्राण), ३–चक्षु, ४–श्रोत्र, ५–जिह्वा, ६–हस्त, ७–शरीर, ८–उपस्थ, ९–पाद, १०–प्रज्ञा–ये १० (दस) इन्द्रिएँ हैं। शरीर से त्वगिन्द्रिय अभिप्रेत है। प्रज्ञा से इन्द्रियमन अभिप्रेत है। इन्हीं दस इन्द्रियों के सांख्यशास्त्र में १–वाक्, २–पाणि, ३–पाद, ४–पायु, ५–उपस्थ, ६–श्रोत्र, ७–त्वक्, ८–चक्षु, ९–जिह्वा, १०–घ्राण–ये नाम हैं। इस सांख्यविभाग में मन को अलग छोड दिया है एवं उसके स्थान में पायु मान लिया है। इधर उपनिषत् ने पायु का पादरूप पार्थिवभाग में अन्तर्भाव मानकर प्रज्ञा को १० वीं इन्द्रिय मान ली है—

वैदिक दस इन्द्रिएँ—		सांख्य की ११ इन्द्रिएँ—	
१–वाक्	'कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि'	१–वाक्	→कर्म्मेन्द्रिएँ
२–प्राण		२–पाणि	
३–चक्षु		३–पाद	
४–श्रोत्र		४–पायु	
५–जिह्वा		५–उपस्थ	
६–हस्त	'मनोनेत्रादि–धीन्द्रियम्'	६–श्रोत्र	→ज्ञानेन्द्रिएँ
७–शरीर (त्वक्)		७–त्वक्	
८–उपस्थ		८–चक्षु	
९–पाद		९–जिह्वा	
१०–प्रज्ञा (मन)		१०–घ्राण (प्राण)	
		११–मन	→उभयात्मकं मनः

अन्य उपनिषदों ने वाक्प्राणादि इन्द्रियों का वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन-इन पाँच इन्द्रियों में ही अन्तर्भाव माना है। इसका रहस्य यही है कि वाक् इन्द्रिय के रस, शब्द दो भेद हो जाते हैं। वागिन्द्रिय में आदान-विसर्ग दोनों हैं। विसर्गकाल में वह शब्दात्मिका है एवं आदानकाल में वही रसात्मिका है। रसभाग, शब्दभाग दोनों जिह्वारूप वागिन्द्रिय से युक्त हैं। इस प्रकार रसनारूप जिह्वा का वागिन्द्रिय में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार प्राणेन्द्रिय में भी आदान-विसर्ग दोनों हैं। आदानभाग से श्वास का और गन्ध का ग्रहण है। विसर्ग का प्रश्वास से सम्बन्ध है। दोनों का प्राणेन्द्रिय में अन्तर्भाव है एवं पायु, उपस्थ, पाद, पाणि, त्वक्-इन पाँचों का शरीररूप त्वगिन्द्रिय से ग्रहण है। त्वगिन्द्रिय स्पर्श का अधिष्ठाता है। स्पर्श का अनुभव होना प्रज्ञान है। प्रज्ञान मन है, अतएव अन्ततोगत्वा क्रियाप्रधान पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, त्वक्-सबका मन में अन्तर्भाव हो जाता है। मन से वाक् का प्रादुर्भाव है। वाक् से प्राण का प्रादुर्भाव है। प्राण से चक्षु का प्रादुर्भाव है। चक्षु से श्रोत्र का प्रादुर्भाव है। श्रोत्र से कर्म्म का (कर्म्मेन्द्रियों का) प्रादुर्भाव है।[1] इस प्रकार १० में से वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, प्रज्ञा-पाँच रह जाती हैं। शेष का मन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। दसों में से पाँच में ज्ञानप्रधान है-क्रिया गौण है। इन्हीं ज्ञानप्रधान इन्द्रियों को सांख्य ने ज्ञानेन्द्रिय कहा है एवं पायूपस्थादि पाँच इन्द्रियों में क्रिया की प्रधानता है, ज्ञान गौण है। ये ही सांख्य की कर्म्मेन्द्रिएँ हैं। यही विभाग हमारी वैदिक १० इन्द्रियों में समझना चाहिए—

उन १० इन्द्रियों के साथ १० ही विषय बद्ध रहते हैं। मन प्रज्ञाप्राणमय है, अतएव मानना पड़ेगा कि इसकी रश्मिरूप १० इन्द्रिएँ भी उभयात्मक ही हैं। सुतरां १० प्रज्ञाभाग हो जाते हैं, १० प्राणभाग हो जाते हैं। १० इन्द्रियों में पृथक्-पृथक् प्रज्ञा है, पृथक्-पृथक् प्राण है। पृथक्-पृथक् भूतमात्रा है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के साथ-प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूतमात्रा-इन तीन-तीन मात्राओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। ऐसी कोई भी इन्द्रिय नहीं-जिसमें व्यापार न हो। यह व्यापारभाग ही प्राणमात्रा है। प्राण-व्यापार बिना प्रज्ञाज्ञान के अनुपपन्न है-चाहे हम इसे समझें या न समझें। श्रोत्रादि में तो ज्ञानमात्रा का प्रत्यक्ष ही दर्शन है। इसी प्रकार हस्तादि के व्यापार में भी ज्ञान समझना चाहिए। क्योंकि बिना इच्छा के हाथ-पैर हिलते चलते नहीं हैं। इच्छा 'ज्ञानजन्या' है। सुतरां क्रियाप्रधान कर्म्मेन्द्रियों में भी प्रज्ञाभाग की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन १० प्राण प्रज्ञामात्राओं की १० भूतमात्राएँ उपनिषदों में क्रमशः १-नाम, २-गन्ध, ३-रूप, ४-शब्द, ५-अन्नरस, ६-कर्म्म, ७-सुख-दुःख, ८-आनन्द, रति-प्रजाति, ९-इत्या (गमन), १०-विषयज्ञान-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। सच पूछा जाए तो इन १० अर्थमात्राओं के कारण-प्रज्ञाप्राणात्मक प्रज्ञानात्मा के-प्रज्ञा और प्राण के १०-१० टुकड़े हो जाते हैं। इन तीसों की समष्टि का उक्थ यही प्रज्ञानात्मा है-ये इन्द्रिएँ इसी की रश्मिएँ हैं। इन्हीं रश्मियों से यह विषयज्ञान करने में समर्थ होता है-सारी इन्द्रियों के जितने धर्म्म हैं-वे सब परमार्थतः इस मन के ही धर्म्म हैं। इसी विज्ञान के आधार पर-'सर्वं मन एव'-'प्रज्ञानेत्रो लोकः'-'प्रज्ञा प्रतिष्ठा०'-इत्यादि कहा जाता है—

१-शत० ब्रा० १०।५।३।७-८।

प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रायुक्त १० इन्द्रिएँ—	अर्थमात्रा	—	भूतमात्रा
१–वाक् (प्राणप्रधान अतएव कर्म्मेन्द्रिय)	नाम	—	व्यवहार
२–घ्राण (ज्ञानप्रधान अतएव ज्ञानेन्द्रिय)	गन्ध	—	ज्ञान
३–चक्षु (ज्ञानप्रधान अतएव ज्ञानेन्द्रिय)	रूप	—	ज्ञान
४–श्रोत्र (ज्ञानप्रधान अतएव ज्ञानेन्द्रिय)	शब्द	—	ज्ञान
५–जिह्वा (ज्ञानप्रधान अतएव ज्ञानेन्द्रिय)	अन्नरस	—	ज्ञान
६–हस्त (प्राणप्रधान अतएव कर्म्मेन्द्रिय)	कर्म्म	—	व्यापार
७–शरीर (त्वक्) (ज्ञानप्रधान अतएव ज्ञानेन्द्रिय)	सुख-दुःखानुभव	—	ज्ञान
८–उपस्थ (प्राणप्रधान अतएव कर्म्मेन्द्रिय)	आनन्दादि	—	प्राणव्यापार
९–पाद (प्राणप्रधान अतएव कर्म्मेन्द्रिय)	गमन	—	प्राणव्यापार
१०–प्रज्ञानमन (उभयप्रधान)	विषयज्ञान	—	प्राणव्यापार

हमने बतला दिया है कि प्रज्ञान उक्थ है एवं दसों इन्द्रिएँ अर्क हैं। सब प्रज्ञाप्राणात्मक प्रज्ञानात्मा की रश्मिएँ हैं। सबका आधार प्राणात्मक इन्द्र ही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि हम जब किसी एक इन्द्रिय से अवधानपूर्वक काम लेते रहते हैं तो उस समय इतर विषय की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। समीपस्थ मनुष्य पूछता है कि कहो जी ! तुमने भी वह आवाज सुनी या नहीं। हमारे मुंह से निकल पड़ता है कि नहीं, क्षमा कीजिए। मेरा मन दूसरी ओर लग रहा था। इससे सिद्ध है कि विना प्रज्ञानमन के कोई भी इन्द्रिय-व्यापार संभव नहीं है। 'केनोपनिषत्' में विस्तार के साथ इसका निरूपण किया जा चुका है। यहाँ पर केवल तत्सम्बन्धी प्रमाण बतलाकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्रमय प्रज्ञानात्मा की रश्मिएँ ही इन्द्रिएँ हैं। इसी रश्मिभाव को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

"वागेवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्यै नाम परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा –इत्यादि"।[1]

"प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति०–इत्यादि"।[2]

"न हि प्रज्ञापेता वाङ्नाम किंचन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषमिति–इत्यादि"।[3]

१–कौषी० उप० ३।५। २–कौषी० उप० ३।६। ३–कौषी० उप० ३।७।

इस प्रकार अर्थमात्रा के भेद से १० ही प्रज्ञामात्राएँ हो जाती हैं एवं १० ही भूतमात्राएँ हो जाती हैं। दोनों अविनाभूत हैं। प्रज्ञा-प्राण-भूत तीनों मात्राओं के समन्वय से विषयज्ञान होता है। प्रज्ञा-प्राणमात्राएँ उस उक्थरूप प्रज्ञानात्मा से पृथक् वस्तु उसी प्रकार नहीं है-जैसे कि रश्मिएँ सूर्य्य से विभिन्न पदार्थ नहीं हैं। इसी अभिप्राय से-**'इन्द्रियं प्रज्ञामन्तरेणानुपलभ्यमानं प्रज्ञात्मकम्'**-यह कहा जाता है। रथचक्र में अर्पित अरे और नेमिवत् तीनों अविनाभूत हैं। रथचक्र में एक तो वर्तुलवृत्ताकार मध्य में चक्र है। इसमें से चारों ओर काष्ठखण्ड बाहर निकल रहे हैं। उन चारों ओर व्याप्त खण्डों को पकड़े हुए गोलचक्र है। यह बाहर का गोलचक्र 'नेमि' है। भीतर के खण्ड 'अरे' हैं। जिसमें अरे हैं-वह नाभि है। तीनों अविनाभूत हैं। एक के विना दूसरा निरर्थक है। बस, यही स्थिति यहाँ समझनी चाहिए। नाभिस्थानीय प्रज्ञाप्राणात्मक उक्थरूप प्रज्ञानात्मा है। यह मध्य में प्रतिष्ठित है एवं अरास्थानीय प्रज्ञाप्राणमात्रारूप दस इन्द्रिएँ हैं एवं नेमिस्थानीय दस भूतमात्राएँ हैं। नेमिरूप भूतमात्रा प्रज्ञामात्रारूप इन्द्रियों में अर्पित हैं एवं इन्द्रियरूप प्रज्ञामात्राएँ नाभिरूप प्राणात्मक प्रज्ञानात्मा में अर्पित हैं। प्रज्ञानात्मा उक्थ है। प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा अर्क हैं एवं भूतमात्रा अशिति है। उक्थ आत्मा है, अर्क प्राण है, अशिति पशु है। तीनों की समष्टि ही प्रजापति है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है-**'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं, दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्-इत्यादि'**।[1]

बस, भूत-प्राण-प्रज्ञायुक्त इन्द्रियवर्गसहित प्रज्ञानात्मा उसी विज्ञान के आधार से चमक रहा है। विज्ञान महदक्षर से चमक रहा है। प्रज्ञान को सूर्य्य समझिए। प्रज्ञाप्राणभूतमात्राओं को रश्मिएँ समझिए। जब तक सूर्य्य है, तब तक रश्मिएँ हैं। अस्त होता हुआ सूर्य्य सारी रश्मियों को जैसे अपने में समेट लेता है-इसी प्रकार विज्ञान द्वारा महदक्षर में लीन होता हुआ प्रज्ञान सारी इन्द्रियों को अपने में लीन कर लेता है। प्रज्ञान की इसी अवस्था का नाम सुषुप्ति है। विज्ञान द्वारा महान् में लय होने पर ही सुषुप्ति होती है। कारण इसका यही है कि जब तक विज्ञान जाग्रत् है-तब तक सुषुप्ति नहीं होती। इस समय स्वप्नावस्था होती है-जैसा कि अनुपद में ही बतलाने वाले हैं। महान्, विज्ञान, प्रज्ञान-तीनों की जाग्रदवस्था हमारी जाग्रदवस्था है। प्रज्ञान की सुषुप्ति तथा महान्-विज्ञान की जाग्रदवस्था हमारी स्वप्नावस्था है एवं महान् की जागृति तथा विज्ञान-प्रज्ञान दोनों की सुषुप्ति हमारी सुषुप्त्यवस्था है एवं तीनों की सुषुप्ति मृत्यु-अवस्था है। **महदक्षर** 'स्व' का रूप है-आत्मस्वरूप है। जब तक इसमें प्रज्ञान का अप्यय नहीं, तब तक-**'स्वे-अपिति'** नहीं। जब तक **'स्वे-अपिति'** नहीं, तब तक हमारे साथ-**'स्वपिति'** शब्द लागू नहीं—

१-महान्, विज्ञान, प्रज्ञान की जाग्रदवस्था — जाग्रदवस्था।

२-महान्, विज्ञान की जाग्रदवस्था, प्रज्ञान की सुषुप्ति— स्वप्नावस्था।

३-महान् की जाग्रदवस्था, विज्ञान-प्रज्ञान की सुषुप्ति— सुषुप्त्यवस्था।

४-तीनों की सुषुप्त्यवस्था — मृत्यु।

१-कौषी० उप० ३।८।

सुषुप्ति में होता क्या है ? इसका उत्तर देते हुए कौषीतकि कहते हैं—

जिस समय सुप्तआत्मा स्व-स्वप्नजगत् से दूर जाता हुआ स्व-स्वरूप महदक्षर में अपीत हो जाता है, उस समय सारे नामों को साथ लिए वाक् इसमें डूबी रहती है। इसी प्रकार रूप, शब्द, ध्यान आदि को लिए हुए चक्षु, श्रोत्र, मन (इन्द्रियमन) आदि उसी प्रज्ञान में डूबे रहते हैं। प्रज्ञान इन सबको साथ लिए महान् में डूबा रहता है। अनन्तर जब यह जाग्रदवस्था में आता है-तो जैसे प्रज्वलित अग्नि में से चारों ओर अग्निविस्फुलिङ्ग निकलने लगते हैं उसी प्रकार जाग्रत् प्रज्ञान में से चारों ओर विस्फुलिङ्गरूप इन्द्रिएँ उद्‌बुद्ध हो पड़ती हैं। प्रज्ञान में प्रज्ञामय प्राण इन्द्र है एवं विज्ञान द्वारा आगत चित् अमृत हैं। इस चिदाभासरूप अमृततत्त्व को लक्ष्य में रखकर ही प्रज्ञानात्मा के लिए—

"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो, नाभौ-अरा अर्पिता, एवमेवैता भूतमात्रा प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः। स एष प्राण (इन्द्र) एव प्रज्ञात्मा आनन्दः, अजरः, अमृतः-इत्यादि" ॥[1]

-यह कहा जाता है। यह अमृतमय प्रज्ञानात्मरूप प्राणेन्द्र जब तक इस चिदंश को नहीं पहचानता-अमृतानन्द को प्राप्त नहीं करता-तब तक ही यह इस पर इन्द्रियों द्वारा होने वाले भावनावासना-संस्काररूप आवरणधर्म्मा तमोमय आसुरभाव से आक्रान्त होकर दुःख पाया करता है। जिस दिन यह अपने आधाररूप चित्-तत्त्व का स्वरूप पहचाना जाता है-उस दिन—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्"।[2]

-के अनुसार सारे दुःखों से विनिर्मुक्त होता हुआ स्वाराज्य-पद को प्राप्त हो जाता है।

यह है-सुषुप्ति के अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा का संक्षिप्त स्वरूप। इसे सामने रखते हुए पिप्पलाद ऋषि के निम्नलिखित अक्षरों पर दृष्टि डालिए—

इस अध्यात्मजगत् में कौन देवता सोते हैं ?-इसका उत्तर देते हुए पिप्पलाद गार्ग्य से कहने लगे कि हे गार्ग्य! जिस प्रकार रश्मिएँ अस्त होते हुए सूर्य्य के तेजोमण्डल में एकीभाव को प्राप्त होती हुई विलीन हो जाती हैं एवं प्रातःकाल सूर्य्योदय होते ही वे रश्मिएँ पुनः निकलकर चारों ओर व्याप्त हो जाती हैं-इसी प्रकार यह सारा प्रपञ्च (इन्द्रियग्राम) इस अपने परदेवरूप सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध प्रज्ञानमन में विलीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में-यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्शानुभव करता है, न बोलता है, न हस्तादि से किसी वस्तु के ग्रहण

१-कौषी० उप० ३।८। २-बृहदा० उप० ४।४।१२।

में समर्थ होता है, न वीर्य्यादि का परित्याग करता है, न चलता है-इस अवस्था में वह 'स्वपिति' नाम से पुकारा जाता है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति ।। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते" ।।२।।

१–न शृणोति	–श्रोत्र	६–नाभिवदते	–वाक्
२–न पश्यति	–चक्षु	७–नादत्ते	–पाणि
३–न जिघ्रति	–प्राण (घ्राण)	८–न विसृजते	–उपस्थ
४–न रसयते	–जिह्वा	९–नेयायते	–पाद
५–न स्पृशते	–त्वक्	१०–मनः	

श्रोत्र दिक्सोम है। चक्षु आदित्य है। घ्राण वायु है। वाक् अग्नि है। मन भास्वरसोम है। दसों इन्द्रियों का इन पाँच देवताओं में अन्तर्भाव है। शरीर में ये पाँच देवता सो जाते हैं। बस, **'एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति'** ? इस प्रथम प्रश्न का यही समाधान है। ऐसा होता क्यों है ? क्यों इन्द्रिएँ परदेवता में जाकर सुषुप्ति का कारण बनती हैं ? एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है। इस प्रश्न का उत्तर तीसरे प्रश्न के समाधान करते समय दिया जायगा।

।। १ ।।

(२)–दूसरा प्रश्न है—

"कान्यस्मिन् जाग्रति" ?

यज्ञेश्वर मधुसूदन कहते हैं—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्" ।।[1]

१–गीता ३।१०।

प्रजापति ने यज्ञ द्वारा ही प्रजा उत्पन्न की है। दूसरे शब्दों में यज्ञात्मक यज्ञप्रजापति ही सृष्टि का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है। कैसे है? इसके लिए दो-चार पङ्क्तियों में प्राकृतयज्ञ का स्वरूप समझ लेना आवश्यक होगा। **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'**–के अनुसार प्राकृतिक यज्ञ अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अयन, सोम भेद से पाँच यज्ञों में विभक्त है। पाँचों ही यज्ञ पार्थिव हैं। अहः अग्नि में रात्रि के सोम की आहुति पड़ती रहती है। यही अहोरात्रात्मक प्राजापत्य अग्निहोत्र है। पक्षाग्नि में चान्द्रसोम की आहुति पड़ती रहती है–यही पक्षात्मक दर्शपूर्णमास यज्ञ है एवं व्रीहि, यव, श्यामाक-भेदभिन्न तीनों अन्नरसों की आहुति से चातुर्मास्य यज्ञ हो रहा है। ३३ अहर्गणात्मक वषट्कारमण्डल होता है। इसमें १६ तक पूर्वार्द्धभाग में अग्नि (प्राणाग्नि) है एवं १७ के ऊपर ३३ तक सोम है। इस सोम की १७वें प्राजापत्य अग्नि में जो आहुति होती है–वही संवत्सरयज्ञ है। यही सोमयज्ञ है, एवं षाण्मासिक यज्ञ पशुबन्ध है। ये पाँचों ही वितानयज्ञ हैं। एक ही अग्नि का तीन भागों में वितान होता है, अतएव इस पाङ्क्तयज्ञ को वितान कहा जाता है। अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास दोनों हविर्यज्ञ हैं। हविर्यज्ञ का वेदीरूप चित्य पृथिवीपिण्ड से सम्बन्ध है एवं सोमयज्ञ का महावेदीरूप अमृता पृथिवी से सम्बन्ध है। पहले हविर्वेदी को ही लीजिए–पिण्डपृथिवी के पृष्ठभाग का अग्नि गार्हपत्य है एवं सूर्य्य के सम्मुख रहने वाला आधा पार्थिव पिण्डाग्नि आहवनीय है एवं पृथिवी के दक्षिणभाग का अग्नि दक्षिणाग्नि है, उत्तरभाग में सोम है। पृथिवीपिण्ड वेदी है। यही पहली हविर्यज्ञसंस्था है। अब पृथिवी के अग्नि को गार्हपत्य अग्नि समझिए। हविर्वेदी का आहवनीयभाग गार्हपत्य समझिए एवं १७वें अहर्गणवाले अग्नि को आहवनीय समझिए। मध्य के आन्तरिक्ष्य अग्नि को दक्षिणाग्नि समझिए एवं पृष्ठ से २१ तक महावेदी समझिए। एकविंशस्थ सूर्य्य को यूप समझिए। इस महावेदी पर वितत आहवनीय में जो कि महावेद्यन्तर्गत उत्तरावेदी में प्रतिष्ठित है–उस १७ अहर्गण से ऊपर वाले सोम की आहुति होती है। जैसे घृताहुति से प्रज्वलित होता हुआ अग्नि अधिक आयतन बना लेता है, तथैव इस सोमाहुति से १७वें स्थानवाला अग्नि २१ तक चला जाता है। २१ पर सूर्य्यरूप स्वर्गस्थान है। आहवनीय यहाँ तक व्याप्त रहता है, अतएव १७वें आहवनीयाग्नि के लिए–**'आहवनीयो वै स्वर्गलोकः'**–यह कहा जाता है। इस सोमाहुति के प्रभाव से वही पार्थिव अमृतरूप प्राणाग्नि २१ तक व्याप्त होता हुआ–घन, तरल, विरल–इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। इनमें ९ तक घनाग्नि है–यह पार्थिव अग्नि है। १५ तक तरलाग्नि (वायु) है–यही आन्तरिक्ष्य अग्नि है। २१ तक विरलाग्नि (आदित्य) है–यही दिव्याग्नि है। चित्य पृथिवीपिण्ड इन तीनों की प्रतिष्ठा है। चित्य पृथिवीपिण्ड का आहवनीय और ९ तक रहने वाला प्राणाग्नि अभिन्न है, अतएव महायज्ञ में दोनों की समष्टि को गार्हपत्य मान लिया जाता है। पृथिवीपृष्ठ से २१ तक पार्थिव स्तोमाग्नि है। अग्नि, वायु, आदित्य तीन भेदों से युक्त यह पार्थिव अग्नि स्तौम्यत्रिलोकी में व्याप्त हो रहा है। पार्थिव अग्नि गायत्राग्नि है, दिव्य अग्नि सावित्राग्नि है। मध्याग्नि आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि है। पार्थिव गायत्राग्नि गार्हपत्याग्नि है। दिव्य सावित्राग्नि आहवनीयाग्नि है। मध्य का अग्नि दक्षिणाग्नि है। गार्हपत्याग्नि अपानाग्नि है। आहवनीयाग्नि प्राणाग्नि है। गार्हपत्याग्नि ही वहाँ जाकर-प्रणीत होकर आहवनीय नाम धारण करता है, अतएव उसे हम अवश्य ही प्राणाग्नि कहने के लिए तय्यार हैं। मध्य में दक्षिणाग्नि है–यही व्यानाग्नि है। इस व्यान के आधार

पर पार्थिव अपान, दिव्य प्राणाग्नि का उपांशुसवन होता है। इससे वैकारिक वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ–तीन अग्नि और उत्पन्न हो जाते हैं–जिनका कि विशद निरूपण पूर्व के उपनिषदों में आ चुका है। पार्थिव अपानाग्नि ऊपर जाता है–उस समय वही समान कहलाने लगता है एवं मध्यस्थ व्यानाग्नि से धक्का खाकर नीचे की ओर लौटता हुआ वही अपान कहलाने लगता है। एवमेव इसी आदान-विसर्ग के कारण प्राण के भी प्राणोदान दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार तीन के पाँच अग्निप्राण हो जाते हैं—

यह है–प्राकृतिक यज्ञप्रजापति का संक्षिप्तस्वरूप। इसी यज्ञप्रजापति की प्रतिकृति पर अध्यात्मयज्ञ प्रतिष्ठित है एवं इसी पर अधिभूत (मनुष्यकृत) वैधयज्ञ प्रतिष्ठित हैं। उदान-समान के स्थान में–मनुष्यकृत वैधयज्ञ में–आवसथ्याग्नि और सभ्याग्नि को स्थापित किया जाता है। प्रकृतिवत् हविर्वेदी के आहवनीय को गार्हपत्य माना जाता है। मध्य के सदोमण्डप में आन्तरिक्ष्य आठ अग्नियों की प्रतिकृति पर आठ धिष्ण्याग्नि प्रतिष्ठित किए जाते हैं। आहवनीय के आगे सूर्य्य की प्रतिकृतिरूप यूप गाड़ा जाता है। यूप ही एक प्रकार से उदान है। इसी के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान का आत्मा स्वर्ग में जाता है। अस्तु, इस अधिभूतयज्ञ के विषय में हम अधिक नहीं कहना चाहते। हमारा लक्ष्य प्रकृत में अध्यात्मयज्ञ है, अतः उसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। अध्यात्म में पायूपस्थरूप पृथिवी में अपानाग्नि है। हृदयरूप अन्तरिक्ष्य में व्यानाग्नि है। मस्तकरूप द्युलोक में प्राणाग्नि है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक महावेदी है। इस महावेदी में मस्तकभाग उत्तरावेदी है। इस उत्तरावेदी के मध्य में मुखरूप आहवनीयाग्नि है। अध्यात्म देवताओं के लिए इसी आहवनीय में अन्नाहुति दी जाती है, अतएव–**'आहूयते यत्र अन्नं'**–इस व्युत्पत्ति से हम इस मुखाग्नि को अवश्य ही 'आहवनीयाग्नि' कहने के लिए तय्यार हैं। इनमें अपान के अपान-समान दो भेद हैं। प्राण के प्राणोदान दो भेद हैं–जैसा कि तृतीय प्रश्न में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। पायूपस्थ में अपानाग्नि है, नाभिप्रदेश में समानाग्नि है। हृदय में व्यानाग्नि है। कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणाग्नि है। कण्ठनलिकास्थ सुषुम्णा में उदानाग्नि है। वैकारिक वैश्वानराग्नि का समानाग्नि से सम्बन्ध है। यह नाभि से दक्षिणभाग में है। वैकारिक प्राज्ञात्मा का व्यानाग्नि से सम्बन्ध है। यह हृदय में है एवं वैकारिक तैजसात्मा का प्राणाग्निमय उदानाग्नि से सम्बन्ध है। इसीलिए तो तीसरे प्रश्न में–**'तेजो ह वै उदानः'**–यह कहा है। अपानाग्नि का काम मलोत्सर्ग करना है। समानाग्नि का काम वैश्वानराग्नि में हुत अन्न को समुन्नयन

द्वारा सप्तार्चि में परिणत करना है। इसी समुन्नयन से–श्वास-प्रश्वास की सत्ता है। श्वास-प्रश्वास समीभाव से तभी तक चलते रहते हैं, जब तक कि अन्न के रस का समुन्नयन समभाव से हुआ करता है। अन्नाहुति ही श्वास-प्रश्वासरूप दोनों जीवनयज्ञ की रक्षा करने वाली आहुति की रक्षा करती है एवं अन्नाहुति को आहुतिरूप में परिणत कर प्रज्वलित करना इसी नाभिदेशस्थ समानाग्नि का काम है, अतएव हम समान को ही श्वास-प्रश्वास की समानता का कारण मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार– **'समुन्नयति अन्नाहुतिं, समुन्नयनद्वारा समं नयति–उच्छ्वासनिश्वासौ'**–इन दो प्रकार की व्युत्पत्तियों से हम इसे **'समान'** कहने के लिए तय्यार हैं। तीसरा है–व्यान। अपान, प्राण के उपांश्वन्तर्य्याम द्वारा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूपभोक्तात्मा को उत्पन्न कर–७२ सहस्र नाड़ियों द्वारा शरीरगत यच्चयावत् चेष्टाओं के संचालन द्वारा–आत्मस्वरूपरक्षा करना इसी व्यान का काम है। इस व्यान के स्थान में प्रज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है। इसी के दक्षिणभाग में दक्षिणाग्नि रहता है। यद्यपि पूर्व में हमने व्यानाग्नि को दक्षिणाग्नि बतलाया है, परन्तु वस्तुतः व्यानाग्नि–अन्नपरिपाक करने वाला समानाग्नि के दक्षिण-भागस्थ वैश्वानर अग्नि है एवं पित्त बढाने वाला–व्यानस्थ (व्यानसमीपस्थ) दक्षिणाग्नि है। प्राणापान की योगावस्था समान है। फलावस्था वैश्वानर है। यह वैश्वानर दक्षिणाग्नि है। सात प्रकार की त्रिलोकी-व्यूहन में–हृदय और नाभि दोनों व्यानस्थान पड़ते हैं। समानवायु, व्यानवायु–दोनों व्यान हैं। दोनों के दक्षिणभाग में अग्नि है, अतएव यहाँ व्यान को–अन्वाहार्यपचन बतला दिया गया है। ये दोनों ही क्रमशः नाभि और हृदय में प्रतिष्ठित होते, परन्तु नाभिस्थान समानाग्नि से घिर जाता है एवं हृदयस्थान प्रज्ञानात्मा से घिर जाता है, अतएव उभयविध अन्वाहार्यपचन को दोनों से दक्षिणभाग में अपना आवास बनाना पड़ता है।

हृदयस्थ प्रज्ञानात्मा मन है। यह विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञान ही यजमान है–यज्ञ का अधिष्ठाता है। ब्रह्मरन्ध्र द्वारा विज्ञानप्राण आया करता है–जैसा कि तीसरे प्रश्न में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। वह विज्ञान प्रज्ञानमन से बद्ध है। प्रज्ञा में जो प्राणभाग है–वही इन्द्र है–इन्द्र विद्युत् है। विज्ञानविद्युत्-प्रज्ञानविद्युत् दोनों अविनाभूत हैं। यह विद्युत् (मन) उसी उदान द्वारा निरन्तर स्वर्ग में जाया करता है। उदान ही तैजस द्वारा–सुषुम्णा द्वारा इस यजमान ब्रह्म को स्वर्ग में ले जाया करता है। तात्पर्य्य यही है कि यज्ञफल है स्वर्गप्राप्ति। अध्यात्म में अन्नाहुति द्वारा प्राणाग्नियों के आधार पर प्रज्ञानात्मा यज्ञ कर रहा है। इस अन्नाहुतिरूप यज्ञ से इसका स्वरूप स्थिर है। अन्नयज्ञ से ही मन का स्वरूप बना हुआ है। इसी यज्ञ द्वारा इस विद्युत् का अहरहः सूर्य्य में गमन है। इष्ट (यज्ञ) फल उदान है। इसी के द्वारा मनोमय ऐन्द्रविद्युत् सूर्य्य में जाया करती है–आया करती है। जिस दिन यज्ञ बन्द हो जाता है–स्वर्गसम्बन्ध टूट जाता है।

इस सारे प्रपञ्च में प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि इस शरीर में पूर्वोक्त प्राणाग्नियाँ २४ घण्टे जागृत रहती हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण शरीर की गर्मी और श्वासोच्छ्वास हैं। प्राणेन्द्रिय में हमने गन्धग्रहण और श्वास-प्रश्वास–दो काम बतलाए हैं। गन्धग्रहण का इन्द्रियों में समावेश है, श्वास-प्रश्वास का व्यानाग्निरूप प्राणाग्नि में अन्तर्भाव है। इन्द्रिएँ सौम्यप्राणरूपा हैं–ये सुप्त हैं, किन्तु

प्राणाग्निभाग जागृत है। गर्मी प्राणोदानादि के उपांश्वन्तर्य्याम पर निर्भर है। गर्मी सदा पाते हैं, अत-एव हम सदा ही इन प्राणाग्नियों को जागृत मानने के लिए तय्यार हैं।

ये पाँचों प्राणाग्नि पूर्वकथनानुसार स्तौम्यत्रिलोकी की वस्तु हैं। स्तौम्यत्रिलोकी पृथिवी है। पृथिवी भूतप्राणमयी है। भूत शरीरपिण्ड है। प्राण पाँचों अग्नि हैं। दोनों अविनाभूत हैं। जब तक प्राणाग्नि है–तभी तक शरीरसत्ता है। जिस दिन प्राणाग्नि सो जाता है–शरीर नष्ट हो जाता है। प्राणाग्नि की सुप्तावस्था ही मनुष्य की मृत्यु-अवस्था है। इसी प्राणाग्निविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"प्राणो वै स्वयमातृण्णा। आदित्यो लोकम्पृणा। प्राणं तदादित्येन समिन्द्धे। सर्व एवात्मोष्णः। तद्धैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम्। उष्ण एव जीविष्यन्--'शीतो मरिष्यन्'॥[1]

इस समाधान को लक्ष्य में रखते हुए महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

"प्राणाग्नय एवैतस्मिन्-पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानो-ऽन्वाहार्यपचनः, यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः" ॥३॥

"यदुच्छ्वासनिःश्वासौ-एतौ-आहुती समं नयति इति स समानः। मनो (प्रज्ञानात्मा) ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानं-अहरहर्ब्रह्म गमयति" ॥४॥

॥ २ ॥

——❀——

३–तीसरा प्रश्न है—

"कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति" ?

'कानि स्वपन्ति' ? उत्तर है—**'इन्द्रियाणि'**। **'कानि जाग्रति'** ? उत्तर है—**'प्राणाग्नयः'**। इन्द्रिएँ सो चुकी हैं। पञ्च प्राणाग्नि जाग रहे हैं। बस, इसी सान्ध्य अवस्था में हमारा वही सुप्रसिद्ध विज्ञानदेव स्वप्न देखा करता है। स्वप्न में बहिर्जगत् का व्यापार बन्द है। अन्तर्जगत् का काम

१–शत० ब्रा० ८।७।२।११।

चल रहा है। हम बतला आए हैं कि प्रज्ञानमन इन्द्रियों द्वारा विषयों में आसक्त रहता है। इन्द्रिय द्वारा इन्द्रियों के प्राज्ञभाग से इसमें भावनासंस्कार पैदा होता है एवं प्राणभाग से वासनासंस्कार पैदा होता है। एक अनुभवाहित संस्कार है, दूसरा वासनाहित संस्कार है। इन दोनों संस्कारों की कमाई यह उसी प्रकार कर लेता है–जैसे कोई सेठ अपने दलालों द्वारा सम्पत्ति इकट्ठी कर अपनी दुकान में जमा किया करता है। इन संस्कारों के लिए स्वयं श्रुति ने यही दृष्टान्त दिया है। क्योंकि यही दृष्टान्त ठीक बैठता है। रकम लगती है व्यापार में सेठ की, काम करते हैं दलाल। असली फायदा होता है सेठ को, दलालों को मिलती है–दलाली। सेठजी रहते हैं दुकान में, दलाल फिर-फिर कर व्यापार करते हैं। बस, ठीक यही बात यहाँ है। प्राज्ञ-प्राण दोनों भाग हैं–प्रज्ञानमन के। ये ही साधनभूत द्रव्य हैं। इनके द्वारा इन्द्रिएँ व्यापार करके रूपरसादिस्वरूप वित्त को उसी श्रेष्ठी मन को सौंपती हैं। आप भी थोड़ी देर के लिए रूपादि से युक्त रहती हैं। श्रेष्ठी मन अपने स्थान में रहता है। इन्द्रिय-रश्मिएँ व्यापार करती हैं। इस व्यापार से श्रेष्ठी मन धनवान् हो रहा है। साथ ही में मन के द्वारा इन्द्रियों के स्वरूप की रक्षा हो रही है। मन से इन्द्रिएँ कमाती हैं, इन्द्रियों से मन कमाता है। सेठ न हो तो दलाल कैसे ? दलाल न हों तो सेठ का व्यापार कैसा ? दोनों में परस्पर भोग्यभोक्तृत्व है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"तमेतमात्मानं (प्रज्ञानात्मानं) एत आत्मानो (इन्द्रियाणि) अन्वव-स्यन्ति। यथा श्रेष्ठिनं स्वाः (उपजीवकाः)। तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति-एवमेवैष प्रज्ञात्मा-एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमा-त्मानमेत आत्मानं भुञ्जन्ति"–इति ॥[1]

कहना यही है कि मन इन्द्रियों द्वारा ज्ञानमय भावनासंस्कार एवं क्रियामय वासनासंस्कार दोनों को अपने खजाने में रख लेता है। कदाचित् कहो कि–थोड़े से मन पर इतने भूतसंस्कार कैसे समा जाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर पदार्थमात्र को धामच्छद (जगह रोकने वाला पदार्थ) मानने वाला पाश्चात्य जगत् भले ही न दे सके, परन्तु हमारा विज्ञानशास्त्र ऐसे उत्तरों का कोई महत्त्व नहीं रखता ? आँख की छोटी से छोटी कृष्णकनीनिका में पर्वत, प्रासाद, सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी आदि महामहा पदार्थ यदि समा सकते हैं, एक ही कमरे में एक ही स्थान पर यदि १० दीपप्रभाएँ असंग रहती हुई समा सकती हैं तो मन में भी सारे संस्कार विना किसी विरोध के परस्पर में अनासक्त होते हुए समा सकते हैं। तेज अधामच्छद है। तेज साक्षात् इन्द्र है। प्रज्ञानात्मा इन्द्र है, अतः इस विषय में 'कैसे सारे संस्कार इस मन में बैठें'–यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। ऊपर के निरूपण से पाठक यह भली-भाँति मान गए होंगे कि इन्द्रियाधिष्ठाता हमारा यह मन दो विश्वों का उपभोग करता है। जाग्रदवस्था में इन्द्रियों द्वारा यह बहिर्जगत् का उपभोग करता है एवं स्वप्नावस्था में संस्काररूप से आगत बहिर्विषयों का अनुभव करता

१–कौषी० उप० ४।२०।

है । मान लीजिए–प्रज्ञाभूतमात्रायुक्त १०सों इन्द्रिएँ मन में डूब गईं । इस समय बाहर के द्वार बन्द हैं । ऐसी अवस्था में द्रष्टा विज्ञानात्मा के पास देखने के लिए मन पर संस्काररूप से प्रतिष्ठित अन्तर्जगत् ही रह जाता है । विज्ञान द्वारा महान् में विलयन होने पर तो संस्कारजगत् भी नहीं रहता । परन्तु अभी प्रज्ञान विज्ञान में डूबा है । विज्ञान अभी जागृत है, अतएव इस अवस्था में यह इन्हीं संस्कारों को ले लेकर नई सृष्टि बनाया करता है । यही स्वप्नावस्था है–जैसा कि कठोपनिषत् में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । स्वप्न में वही वस्तुएँ दीखती हैं–जिन्हें प्रज्ञान द्वारा विज्ञान जाग्रदवस्था में देखता है–यह सिद्धान्त पूर्वोपनिषत् में ही बतलाया जा चुका है । स्वप्न में संस्कारजगत् के सम्बन्धवैचित्र्य से अद्भुतस्वरूप दीखने लगता है । इस असम्बन्ध का कारण वही प्राणवायु है । प्राणोदानसमानव्यानापानाग्नियों के साथ इन्हीं नामों से विभक्त वायु भी जागता रहता है । गतिधर्मा यह वायु ही उन संस्कारों में उथल-पुथल मचाया करता है । इसलिए स्वप्नजगत् में अदृष्टपूर्वता मालूम होती है । वस्तुतः ऐसा है नहीं । प्रज्ञानात्मा विज्ञान की अपनी महिमा है । विज्ञानतेज ने ही प्रज्ञान को ज्ञानमय बना रखा है । इन्द्रियसम्बन्धी बहिर्जगत् के विषय प्रज्ञान की स्वमहिमा हैं । इस समय (जाग्रदवस्था में) यह स्वमहिमा को नहीं देखता–प्रज्ञान-महिमा को देखता है । परन्तु स्वप्नावस्था में प्रज्ञानमहिमा प्रज्ञान में डूब जाती है । उस समय यह प्रज्ञानगत विषयों को ही देखा करता है । निष्कर्ष यही हुआ कि विज्ञानात्मा ही स्वप्नद्रष्टा है । इसी अभिप्राय से पिप्पलाद कहते हैं—

"अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" ।।

स्वप्न में वही वस्तु दीखती है–जो कि जाग्रदवस्था में देखी जाती है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर पिप्पलाद कहते हैं–जो कुछ जाग्रदवस्था में देखा गया है–वही दृष्ट पदार्थ स्वप्नावस्था में संस्काररूप से देखा जाता है । जाग्रदवस्था में जो श्रुत (सुना हुआ) रहता है, स्वप्नावस्था में उसी श्रुत को (सुने हुए को) सुनता है एवं देश-दिशा-उपदिशाओं से जाग्रदवस्था में जो अनुभूत होता है, स्वप्न में वही पुनः पुनः अनुभूत होता रहता है । दृष्ट, श्रुत, अनुभूत–इन्द्रियविषय तीन भागों में विभक्त हैं । चक्षुरिन्द्रिय का धर्म्म देखना है । श्रोत्रेन्द्रिय का धर्म्म सुनना है । उपस्थ, जिह्वा से अनुभव होता है । वस्तुतस्तु–दृष्टं, श्रुतं मात्र से ही सारी इन्द्रियों का ग्रहण हो जाता है–जैसा कि–**'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम'**–इत्यादि पूर्वोक्त मङ्गलाचरणरहस्य में ही विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । दृष्टविषय, चक्षुरूप आदित्यप्राण और वाक्रूप वायु अग्नि का उपलक्षण है एवं दिक्सोमरूप श्रोत्र भास्वरसोमरूप मन का उपलक्षण है । इन पाँचों के अलावा–एक अनुभूति और होती है । रामचन्द्र के चित्र से रामचन्द्रस्वरूप का अनुभव होने लगता है । रामचन्द्रकाल में न हमने रामचन्द्र को देखा था, न सुना था । परन्तु चित्र द्वारा वह हमारे लिए देखे सुने से हो जाते हैं । यह इस तीसरी अनुभूति का ही चमत्कार है । अनुभूतियाँ देश और काल से सम्बन्ध रखते हैं । अमुक देश में रामचन्द्र हुए थे–उनकी यह तस्वीर है । यह देशानुभूति है, अमुक समय में उत्पन्न हुए थे–यह कालानुभूति है । इस देशकालानुभूति से अदृष्ट, अश्रुत भी दृष्टश्रुतसम हो जाता है । इसी अनुभूति के आधार पर सर्वथा अदृष्ट–अश्रुत रामकृष्णादि के चित्र बना डाले जाते हैं । यही नहीं–उनका उपासनाकोटि में समावेश कर लिया जाता है । बस–दृष्ट, श्रुत, अनुभूत–तीनों

का जाग्रदवस्था में जो सम्बन्ध होता है–स्वप्न में यही संस्कार पुनः पुनः उद्बुद्ध होकर क्रीड़ा किया करते हैं—

"यद् दृष्टं (जाग्रदवस्थायां तदेव) दृष्टं (स्वप्नावस्थायां) अनुपश्यति। (जाग्रदवस्थायां यत्) श्रुतं, (स्वप्नावस्थायां तत्) श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति, देशदिगन्तरैश्च (जाग्रदवस्थायां यत्) प्रत्यनुभूतं (स्वप्नावस्थायां) पुनः पुनः प्रत्यनुभवति" ।।

इसीलिए तो शृणोति, पश्यति, अनुभवति न कहकर अनुश्रृणोति, अनुपश्यति, प्रत्यनुभवति कहा है। एक बार देखने, सुनने, अनुभव करने के अनन्तर जो उसी का लक्ष्य बनाकर पुनः देखा, सुना, अनुभव किया जाता है, उसी के लिए 'अनु' का प्रयोग होता है। 'अनु' का अर्थ है पश्चात्। जाग्रदवस्था में यह शृणोति, पश्यति, अनुभवति का अधिकारी है। परन्तु स्वप्नावस्था में वह इन्हीं को पुनः देखता-सुनता-अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही हमारे पूर्वसिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है।

जिन भावनावासना संस्कारों की अब तक हम गाथा गाते आ रहे हैं–वही संस्कारपुञ्ज हमारे जन्म के प्रधान बीज हैं। संस्कार ही जन्मान्तर के कारण बनते हैं। प्रज्ञानात्मा संस्कारों का जन्म-जन्म में भोग करता है एवं साथ ही में नई कमाई कर करके भविष्य के लिए जन्मबन्धन की सामग्री इकट्ठा करता रहता है। इस जन्म में इसी जन्म के संस्कार स्वप्न में दीखें–यह बात नहीं है–अपि तु, समय-समय पर स्वप्नावस्था में पूर्वजन्मों के संस्कार भी दीखा करते हैं। परोवरीणविज्ञान ऐहिक, पूर्वदैहिक दोनों संस्कारों को देखा करता है। इस जन्म के संस्कारों को तो हमने इसी जन्म में इन्द्रियों द्वारा इकट्ठे किए हैं, अतः इनके लिए तो 'दृष्टं-श्रुतं-अनुभूतं' कह सकते हैं। परन्तु जन्मान्तरगत संस्कारों को बहिर्जगत् में इस वर्त्तमान शरीर की इन्द्रियों को देखने, सुनने, अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। इस वर्त्तमान परिस्थिति के लिए तो जन्मान्तरीय त्रिविध संस्कार अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत ही हैं। हमारा यह विज्ञान दृष्ट (इस वर्त्तमान जन्म में दृष्ट) अदृष्ट (जन्मान्तर की अपेक्षा दृष्ट किन्तु इस वर्त्तमान जन्म की अपेक्षा से अदृष्ट) श्रुत, अश्रुत, अनुभूत, अननुभूत सदसत्–सबको देखा करता है।

दृष्ट, श्रुत, अनुभूत एवं अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत–६ओं ही अच्छे भी होते हैं–बुरे भी होते हैं। अर्थात् स्वप्न सुखद भी हैं, दुःखद भी हैं। कितने ही दृश्य, शब्द, एवं अनुभूतियों से आनन्द प्राप्त होता है किन्तु कितने ही दृष्ट, श्रुत, अनुभव घोर दुःखसागर में आत्मा को डुबो देते हैं—

१–दृष्टम्——वर्त्तमानजन्मनि—दृष्टं—

२–अदृष्टम्——अस्मिन् जन्मनि—अदृष्टं—जन्मान्तरे 'दृष्टम्'।

३–श्रुतम्——अस्मिन् जन्मनि—श्रुतम्,

४–अश्रुतम्—अस्मिन् जन्मनि—अश्रुतम्—जन्मान्तरे 'श्रुतम्'।

५–अनुभूतम्—अस्मिन् जन्मनि—अनुभूतम्—

६–अननुभूतम्–अस्मिन् जन्मनि—अननुभूतम्—जन्मान्तरे–'अनुभूतम्'।

'दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयेत्'–के अनुसार दृष्टश्रुत का जो संस्कार होता है–उसकी जो स्मृति है–वही अनुभूति है। ६ओं ही सदसत् भेद से दो भागों में विभक्त हैं। यहाँ के अदृष्ट–अश्रुत-अननुभूत पद से कोई अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व, अननुभूतपूर्व न समझले–इसीलिए ऋषि ने पहले ही–**'दृष्टं दृष्ट-मनुपश्यति-श्रुतं श्रुतमेवार्थं शृणोति'**–इत्यादि कह दिया है। प्रसंगागत एक बात और समझ लेनी चाहिए–इन्द्रियों में स्वप्न और जाग्रदवस्था निष्पन्न करने वाली जो भूतमात्राएँ आती हैं–वे वायु, सौर रश्मि, स्पर्श, प्रज्ञानसंस्कार द्वारा आती हैं। वायु द्वारा गन्धादि का आगमन होता है। सौर रश्मि द्वारा रूपादि का आगमन होता है। स्पर्श द्वारा सुखदुःखादि विषयों का आगमन होता है। सबसे बडी आमद संस्कार से है। पूर्वजन्म के स्वसंस्कार ही गुणभूतरूप–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दरूपभूतमात्राओं के आगमन का कारण है। जिसके पूर्वजन्म के संस्कार में जो भूतमात्रा नहीं होती–इस जन्म में भी उसका तिरोभाव ही रहता है। कितने ही मनुष्यों को गन्ध का अनुभव नहीं होता। कितनों की को लाल मिर्च की तिक्तता का अनुभव नहीं होता। इसका यही रहस्य है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति" ॥५॥

निष्कर्ष यही हुआ कि इन्द्रियों के प्रज्ञान में विलीन हो जाने पर प्रज्ञान पर स्थित संस्कारजगत् को विज्ञानात्मा देखा करता है। विज्ञान स्वप्नद्रष्टा है। प्रज्ञान बहिर्जगत् से अलग हटा है–इसलिए तो इसे जागता हुआ नहीं बतलाया जा सकता एवं अन्तर्जगत् का लय हुआ नहीं है–इसलिए इसे सुप्त भी नहीं बतलाया जा सकता। मध्यपतित है। इसी सान्ध्य अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है। इसके अन्तर्जगत् का द्रष्टा वही विज्ञान है। बस, तीसरे प्रश्न का यही समाधान है ॥५॥

॥ ३ ॥

——❀——
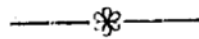
(४)–चौथा प्रश्न है—

"कस्यैतत् सुखं भवति" ॥

स्वप्नावस्था के अतिक्रान्त हो जाने पर पुरीतति नाड़ियों में जाता हुआ प्रज्ञान विज्ञान द्वारा महदक्षर में डूबता हुआ सुषुप्ति में चला जाता है। प्रातःकाल जब मनुष्य सोकर उठता है–उस समय

इसके मुंह से–'**सुखमहमस्वाप्सम्**' (**अहा ! आज मैं बडे आनन्द से सोया**) ये अक्षर निकल पड़ते हैं। गार्ग्य के प्रश्न का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था में प्रज्ञान सुप्त है–विज्ञान जागृत है। स्वप्न तभी तक आते हैं- जब तक कि द्रष्टाविज्ञान जागृत है। सुषुप्ति में स्वप्न का अभाव है, अतएव मानना पड़ता है कि यहाँ प्रज्ञानज्ञानवत् विज्ञान की भी अपीति (लय) है। विना ज्ञान के 'मैं सुख से सोया'–यह अनुभव किसको हुआ ? बस, सुषुप्ति-सुख के विषय में गार्ग्य का यही प्रश्न है। इस प्रश्न का कठोपनिषत् में प्रकारान्तर से उत्तर दिया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि विज्ञान का महान् में लय रहता है। महान् का अहंकृतिभाग ही '**अहंकार**' है। यह सदा जागृत रहता है। यही इस सुषुप्त्यानन्द का अनुभव करता है। विज्ञान के दर्शपूर्णमास से ही महान् में त्रैगुण्य उत्पन्न होता है। इस सुषुप्ति में त्रैगुण्योत्पादक विज्ञान का लय है, अतएव इस अवस्था में शुद्धसत्त्वोपेत महानात्मा रह जाता है। शुद्धसत्त्व आनन्द है। इसी का अनुभव होता रहता है। वागिन्द्रियादि द्वारा प्रातःकाल यही महान् ज्ञान–'**सुखमहमस्वाप्सम्**'-इस रूप से अपने आनन्दानुभव को प्रकट करता है। इस प्रकार वहाँ पर महान् को ही इस सुषुप्ति-सुख का अधिकारी बतलाया है। परन्तु यहाँ महर्षि पिप्पलाद विज्ञानात्मा को-स्वप्नद्रष्टा को सुख का अधिकारी बताते हैं। दृष्टिकोणमात्र में अन्तर है। वस्तुस्थिति समान है। जैसा कि निम्नलिखित प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है—

सुषुप्ति क्यों होती है ? क्यों इन्द्रिएँ प्रज्ञान में सिमटती हैं ? प्रज्ञान क्यों विज्ञान में लीन होता है ? पहले ऋषि इसी प्रश्न का समाधान करते हैं—

प्रज्ञान चान्द्रभाग है–विज्ञान सौरभाग है। चान्द्रभाग ही अन्न में परिणत होता हुआ क्रमिक विशकलन से '**मन**' बनता है। प्रातःकाल सूर्य्योदय होता है। सूर्य्योदय होते ही विज्ञानप्राण प्रबल हो पड़ता है। प्रबल होते ही मनुष्य जग पड़ता है। '**धियो यो नः प्रचोदयात्**'–के अनुसार '**धीः**' को प्रेरित करने वाला यही सौर प्राण है। इसी सौर प्राण का नाम 'तेज' है। इस तेज का उस चान्द्र प्रज्ञान पर आक्रमण होने लगता है। विज्ञान कारयिता है–क्षेत्रज्ञ है। प्रज्ञान कर्त्ता है। सुषुप्तिकाल में जो प्रज्ञान सर्वथा शान्त था–वही जाग्रदवस्था में विज्ञान के आक्रमण से कार्य्य में प्रवृत्त हो जाता है। प्रवृत्त होता हुआ प्रज्ञान क्रमशः थकने लगता है। प्रज्ञान में 'प्रज्ञा-प्राण-भूत' नाम से–ये तीन मात्राएँ प्रसिद्ध हैं। ये तीनों मात्राएँ कार्य्य में प्रवृत्त होने से खर्च होती रहती हैं। जैसे–आवश्यकता से अधिक चलने वाला पथिक चलन-क्रिया द्वारा अधिक मात्रा में खर्च हो जाने वाले प्राणबल से निर्बल होता हुआ थककर एक स्थान पर बैठ जाता है–आगे नहीं चल सकता, एवमेव दिन भर कार्य्य में प्रवृत्त रहने वाला प्रज्ञान (सौर तेज के आक्रमण में फंसता हुआ. अतएव कार्य्य में प्रवृत्त रहता हुआ प्रज्ञान) अपनी प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रा अधिक मात्रा में खर्च कर डालता है–उसी समय यह थककर बाहर के विषयों से सम्बन्ध तोड़ देता है–अन्तर्मुख हो जाता है। उस समय भी इसके पास संस्कार रहते हैं, अतः अन्तर्मुख होने पर भी विज्ञान इसे चैन नहीं लेने देता। यहाँ भी वह अपना आक्रमण करता है। इसी अवस्था का नाम 'स्वप्नावस्था' है। बाहर के जगत् का व्यापार छूट गया परन्तु विज्ञान की कृपा से इसे अन्तर्जगत् पर इस समय भी दौड़ लगानी पड़ती है। जब उतना बल भी खर्च हो जाता है तो वेबस होता हुआ प्रज्ञान उस महदक्षर में

डूब जाता है। इसी का नाम 'सुषुप्ति' है। यदि सौरतेजरूप विज्ञान का आक्रमण न होता तो न इसमें जाग्रदवस्था होती–न स्वप्नावस्था होती–न सुषुप्ति होती। बिना विज्ञान के यह कुछ भी न रहता। इस विज्ञान के आक्रमण को जब तक इसमें सहने का सामर्थ्य रहता है, तब तक तो जाग्रदवस्था रहती है, अधिक आक्रमण से–अधिक मात्रा खर्च होने के कारण थककर भीतर घुस जाता है। यहाँ भी इसमें कुछ बल रहता है, अतः यहाँ संस्कारों पर दौड़ा करता है। परन्तु जब तेज से एकान्ततः अभिभूत हो जाता है तो असमर्थ होकर यह उसी देवता में (महदक्षर में) डूब जाता है। उदाहरण के लिए–एक 'मिल' के नौकर को तो प्रज्ञान समझिए। मिल के अधिपति को 'विज्ञान' समझिए। यह काम करवाने वाला है। वह करने वाला है। वह बार बार–'यह करो-वह करो–इसे रखो-इसे उठाओ'–यह आज्ञा देता है। तदनुकूल इसे दिन-भर काम करना पड़ता है। जब उस स्वामी की आज्ञा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो इस सेवक का बल दिन भर के आक्रमण से खर्च हो जाता है एवं अन्ततोगत्वा अभिभूत होकर यह उस काम को दूसरे दिन के लिए छोड़ देता है। बस, ठीक यही बात यहाँ भी है। यही कारण है कि जो मनुष्य आवश्यकता से अधिक परिश्रम करता है–उसे उतनी ही अधिक निद्रा आती है, चाहे वह परिश्रम मानसिक हो या शारीरिक हो–क्योंकि शारीरिक परिश्रम में भी प्रज्ञान ही तो अनुस्यूत रहता है। अभिभूत मन पुरीतति में चला जाता है, उसके साथ सारे संस्कार भी वहीं विलीन हो जाते हैं। विज्ञान तो कारयिता था। प्रज्ञान पर इसकी हुकूमत चलती थी। प्रज्ञान के संस्कारों पर शासन चलता था। आज दोनों ही अपीत हैं। ऐसी अवस्था में विज्ञान को अपने आप चुप बैठना पड़ता है। जब तक नौकर दृष्टि के सामने रहता है तब तक मालिक उस पर आज्ञा करता है। जब नौकर ही चला जाय तो फिर कौरा मालिक किस पर व्यापार करे? यही हालत यहाँ होती है। विज्ञान की दर्शनशक्ति-आक्रमणशक्ति अब भी है। परन्तु जब दृश्य ही नहीं तो देखे किसे? इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर बृहदारण्यकोपनिषत् श्रुति कहती है—

"यद्वै तन्न पश्यति-पश्यन् वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते-अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्"॥[1]

द्रष्टाविज्ञान, दृश्यसंस्कारयुक्त उपद्रष्टाप्रज्ञान–दोनों आज इसी महदक्षर में डूब रहे हैं। ऐसी अवस्था में यह भी कहा जा सकता है कि प्रज्ञान विज्ञान को साथ लेते हुए महदात्मा में लीन होता है। कह क्या सकते हैं–वास्तव में ऐसा ही है। बिना विज्ञान के तो प्रज्ञान रहता ही नहीं। दोनों संपरिष्वक्त हैं। महदक्षर अद्वैतत्व है। उसमें जाने से विज्ञान प्रज्ञान का द्वैतभाव हट जाता है। ऐसी अवस्था में–**'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्'**[2]-के अनुसार सारा भोक्तृभाव जाता रहता है। विज्ञान संपरिष्वक्त-प्रज्ञान क्यों आत्मा में जाता है? इस विद्या को समझाने के लिए उपनिषत्-श्रुति कहा करती है कि जैसे एक पक्षी दिनभर घूमधाम कर थककर सायंकाल पुनः अपने घोंसले में आ जाता है–एवमेव विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञान दिनभर विषयों में रत रहकर थकता हुआ रात्रि में अपने आयतनरूप

१–बृहदा० उप० ४।३।२३। २–बृहदा० उप० २।४।१४।

महानात्मा में आ जाता है–जानकर नहीं आता। थककर अपने आप उसमें जा गिरता है। यह उसी पर गिरता है, क्योंकि उसी का अंश है। इसी विज्ञान को सामने रखते हुए हम विज्ञान को भी सुख-कारण मान सकते हैं, क्योंकि विज्ञान द्वारा ही तो प्रज्ञान महत्-सुख का भोग करने में समर्थ होता है। परन्तु विज्ञान परम्परया कारण है। वस्तुतस्तु सुख का कारण महान् ही है। वासनाभावनासंस्कार से सत्त्वरूप महान् मलिन रहता है, अतएव इस अवस्था में शान्त्यानन्द नहीं आता। परन्तु संस्कारों सहित इसका अप्यय हो जाता है तो प्रज्ञान स्वयं शुद्ध होता हुआ–**'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति'**[1]–के अनुसार उस शुद्ध सत्त्व में डूबकर तद्रूप बन जाता है। प्रज्ञान को सत्त्वरूप महत् सुख प्राप्त नहीं होता—अपि तु, यह स्वयं वही बन जाता है। सुखमय बन जाता है। महदात्मा एक वृक्ष है। विज्ञान, प्रज्ञान, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, इन्द्रियाँ आदि पक्षी हैं। संस्काररूप अन्तर्जगत् के विषय एवं बाहर के घटपटादि सारे पदार्थ इन पक्षियों का दाना है। इसे चुगने के लिए ये वृक्ष से बाहर जाते हैं। अनन्तर सब उसी वृक्ष पर आके बैठ जाते हैं। ऋषि बड़े दयालु हैं। ऐसा सरल दृष्टान्त बतलाते हैं कि जिससे मूर्ख से मूर्ख भी इन अवस्थाओं के स्वरूप को समझ जाए। महान् की ओर से बाहर की ओर रुख करना ही इनका बाहर जाना है। महान् अक्षर-रूप है। अक्षर अव्यय से अविनाभूत है। क्षरसम्बन्ध से अक्षर में कलाएँ होती हैं–जैसा कि छठे प्रश्न में बतलाया जायगा। प्रज्ञानादि सारे क्षर यदि महदक्षर में चले जाते हैं तो उस समय अक्षर निष्कल होता हुआ निष्कल अव्यय में लीन हो जाता है। अव्ययपुरुष के लिए 'पर' शब्द नियत है। महदक्षर में आते हुए प्रज्ञानादि सारे पक्षी उसी 'पर' में लीन हो जाते हैं, अतएव सुषुप्त्यानन्द को **'आत्मानन्द'** कहा जाता है। इस अवस्था को यथार्थरूप से समझ लेने पर एक बडा भारी प्रश्न हल हो जाता है। कितने ही मनुष्य पूछा करते हैं कि आत्मा को जान लेने पर कैसा आनन्द आता है? हम संसार के किसी भी विषयानन्द से आत्मानन्द की तुलना कर सकते हैं। हम कहेंगे–हाँ, अवश्य तुम उस आनन्द को जान सकते हो। सुषुप्ति में तुम्हें जो आनन्द आता है–बतलाओ क्या किसी सांसारिक विषयानन्द से तुम उसकी तुलना कर सकते हो? कदापि नहीं। कह नहीं सकते—जानते हो। तभी तो प्रातःकाल उठते ही कहते हो कि–'आहा! आज तो बडे आनन्द से सोए'–आनन्द जीवन का कारण है। इसकी प्राप्ति सुषुप्ति में है। यही कारण है कि जिस मनुष्य को निद्रा कम आती है–उसका स्वास्थ्य खराब रहता है। जिस रोगी को नींद नहीं आती–समझ लो–वह थोड़े ही दिन का मेहमान (पाहुना) है। अस्तु, यह सब कथान्तर है। यहाँ इस सारे प्रपञ्च से हमें केवल यही बतलाना है कि सौर तेज से अभिभूत होकर विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञानदेव महदक्षर में चला जाता है। वहाँ जाकर स्वयं सत्त्व (सुख) रूप बन जाता है। इस समय प्रज्ञान का प्रज्ञानपना जाता रहता है–केवल महान् ही महान् शेष रह जाता है। यही सुख भोक्ता है। **'कस्यैतत् सुखं भवति'**?–का यही उत्तर है। इसी उत्तर को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१–कठोप० २।१।१५।

"स (प्रज्ञानात्मा) यदा तेजसा (सौरविज्ञानतेजसा) अभिभूतो भवति अत्रैष देवः (विज्ञानात्मा) स्वप्नान्न पश्यति । अथ तदा एतस्मिञ्छरीरे– एतत् (सर्वं प्रपञ्चं) सुखं भवति -(महद्रूपेण परिणतं सत्-सुखमनुभूयते) स यथा सोम्य ! वयांसि वासोवृक्षं (आवासरूपं वृक्षं) संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि (अक्षराविनाभूते निष्कले अव्यये) संप्रतिष्ठते" ।।

स्वप्नद्रष्टा विज्ञान है । दृश्य पदार्थ प्रज्ञानप्रतिष्ठित संस्कार है । जब तक यह संस्कार रहते हैं, तब तक विज्ञानदेव स्वप्न देखता है । जब दृश्याधिष्ठाता प्रज्ञान तेज से अभिभूत हो जाता है तो विज्ञान दृश्य के अभिभूत हो जाने से नहीं देखता । सुख केवल प्रज्ञान या विज्ञान को नहीं होता । सुख होता है–सारे प्रपञ्च को । परन्तु कब ? जब कि ये सब उसमें लीन होकर स्वस्वभेद छोड़ते हुए तद्रूप हो जाते हैं तब । इसी अभिप्राय से **'तदा एतस्मिञ्छरीरे एतत् सुखं भवति'**–यह कहा है । चूंकि–सब महद्रूप में परिणत होकर ही सुखमय बनते हैं, अतएव **'कस्यैतत् सुखं भवति'**–का हम–**'महत एतत् सुखं भवति'**–यही कहेंगे । श्रुति के अक्षर बडे टेढे मेढे हैं । **'कमेतत् सुखं भवति'**–यह प्रश्न नहीं किया, क्योंकि महान् स्वयं सत्त्वरूप है । सुखरूप है । उसको–सुख को सुख क्या हो ? साथ ही में प्रज्ञानविज्ञानादि को भी विना महत् में आए सुखरूपता नहीं होती, अतः **'कमेतत् सुखं भवति'** ? यह प्रश्न ही नहीं बनता । सुषुप्ति में जिस सुख का अनुभव होता है–वह सुख किसका होता है' ? यह प्रश्न है । होता है–इन्द्रिय-गर्भित विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञान को । परन्तु सत्त्व द्वारा, महान् द्वारा । महान् का सुख इनको प्राप्त होता है । महत् बनकर ये सुख भोगते हैं ।

वस्तुतस्तु **'कस्यैतत् सुखं भवति ?'**–का उत्तर है–**'प्राज्ञस्यैतत् सुखं भवति'**–यह । सुखभोग भोग है । भोग करना भोक्तात्मा का काम है । वैश्वानरतैजसयुक्त प्राज्ञ ही भोक्तात्मा है । दूसरे शब्दों में केवल **'देवसत्य'** ही भोक्तात्मा है । तीनों कलाओं का समष्टिरूप प्रज्ञान तुरीय है । विना मन और इन्द्रियों के भोग अनुपपन्न है, अतएव–**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'**–यह कहा जाता है । प्रज्ञान-प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर'–तीनों में अनुस्यूत रहता है । जब तक प्रज्ञान वैश्वानर के साथ रहता है–तब तक जाग्रदवस्था है । प्रज्ञानसंपरिष्वक्त जाग्रदवस्थापन्न वैश्वानर ही 'स्थूलभुक्' है । प्रज्ञान स्वप्नावस्थापन्न तैजस–प्रविविक्तभुक् (संस्कारभुक्) है एवं प्रज्ञानसंपरिष्वक्त सुषुप्त्यवस्थापन्न प्राज्ञ आनन्दभुक् है । इस अवस्था में क्रियार्थरूप विजातीय तैजस-वैश्वानर का सम्बन्ध नहीं रहता, अतः शुद्धप्राज्ञ प्रज्ञान में डूबकर प्रज्ञानमय बन जाता है । इसलिए हम प्रज्ञान को **'सुखभोक्ता'** कह सकते हैं । इस अवस्था में प्रज्ञान ही नहीं अपि तु, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, प्रज्ञान, विज्ञान सबका महदक्षर में अप्यय है । वैश्वानर पार्थिव है, तैजस वायव्य है एवं प्राज्ञ ऐन्द्र है । इन्द्रिएँ--अग्नि, वायु, इन्द्र, दिक्-भास्वर सोममय हैं । प्रज्ञान चान्द्रसोममय है । विज्ञान सौर तेज है । यह सारा प्रपञ्च इस अवस्था में वहाँ विलीन होकर अपने-अपने नाम-रूप-कर्म्म छोड़ता हुआ तद्रूप हो जाता है । सब में अनुस्यूत चेतनांश भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाके भिन्न-भिन्न कार्य्य करता हुआ भिन्न-भिन्न नाम धारण किए हुए

था। वह सिमटता हुआ जब घन में आ जाता है तो सब के नामरूप गायब हो जाते हैं। कहने को प्राज्ञ 'आनन्दभुक्' है-यह कहना ही कहना है। भोक्तृदृष्टि से यह कहना सच है, परन्तु आत्मदृष्टि से न यहाँ प्रज्ञान का प्रज्ञानपना है, न प्राज्ञ का प्राज्ञपना है। सब सत्त्वरूप बन रहे हैं। बस, सत्त्वरूप में परिणत-यह सारा प्रपञ्च सुख का अधिकारी बनता है। परन्तु इस अध्यात्मसंस्था में प्राज्ञ असली जीवात्मा है। इसी का सारा तन्त्र है। इस विज्ञान को लक्ष्य में रखकर प्राज्ञ को 'आनन्दभुक्' बतला दिया जाता है। परन्तु यह भी इस समय सत्त्वरूप है, अतएव अन्ततोगत्वा हम कह सकते हैं कि-सत्त्वरूप में परिणत, अतएव उसी नाम से प्रसिद्ध प्राज्ञ सुखभोक्ता है। यहाँ यह सुख किसका है ? इसका उत्तर है-सत्त्व महान् का। किसे होता है ? कौन भोगता है ?-इसका उत्तर है-सत्त्वरूप विज्ञानप्रज्ञानसंपरिष्वक्त प्राज्ञ को। इस विषय का विशद विवेचन हम आगे आने वाले माण्डूक्योपनिषद् में करने वाले हैं। अतः यहाँ इसे अधिक नहीं बढ़ाकर-दो चार बातें और कहकर चौथे प्रश्न के इस अवान्तर चौथे प्रश्न को समाप्त करते हैं।

जिस अवस्था के आ जाने पर कुछ भी होश नहीं रहता, उस अवस्था का निरूपण यदि जटिल हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है। 'सुषुप्ति' में महान् का सुख महान् को ही होता है-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भोक्ता नहीं। महान् का सुख प्राज्ञ को-प्रज्ञान को होता है-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों का अप्यय है। परन्तु सुख होता अवश्य है। प्रज्ञानविज्ञानादि लुप्त हैं। परन्तु प्रातः 'खूब सोया' ये अक्षर निकलते हैं। यह ज्ञान किसको हुआ ?-उत्तर वही महान् है। महान्-ज्ञान उस समय भी रहता है-जैसा कि पूर्व के प्रकरण में बतलाया जा चुका है। ज्ञानांश महान् का है-इसलिए महान् को भी अलग नहीं किया जा सकता। भोगांश प्रज्ञानसंपरिष्वक्त प्राज्ञ का है-इसलिए इसे भी अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में यदि इस प्रश्न का कोई उत्तर हो सकता है तो-'एतत् सुखं भवति' यह गोल-गोल उत्तर ही हो सकता है। किसका सुख किसको होता है ?-यह प्रश्न भी नहीं बन सकता। अमुक को अमुक का सुख होता है-यह उत्तर भी नहीं बन सकता। इसीलिए ऋषि को-'कस्य एतत् सुखं भवति' ?-यह गोल-गोल ही प्रश्न करना पड़ता है-एवं 'अथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत् सुखं भवति'-यह गोल-गोल ही उत्तर देना पड़ता है, क्योंकि वह अवस्था ही ऐसी है। द्वैतातीत अवस्था के लिए निश्चितरूप से 'कस्य कं'-आदि भेदविषयक वाक्य निकल ही नहीं सकते जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति" ॥६॥

यही कारण है कि आगे जाकर ऋषि को 'वयांसि' कहना पड़ा है। विज्ञान, इन्द्रिएँ, प्रज्ञान, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ आदि-आदि सब वयांसि हैं। इस अवस्था में विज्ञान द्वारा सब उसमें प्रतिष्ठित होकर 'एतत्' नाम धारण कर लेते हैं। 'कठ' में जिस आत्मा के लिए बार-बार 'एतद्वै तत्-एतद्वै तत्'-यह कहा

है । उसी अर्थ में यहाँ 'एतत्' प्रयोग है । किसको किसका सुख होता है ? यह कुछ नहीं कहा जा सकता । सारा प्रपञ्च एतद्रूप में (आत्मरूप में) परिणत होकर सुखरूप हो जाता है । भोक्तृभोग्यभाव नहीं है । वही भोक्ता है–वही भोग्य है । प्रश्न था–**'कस्यैतत् सुखं भवति ? कस्य-एतत्सुखं-भवति'** ?–ये तीन खण्ड कीजिए । 'कस्य' का अर्थ है–'किसका', **'एतत्सुखं'**–का अर्थ है–आत्मरूप सुख--**'भवति'** का अर्थ है–होता है । इस प्रकार सबको मिलाकर–'किसका आत्मरूप सुख होता है ?–यह वाक्य बन जाता है । इसका उत्तर है–महान् का आत्मरूप सुख होता है । अर्थात्–सुषुप्ति में जो सुख होता है–वह महान् का है । इस अवस्था में सारा प्रपञ्च 'एतत्' बनकर तन्मय हो जाता है । जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते" ।।७।।

——❀——
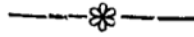
'वयांसि' दृष्टान्त से ऋषि **'एतत्'** रूप में जाने वाले अनेक भाग समझते हैं । वे अनेक पक्षी कौन से हैं–जो 'एतत्' रूप सुखमय बनते हैं ? बस, आगे का ८वां मन्त्र इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ हमारे सामने आगे आता है ।

प्रश्न के प्रारम्भ में पाश्चात्यमत की समालोचना करते हुए हमने–गुण, अणु, रेणु, भूत, भौतिक भेद से पाँच प्रकार के भूतों का निरूपण किया है । आठवें मन्त्र के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए यहाँ भी उसी विषय का स्मरण करना आवश्यक होगा । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–ये पाँच तन्मात्राएँ हैं । इन्हीं को हमने **'गुणभूत'** कहा है । गुणभूत अणुभूत कैसे बने, अणुभूत रेणु कैसे बने ?–अभी इस प्रश्न को जाने दीजिए । अभी केवल यही समझिए कि गुणभूत-अणु-रेणुरूप में परिणत होते हुए क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी–इन पाँच महाभूतों के स्वरूप में परिणत हो गए । शब्दतन्मात्रा से अणुरेणु द्वारा आकाशभूत उत्पन्न हुआ । इसीलिए शब्द को आकाश का गुण (गुणभूत) माना जाता है । स्पर्शगुण वायु का जनक बना । रूपगुण तेज का जनक बना । रसगुण जल का जनक बना एवं गन्धगुण पृथिवी का जनक बना ?

१–पृथिवी का गुण (उपादानरूप गुणभूत-दर्शनानुसार-गन्धतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध) गन्ध है ।
२–जल का गुण (उपादानरूप गुणभूत-दर्शनानुसार रसतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध) रस है ।
३–तेज का गुण (उपादानरूप गुणभूत-दर्शनानुसार रूपतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध) रूप है ।
४–वायु का गुण (उपादानरूप गुणभूत-दर्शनानुसार स्पर्शतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध) स्पर्श है ।
५–आकाश का गुण (उपादानरूप गुणभूत-दर्शनानुसार–शब्दतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध) शब्द है ।

एक बात और । उत्तरोत्तर के भूत में पूर्व-पूर्व के भूतों का समन्वय रहता है, अतएव–उत्तरोत्तर भूत में पूर्व-पूर्व के गुणों का भी समन्वय रहता है ।

आकाश में केवल शब्दमात्रा है। वायु में–**वायुःखातशब्दस्तत्**'–इस प्रातिशाख्य-सिद्धान्त के अनुसार शब्द-स्पर्श-दोनों तन्मात्राएँ हैं। तेज में शब्द, स्पर्श, रूप–तीन मात्राएँ हैं। इसीलिए तो तेजोमय इन्द्र के लिए '**वागिन्द्रः**' कहा जाता है। जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस–ये चार मात्राएँ हैं एवं पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–पाँचों तन्मात्राएँ हैं। ऐसा होने पर भी चूंकि पाँचों में क्रमशः प्रधानता शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–इन पाँच मात्राओं की ही है, अतएव वे तत्तन्मात्राओं से युक्त ही कहलाता है। आकाश शब्दप्रधान है। वायु स्पर्शप्रधान है, तेज रूपप्रधान है। जल रसप्रधान है एवं पृथिवी गन्धप्रधान है। आकाशादि पाँचों महाभूतों की उपादानभूता ये पाँचों मात्राएँ–इन पाँचों नामों से ही व्यवहृत होने लगती हैं। गन्धमात्रा–'**पृथिवीमात्रा**' कहलाती है। रसमात्रा '**आपोमात्रा**' नाम से व्यवहृत होती है। रूपमात्रा '**तेजोमात्रा**' नाम से प्रसिद्ध है। स्पर्शमात्रा '**वायुमात्रा**' कहलाने लगती है एवं शब्दमात्रा '**आकाशमात्रा**' नाम से पुकारी जाती है। पाँच भूत क्रमशः–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पाँचों अपनी-अपनी मात्राओं से युक्त हैं। यह सारा भौतिक प्रपञ्च–'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**'-के अनुसार उस षोडशी के 'क्षर' भाग से सम्बन्ध रखता है। बाकी बच जाते हैं–अक्षर और अव्यय। दोनों आलम्बन निमित्तरूप आत्मा हैं। इनके साथ उपादानभूत वही तीसरा आत्मक्षर है। बस, क्षराक्षराव्ययविशिष्ट आत्मा से (अपने अव्ययाधार पर अक्षर द्वारा क्षर से) पहले पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। अनन्तर वे ही अणु रेणु में परिणत होती हुई पाँच महाभूतों में परिणत हो जाती हैं। इसी भूतसृष्टि को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"–इति ॥[1]

इन पाँचों में जो गन्धमात्रावाली पृथिवी है–वह मर्त्यामृत भेद से दो प्रकार की है। इसमें पिण्डपृथिवी मर्त्या पृथिवी है एवं उरूया पृथिवी अमृता पृथिवी है। उरूया पृथिवी में ९-१५-२१ तीन स्तोम आग्नेय हैं। २७-३३ दो स्तोम सौम्य हैं। ९ तक अग्नि है। १५ तक वायु है–२१ तक इन्द्र है। २७ तक भास्वरसोम है एवं ३३ तक दिक्सोम है। इस प्रकार उस पार्थिवभाग में अग्नि, वायु, आदित्य, भास्वरसोम, दिक्सोम–इन पाँच देवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन पाँचों में जो अग्नि है, वही अष्टावयव है। ये ही आठ वसु हैं। वायु एकादशावयव है। ये ही ११ रुद्र हैं एवं आदित्य द्वादशावयव हैं। ये ही १२ आदित्य हैं एवं दो सान्ध्यप्राण हैं। वे ही अश्विनीकुमार नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार एक अग्नि के तीन-तीन के तैंतीस देवता हो जाते हैं। पार्थिव वस्वग्नि की प्रतिष्ठारूप पार्थिव त्रिवृत्स्थानीय अग्नि वैश्वानर कहलाता है। आन्तरिक्ष्य रुद्राग्नि की प्रतिष्ठारूप आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि '**हिरण्यगर्भ**' नाम से प्रसिद्ध है एवं दिव्य आदित्याग्नि की प्रतिष्ठारूप दिव्यादित्याग्नि '**सर्वज्ञ**' नाम से प्रसिद्ध है। सर्वज्ञ में वह ऊपर के दोनों सोम युक्त रहते हैं। सोमसम्बन्ध से ही ज्ञानयुक्त

१–तैत्ति० उप० २।१।

होता हुआ वह आदित्यभाग '**सर्वज्ञ**' कहलाने लगता है। सर्वज्ञ के ऊपर वही प्रज्ञान है। प्रज्ञान पर विज्ञानमय सूर्य्य है। ऊपर महान् है। ऊपर अव्यक्त है। ऊपर षोडशी है। अव्ययात्मक्षरगर्भित अक्षर तत्त्व है। उसकी व्याप्ति '**महद्ब्रह्मैकमक्षरम्**' के अनुसार प्रधानरूप से '**महद्रूप-परमेष्ठी**' तक है। इसी के आधार पर सारा प्रपञ्च प्रतिष्ठित है। इसी अभिप्राय से—

"गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्"।[1]

—यह कहा जाता है। यह सारा प्रपञ्च उसी से निकला है। अन्त में उसी में विलीन हो जाएगा। सूर्य्य में पहले सबका लय होता है। इन सबको लिए हुए सूर्य्य उसमें विलीन हो जाता है। यह है—ब्राह्मी (आधिदैविकी) स्थिति। ईश्वर-प्रजापति का संक्षिप्तस्वरूप निदर्शन—

इस पूर्वोक्त ईश्वर से जीवसृष्टि होती है। जीव उसका अंश है, अतएव—'**पूर्णमदः पूर्णमिदं**', '**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह**'—इस सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ पदार्थ उसमें हैं—सो सब मात्रा की

१—मुण्डकोप० २।२।१।

अल्पता से इसमें हैं। केवल नाममात्र में अन्तर है–जैसा कि 'कठोपनिषत्' के–'ब्रह्मसत्य-देवसत्यप्रकरण' में बडे विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। जैसे वहाँ पहले सूर्य्य में सबका लय होता है–पश्चात् सब पर-अक्षर में जाकर प्रतिष्ठित होते हैं, एवमेव यहाँ पहले सब कलाएँ सूर्य्यस्थानीय विज्ञान में जाती हैं–अनन्तर उस पर-अक्षर में प्रतिष्ठित होती हैं–जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा। शरीर पाञ्च भौतिक है। पाँच भूत हैं। पाँचों के साथ पाँचों तन्मात्राएँ हैं। प्रश्न के प्रारम्भ में दस वैदिक इन्द्रियों का निरूपण किया जा चुका है। इन्द्रियज्ञान में–प्रज्ञा, प्राण, भूत–तीन मात्राएँ रहती हैं। प्रज्ञान के सम्बन्ध से १० ही इन्द्रिएँ होती हैं। परन्तु यहाँ ऋषि को विज्ञानकलाओं का निरूपण करना है। विज्ञान षोडशकल है–जैसे रथनाभि में आरे अर्पित रहते हैं, एवमेव आगे बतलाई जाने वाली १६कलाएँ विज्ञानपुरुष में अर्पित रहती हैं। जैसे प्रतिसंचरक्रम में विज्ञानघन सूर्य्य अपनी सोलह कलाओं को लेकर उस महदक्षररूप अमृतात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है–एवमेव सुषुप्त्यवस्था में अपनी सोलह कलाओं को लेकर वह विज्ञान उस अक्षर में प्रतिष्ठित हो जाता है।

१६ कलाएँ प्रधान हैं। इन १६ कलाओं का आयतन शरीर है। शरीर पञ्चकल है। यदि मात्राओं को भी मिला लिया जाता है तो १० कलाएँ हो जाती हैं। १० शरीर कलाएँ, ५ ज्ञानेन्द्रिएँ, ५ कर्मेन्द्रिएँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार–यह अन्तःकरण-चतुष्टयी, तेज, पञ्चप्राणात्मक प्राण–कुल २६ कलाएं हो जाती हैं। इन २६ कलाओं में से पहले शारीर १० कलाओं को ही लीजिए। ये असल में विज्ञान की कलाएँ नहीं हैं–अपि तु, भूतात्मा की कलाएँ हैं। अध्यात्मप्रविष्ट वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञरूप ईश्वरीय देवसत्य वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। इन तीनों की समष्टि भूतात्मा है। तीनों अग्नि, वायु, इन्द्ररूप हैं। तीनों अमृतपृथिवी की वस्तु हैं। पञ्चीकृत अतएव पञ्चभूतमयी पिण्डपृथिवी से शरीर बना है। शरीर मर्त्याग्निरूप है एवं शरीरप्रविष्ट भूतात्मा अमृताग्निरूप है। अमृताग्नि ही मर्त्याग्नि की प्रतिष्ठा है। जब तक अमृताग्निरूप भूतात्मा शरीर में रहता है, तभी तक शरीर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। जब वह निकल जाता है तो शरीर उसी क्षण प्रतिष्ठाशून्य हो जाता है। चूंकि पञ्चभूतमय शरीर की प्रतिष्ठा भूतात्मा में है, अतएव इसकी १० कलाओं को हम इस भूतात्मा की कलाएँ बतलाने के लिए तय्यार हैं। जैसे शब्दादि विषयों को लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने में समर्थ होता है, एवमेव पञ्चभूतात्मक शरीर स्वस्व पाँचों मात्राओं को लेकर ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकता है। **'द्रष्टव्यं श्रोतव्यम्'**–इत्यादि के स्थान में यहाँ **'मात्राएँ'** हैं। यदि इस प्रकार विषयरूपकलाओं का भी समन्वय कर लिया जाता है तो कुल ४२ कला हो जाती हैं। अस्तु, कहना यही है कि पृथिवी आदि १० का सम्बन्ध **'भूतात्मा'** से है। ये उसकी १० कलाएँ हैं।

अब चलिए दशकल इन्द्रियवर्ग (विषययुक्त २० कल) की ओर। इन सबका उक्थ प्रज्ञान है, अतएव संकल्पविकल्पात्मक इस प्रज्ञानमन को **'सर्वेन्द्रियमन'** कहा जाता है। इसीलिए तो पूर्व में–**'एवं ह वै तत् सर्वं परदेवे मनस्येकीभवन्ति'**–यह कहा है। इस प्रकार इन इन्द्रियों का मन की कला होना सिद्ध हो जाता है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार–ये चारों महान् की कलाएँ हैं। महान् की रश्मि ही मन को मन बनाए रखती है, बुद्धि को बुद्धि बनाए रखती है, अहं को अहं बनाए रखती है। स्वस्व सत्त्वचित्त को स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रखती है एवं तेज और प्राण दोनों सौरप्राणरूप विज्ञान की कलाएँ हैं। हमारे में अव्ययगर्भित महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा–चार प्रधान खण्डात्मा हैं। चारों की पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न कलाएँ हैं–जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

१–भूतात्मा = (वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमय)—१० कलः—

१–पृथिवी — १–पृथिवीमात्रा
२–आपः — २–आपोमात्रा
३–तेज — ३–तेजोमात्रा
४–वायु — ४–वायुमात्रा
५–आकाश — ५–आकाशमात्रा
→ १०

२–प्रज्ञानात्मा = (मनः)—सर्वेन्द्रियमनः—विंशतिकलः—

१–चक्षु — १–द्रष्टव्य
२–श्रोत्र — २–श्रोतव्य
३–घ्राण — ३–घ्रातव्य
४–रस — ४–रसयितव्य
५–त्वक् — ५–स्पर्शयितव्य
६–वाक् — ६–वक्तव्य
७–हस्त — ७–आदातव्य
८–उपस्थ — ८–आनन्दयितव्य
९–पायु — ९–विसर्जयितव्य
१०–पाद — १०–गन्तव्य
→ २०

३–महानात्मा—अष्टकलः—

१–मनः	— १–मन्तव्यम्	
२–बुद्धिः	— २–बोद्धव्यम्	→ ८
३–चित्तम्	— ३–चेतयितव्यम्	
४–अहंकारः	— ४–ग्रहंकर्त्तव्यम्	

४–विज्ञानात्मा=चतुष्कलः—

१–तेजः	— १–विद्योतयितव्यम्	→ ४
२–प्राणः	— २–विधारयितव्यम्	

संकलनेन—द्वाचत्वारिंशत् = '४२'

परन्तु यहाँ ऋषि का सब कलाओं का विज्ञान के साथ सम्बन्ध अपेक्षित है। इस उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य **'अक्षर'** (विज्ञानाक्षर) तत्त्व है। अक्षरतत्त्व का पूर्ण विकास इसी में होता है। हिरण्यगर्भ विद्यामूलक इसी अक्षर को बतलाना ही इस उपनिषत् को अभीष्ट है। जैसा कि छठे प्रश्न में विस्तार के साथ बतलाया जाएगा। इसीलिए भिन्न-भिन्न आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाली तत्तत्कलाओं का ऋषि ने मध्यपतित विज्ञान के साथ ही सम्बन्ध माना है। यह मानना भी कोरी कल्पना नहीं है–अपि तु, यथार्थ है। महानात्मा अमृतमण्डल की वस्तु है। प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा मर्त्यमण्डल की वस्तु हैं। मध्यपतित सूर्य्यस्थानीय विज्ञानात्मा–**'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च'**–के अनुसार दोनों का अनुग्राहक है। दोनों दोनों पर इसकी व्याप्ति है। प्रज्ञान में जो प्रज्ञानपना है–वह इसी विज्ञान की महिमा है। विज्ञान-तेज से प्रज्ञान प्रकाशित हो रहा है। प्रज्ञान से निकलने वाली रश्मिएँ इन्द्रिएँ हैं। ये रश्मिएँ असल में विज्ञान की हैं। वही तो प्रज्ञानरूप में परिणत होकर बाहर निकलता हुआ इन्द्रियरूप में परिणत हो रहा है। प्रज्ञान अपनी रश्मियों से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ में व्याप्त हो रहा है। यह व्याप्ति भी विज्ञान की ही है। वही विज्ञान प्रज्ञानरूप में परिणत होकर इन्द्रिएँ बना है–वही भूतात्मा बना है–वही प्रज्ञान बना है। सूर्य्यांशभूत विज्ञान में ज्योति, गौ, आयु तीन भाग हैं। ज्योतिर्भाग से इन्द्रियदेवताओं का विकास हुआ है। भूतभाग से पञ्चभूत का विकास हुआ है। आयुर्भाग से प्रज्ञानात्मा और भूतात्मा का स्वरूप बना है। इस प्रकार प्रज्ञान और प्रज्ञान की बीसों कलाएँ, भूतात्मा और उसकी दसों कलाएँ परमार्थतः ज्योतिर्गौरायुर्घन विज्ञान की ही कलाएँ हैं।

अब चलिए अमृतरूप महान् की ओर। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार चार महान् की कलाएँ बतलाई गई हैं। चित्त महान् का सत्त्वभाग है। मन प्रज्ञान है। बुद्धि विज्ञान है। अहंकार आत्मभाव है। विज्ञान के दर्शपूर्णमास से महान् में आकृति-प्रकृति-अहंकृति-तीन भाव उत्पन्न होते हैं। जैसा कि **'या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी'**-में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। इसमें अहंकृति का उदय इस विशुद्ध विज्ञान से होता है। प्रकृति का उदय प्रज्ञानगर्भित विज्ञान से होता है एवं आकृति का उदय भूतसंपरिष्वक्त विज्ञान से होता है। अपि च-इसी विज्ञानसूर्य्य के सम्बन्ध से उसमें सत्त्व, रज, तमोरूप त्रैगुण्य उत्पन्न होता है। सत्त्व चित्त है। इसका उदय भी विज्ञान पर निर्भर है। महान् सोममय है। प्रज्ञान मन भी सोमरूप है। प्रज्ञानसोमरूप चन्द्रमा महत्सोमरूप परमेष्ठी का अंश है-इसीलिए तो प्रज्ञानमन महान् की कला कही जाती है। चित्तरूप सत्त्व भी सोम ही है, अतः वह भी महान् की कला कही जाती है। विज्ञानरूप बुद्धि में जो चैतन्य आया है-वह सोम पर (जो कि चिन्मय सोम 'केनोपनिषत्' में हैमवती उमा नाम से व्यवहृत किया गया है) ही आया है। सोम चूंकि महान् का भाग है, अतः इस सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर बुद्धिरूप विज्ञान को भी महान् की कला मानली जाती है। महान् का 'अहं' भाग ही अहंकृतिरूप विज्ञानसम्बन्ध से अहंकृतिरूप में परिणत होता है, अतः इसे भी उसकी कला मानली जाती है। परन्तु परमार्थतः ये चारों कलाएँ उस विज्ञान की हैं। यदि विज्ञान न होता तो चित्तरूप सत्त्व का उदय असंभव था। प्रज्ञान का प्रज्ञानपना असंभव था। अहंकृतिभाव अनुपपन्न था एवं बुद्धि तो स्वयं वह है ही। उसी की तो ये सारी कलाएँ हैं। इतर सारी कलाएँ इसकी गौण हैं। एवं तेज और प्राण दो कलाएँ मुख्य हैं। बुद्धि से वहाँ विज्ञानात्मा अभिप्रेत नहीं हैं-अपि तु, विज्ञान से निकलने वाली रश्मियाँ अभिप्रेत हैं। विज्ञान उक्थ है। बुद्धि अर्क है। बुद्धि का बोद्धव्य के साथ सम्बन्ध है। विषय बोद्धव्य (ज्ञेय) है। वहाँ पर बुद्धि जाती है। विज्ञान उक्थरूप से प्रतिष्ठित है।

हम पूर्व के उपनिषदों में यह कई बार कह चुके हैं कि प्रज्ञान विना विषय के कभी अपना व्यापार नहीं कर सकता। परन्तु विज्ञान दोनों भावों से सम्बन्ध रखता है। जब विज्ञान प्रज्ञान के साथ विषय पर जाता है-तब तो उसका व्यापार विषयसहकृत है। परन्तु स्वतन्त्र विज्ञान विना विषय के नई नई कल्पनाएँ करता रहता है, उसका बोद्धव्यविषय नहीं है-केवल ज्ञानीयविषय है। विज्ञान ही प्रकाशक बन रहा है। उसी का भाग प्रकाश्य बन रहा है। यहाँ विषयापेक्षा नहीं है। प्रज्ञान के द्वारा जो विज्ञान रश्मिएँ विषय पर जाती हैं-वैज्ञानिकों ने उसका नाम **'बुद्धि'** रखा है। इस समय विज्ञान से निकलने वाली बुद्धिरूप रश्मियों में क्रमिक आने वाले महदक्षररूप चैतन्य का सम्बन्ध है-जो कि महान् से विज्ञान में आया-बुद्धिरूप (रश्मिरूप) में परिणत होकर प्रज्ञान में आया तद्द्वारा विषय पर गया-यह क्रम है। इस प्रकार प्रज्ञानसंपरिष्वक्त, अतएव बुद्धिनाम से प्रसिद्ध **'इदमित्थमेव'**-यह निश्चय ज्ञान करवाने वाली विज्ञानरश्मिएँ क्रमिक चिदावतार सम्बन्ध से महानात्मा की कला मानली जाती हैं। परन्तु यह कोरा मानना ही मानना है। यथार्थ में विज्ञान से निकलने वाली रश्मिरूपा बुद्धि विज्ञान की ही कला है।

अब चलिए शुद्ध विज्ञान की ओर। शुद्ध विज्ञान का विषय से सम्बन्ध नहीं रहता। वहाँ केवल स्वप्रकाश से नया विषय बनाकर वह उसे प्रकाशित किया करता है। शुद्ध विज्ञान से निकलने वाला प्रकाश

उसकी प्रातिस्विक कला है। विज्ञान में ज्ञान-क्रिया दो भाग हैं। जिनका कि 'ईशोपनिषत्' के-**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह**'-इत्यादि मन्त्र में विशद निरूपण किया जा चुका है। सूर्य्य ज्ञानघन भी है-इसलिए तो उसके लिए-**धियो यो नः प्रचोदयात्**-यह कहा जाता है। सूर्य्य का जो प्रकाश है-जिससे सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है-वह तेज है। वह उसकी प्रातिस्विक कला है। सूर्य्य क्रियाघन है, अतएव उसके लिए इसी उपनिषत् में-'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'-यह कहा जाता है। प्राण क्रियातत्त्व है। प्रकाश ज्ञानतत्त्व है। सूर्य्य ज्ञानक्रियामय उक्थ है। ज्ञानोक्थ भाग से तेजोरूप अर्क निकलते हैं एवं क्रियोक्थ भाग से प्राणरूप अर्क निकलते हैं। विषय विद्योतयितव्य (जाननेयोग्य) है। इसको जानना प्रज्ञान का काम है। परन्तु जानने योग बनता है-उसी तेज के कारण। देखती है हमारी आँख, परन्तु देखने लायक बनाता है, सौर तेज। दूसरा काम है-विधरण करना। '**सर्वं बृहत्या प्राणेन विष्टब्धम्**'-'**अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य एतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि**'-इत्यादि पूर्वप्रपञ्च के अनुसार सौर प्राण ही सब का विधर्त्ता है। आध्यात्मिक विज्ञान आध्यात्मिक सूर्य्य है। जो उसकी कला एवं कौशल (कार्य्य) है-वही कला-कौशल इसका है। भूतात्मा-सम्बन्ध से पृथिवी आदि दसों (१०) कलाएँ, प्रज्ञान-सम्बन्ध से, बीसों चक्षु आदि कलाएँ, महान् के सम्बन्ध से मन आदि आठों कलाएँ विज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं एवं तेज आदि शुद्ध विज्ञान की अपनी प्रातिस्विक कला हैं। सविषय अतएव महान् कलाभूत बुद्धिरूप विज्ञान का विषय से सम्बन्ध होने के कारण उसके लिए '**बुद्धिश्च बोद्धव्यं च**' कहा है। निर्विषयक अतएव स्वतन्त्र विज्ञान के लिए '**तेजश्च विद्योतयितव्यश्च**'-कहा है? इस प्रकार विज्ञान के साथ सारी कलाओं का सम्बन्ध हो जाता है।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण (नासा), रस, (रसना-जिह्वा), त्वक्-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। देखने योग्य पदार्थ, सुनने योग्य सारे शब्द, सूंघने योग्य सारे गन्ध, स्वाद लेने योग्य सारे स्वाद (स्वादमय पदार्थ), स्पर्श करने योग्य सारे (वायु, स्थूल पदार्थ)-इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। पाँचों का इन्द्रियों द्वारा आत्मा पर (विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञान पर) संस्कार होता है।

वाक् (मुख), हस्त, उपस्थ, पायु, पाद-ये कर्म्मेन्द्रिएँ हैं। बोलने योग्य सारे शब्द, लेने योग्य सारे पदार्थ, आनन्द देने योग्य रति-क्रीड़ा, त्याग करने योग्य मल-अपानवायु आदि, चलने योग्य मार्ग-ये इन पाँचों के विषय हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-चार अन्तःकरण हैं। मनन करने योग्य विषय, जानने योग्य विषय, '**चेतयितव्य**,' '**मया इदं कर्त्तव्यम्**' '**अहमस्मि**'-**आदिरूप अहंकर्त्तव्यता**,-ये चारों इनके विषय है। तेज, प्राण, (ज्ञान, क्रिया) विज्ञान की दो प्रातिस्विक कला हैं। अनुभव में आने योग्य निर्विषयक ज्ञान, विधारण करने योग्य पदार्थ-इन दोनों के विषय हैं। इन सबके संकलन से विज्ञान '**द्वाचत्वारिंशत्कल**'। हो जाता है—

१–पृथिवी	—	१–पृथिवीमात्रा	(गन्धतन्मात्रा)	→ पञ्चकलं पञ्चभूतात्मकं 'भोगायतनभूतं–'शरीरम्'
२–आपः	—	२–आपोमात्रा	(रसतन्मात्रा)	
३–तेज	—	३–तेजोमात्रा	(रूपतन्मात्रा)	
४–वायु	—	४–वायुमात्रा	(स्पर्शतन्मात्रा)	
५–आकाश	—	५–आकाशमात्रा	(शब्दतन्मात्रा)	

१–चक्षुः	—	१–द्रष्टव्य	—	(रूप)	→ ज्ञानेन्द्रिएँ–५
२–श्रोत्रम्	—	२–श्रोतव्य	—	(शब्द)–सुने जाने वाले	
३–घ्राणम्	—	३–घ्रातव्य	—	(गन्ध)	
४–रसः (ना)	—	४–रसयितव्य	—	(रस)–स्वाद लिए जाने वाला	
५–त्वक्	—	५–स्पर्शयितव्य	—	(वायु)–वायु, इतर भूतपदार्थ	
६–वाक्	—	६–वक्तव्य	—	–बोले जाने वाला	→ कर्मेन्द्रिएँ–५
७–हस्तौ	—	७–आदातव्य	—	–ग्राह्य पदार्थ	
८–उपस्थ-	—	८–आनन्दयितव्य	—	–रतिविषय	
९–पायुः	—	९–विसर्जयितव्य	—	–मल-अपान त्याग	
१०–पादौ	—	१०–गन्तव्य	—	–मार्गगति	

१–मन	—	१–मन्तव्य		→ अन्तःकरण-चतुष्टयी–४
२–बुद्धि	—	२–बोद्धव्य	—(विषय, ज्ञानसम्बन्धी विषय)	
३–अहंकार	—	३–अहंकर्त्तव्य		
४–चित्त	—	४–चेतयितव्य		

१–तेजः	—	१–विद्योतयितव्य	}→प्रातिस्विके कले–२
२–प्राणः	—	२–विधारयितव्य	

वस्तुतः कलाएँ कुल सोलह ही हैं। १६ कलाओं के १६ विषय तो विषय हैं। ५ ज्ञानेन्द्रिएँ, ५ कर्म्मेन्द्रिएँ, ४ अन्तःकरण, २ प्रातिस्विक कलाएँ–कुल १६ कलाएँ हो जाती हैं। छठे प्रश्न में प्रकारान्तर से १६ कलाओं का निरूपण किया जाएगा। वहीं **'खं' वायुः, ज्योतिरापः'**–इत्यादि से पृथिवी आदि का भी समावेश कर लिया गया है–जैसा कि वहीं स्पष्ट हो जाएगा। यहाँ **'खं वायुः'** आदि को आयतन मानकर शेष १६ कलाएँ विवक्षित हैं। ईश्वर पूर्णेन्द्र है–परन्तु जीव अर्द्धेन्द्र है। वह सर्वशक्तिमान् है–सर्वज्ञ है–सर्वधर्म्मोपपन्न है। पूर्णज्ञान की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ है। पूर्णक्रिया-सम्बन्ध से सर्वशक्तिमान् है एवं अर्थमात्र का अधिष्ठाता होने से **'सर्वधर्म्मोपपन्न'** है। **'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति'**–इस सिद्धान्त के अनुसार सारे जीव उस घन के अंशमात्र हैं, अतएव यह अल्पज्ञ, अल्पशक्ति नियतधर्म्मा है। सबको देखना, सुनना–यह सर्वतः पाणिपाद उसका काम है, न कि इन नियतेन्द्रिय जीवों का। इसी विज्ञान को बतलाने के लिए **'द्रष्टव्यः'**–इत्यादि कहा है। देखने योग्य ही देख सकता है–सुनने योग्य ही सुन सकता है–इत्यादि का तात्पर्य्य यही है कि वह जीव परिच्छिन्न है–पाप्माओं से संसृष्ट है। बस, ८ वाँ मन्त्र इसी अर्थ का (विज्ञान की कलाओं का) ही निरूपण करता है। **'एतत्'** से कौन कलाएँ अभिप्रेत हैं–वृक्ष में प्रतिष्ठित होने वाले **'वयांसि'** कौन हैं? इसका यही उत्तर है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च" ॥८॥

॥ ४ ॥

५–पाँचवां प्रश्न है—

"कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति" ?

अव्यय, अक्षर, क्षर-आत्मा त्रिकल है। तीनों क्रमशः पर, परावर, अवर नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवीरूप विश्व का स्वयम्भू-परमेष्ठिभाग अमृत है। इसमें अव्यय की

प्रधानता है । चन्द्रमा-पृथिवी–दोनों मर्त्यभाग हैं । इनमें क्षर की प्रधानता है । मध्यपतित सूर्य्य अक्षर-प्रधान है । यह अमृतमृत्युमय है । अर्थात् इसके साथ अर्वाचीन मर्त्यक्षर का भी सम्बन्ध है–पराध्यं अमृताव्यय का भी सम्बन्ध है । इस प्रकार अक्षर का दोनों से सम्बन्ध रहता है । पूर्वोक्त सारी कलाएँ अवरक्षर से सम्बन्ध रखती हैं, अतएव जब तक विज्ञान इनसे संश्लिष्ट रहता है–दूसरे शब्दों में जब इनकी प्रधानता में रहती है तो वह मध्यपतित परावर अक्षर **'अवर'** कहलाने लगता है । परन्तु वही कलाभेद का परित्याग करता हुआ जब पर-अव्यय की ओर झुक जाता है तो स्वयं भी निष्कल होता हुआ पररूप में (अव्ययरूप में) परिणत होता हुआ पराक्षर बन जाता है । पराक्षर को महदक्षर कहा जाता है, क्योंकि महदक्षर पर-अव्यय से संश्लिष्ट है । विज्ञानाक्षर कलाहीन बनकर महदक्षरमय होता हुआ स्वयं भी परअक्षर बन जाता है । गार्ग्य का पाँचवाँ प्रश्न था–**'कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति'**–यह । **'पृथिवीमात्रा०'** आदि मन्त्र से प्रतिष्ठित होने वालों का स्वरूप बतलाया । अब जिसमें ये प्रतिष्ठित होते हैं–उनका स्वरूप बतलाते हैं ।

पूर्व में १० इन्द्रिएँ बतलाई हैं । चार अन्तःकरण बतलाए हैं । दो विज्ञान की प्रातिस्विक कलाएँ बतलाई हैं । कुल १६ कलाएँ हो जाती हैं । यद्यपि कहीं कहीं इन्द्रियों को दस भी माना जाता है, परन्तु अन्ततोगत्वा पाँच इन्द्रियों में ही सबका अन्तर्भाव मान लिया जाता है । वे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन (इन्द्रियमन)–इन नामों से प्रसिद्ध हैं । त्वक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, आदि का मन में अन्तर्भाव मान लिया जाता है । यहाँ प्रकारान्तर से पाँच में सबका अन्तर्भाव माना है । चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्–ये पाँच ज्ञानेन्द्रिएँ हैं । वाक् आदि पाँच कर्म्मेन्द्रिएँ हैं । विज्ञानात्मा ज्ञानप्रधान है । इसमें कर्म्म गौण है एवं प्रज्ञान में कर्म्मभाग प्रधान है । ज्ञानभाग गौण है, अतएव कर्म्मेन्द्रियों का प्रधानरूप से प्रज्ञान के साथ सम्बन्ध रहता है एवं ज्ञानेन्द्रियों का प्रधानरूप से विज्ञान के साथ सम्बन्ध रहता है एवं मन, बुद्धि (विज्ञान की विषयरूपा विषयज्ञानसम्बन्धिनी रश्मि), चित्त, अहंभाव का भी इसी के साथ सम्बन्ध है । चक्षुःसम्बन्ध से वह द्रष्टा है, त्वक्सम्बन्ध से स्प्रष्टा है, श्रोत्रसम्बन्ध से वह श्रोता है, घ्राण सम्बन्ध से घ्राता है । रस (रसना) सम्बन्ध से रसयिता है । मन (प्रज्ञानमन) सम्बन्ध से मन्ता है । बुद्धिसम्बन्ध से बोद्धा है । चिदाविशिष्ट अहं सम्बन्ध से कर्त्ता है । तेजःप्राणरूप वह स्वयं हैं । चित्त सत्त्व का नाम है । सत्त्व महत् का अपना भाग है, अतः उसका प्रधानरूप से महान् के साथ ही सम्बन्ध होता है । शेष तीन (मन-बुद्धि-अहंकार) का, पाँच ज्ञानेन्द्रियों का इससे सम्बन्ध है । वह स्वयं तेजःप्राणरूप (ज्ञानक्रियारूप) है, अतः उन दोनों का स्व-स्वरूप में ही अन्तर्भाव है—

१–द्रष्टा	— चक्षुरपेक्षया ।	५–रसयिता	— रसनापेक्षया ।
२–स्प्रष्टा	— त्वगपेक्षया ।	६–मन्ता	— प्रज्ञानमनोऽपेक्षया ।
३–श्रोत्रा	— श्रोत्रापेक्षया ।	७–बोद्धा	— बुद्धयपेक्षया ।
४–घ्राता	— घ्राणापेक्षया ।	८–कर्त्ता	— अहंकारापेक्षया ।

विज्ञानात्म. ([illegible]प)

चित्तस्य-महदात्मन्यन्तर्भावः	–१
कर्म्मेन्द्रि०-प्रज्ञानात्मनि-अन्तर्भावः	–५
तेजःप्राणयोः-स्वस्वरूपेऽन्तर्भावः	–२
	८

ऐसा वह विज्ञानात्मा पुरुष इस सुषुप्त्यवस्था में सारी कलाओं को अपने में लीन कराता हुआ उसी पर-अक्षर में (अव्ययसंश्लिष्ट अतएव 'पर' नाम से प्रसिद्ध महदक्षर में) प्रतिष्ठित हो जाता है। विज्ञानाक्षर यदि वहाँ चला जाता है तो सबको लेता हुआ स्वयं तद्रूप हो जाता है-यही इसका 'पर-अक्षर में प्रतिष्ठित होना है। **'परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति'**-के अनुसार एकीभाव विना अव्यय के प्राप्त नहीं हो सकता। अव्ययानुगृहीत अक्षर ही **'द्वैतातीतत्व'** का कारण है, अतएव ऋषि को **'परे अक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते'**-यह कहना पड़ा है। जैसा कि ऋषि कहते हैं--

"एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते" ॥९॥

बस, पाँचवें प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है—

॥ ५ ॥

फलश्रुतिप्रकरणम्—

विज्ञानाक्षर सौर होने से रोहित है। रोहित सुनहरी वर्ण है। सौरमण्डल हिरण्मयमण्डल है। इससे संश्लिष्ट अक्षर भी रोहित (लोहित–हिरण्मय) बन रहा है। जब तक विज्ञान विज्ञानरूप में रहता है-कलाओं के अधीन रहता हुआ क्षर की तरफ झुका रहता है, तब तक वह वास्तव में लोहित है-एवं क्षररूपमर्त्यवस्तु के आक्रमण से अपनी स्वच्छता खोए रहता है। पाप्मा एक प्रकार की छाया है-आवरण है। यदि विज्ञान क्षरप्रपञ्च को छोडता हुआ उस पराक्षर को प्राप्त कर लेता है-तो स्वयं भी वैसा ही हो जाता है। महदक्षर परअक्षर है। **'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्मनिष्कलम्'** के अनुसार वह अलोहित–अच्छाय है, अतएव शुभ्र है। तद्रूप बना जाना ही वित्ति है। ऐसा अक्षरज्ञ सर्वज्ञ बनता हुआ सर्वव्यापक बन जाता है-जैसा कि 'मुण्डकोपनिषत्' में स्पष्ट हो जाएगा। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति॥ तदेष श्लोकः" ॥१०॥

उपनिषत् प्रधानरूप से विज्ञानक्षर को लक्ष्य बनाकर उस पराक्षररूप अव्ययात्मा पर ले जाता है—इसी का स्पष्टीकरण करते हुए अन्त में ऋषि कहते हैं—

"विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति" ।।११।।

पञ्चमात्रायुक्त पञ्चभूत का 'भूतानि' से ग्रहण है। पञ्च वायव्य प्राणों का 'प्राणाः' से ग्रहण है। शेष इन्द्रियादि का 'देवैश्च सर्वैः'- से ग्रहण है। सुषुप्ति में सबका विज्ञान में लय होता है। विज्ञान सबको लेकर उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है।
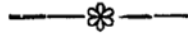
एक बात और बतला कर हम इस उपनिषत् के चतुर्थ प्रश्न को समाप्त करते हैं—

हमने इसे भूतप्राणरूप भूतात्मा का निरूपक बतलाया है। कारण इसका यही है कि इस प्रश्न में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीन अवस्थाओं का निरूपण है। इन तीनों अवस्थाओं का प्रधानरूप से वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ से सम्बन्ध है। तीनों की समष्टि ही भूतात्मा है। यह पृथिवी की (अमृता पृथिवी की) वस्तु है।

।। इति भूतप्राणनिरूपणात्मकः चतुर्थप्रश्नः ।।

।। ४ ।।

——❀——

अथ
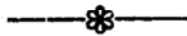
अव्यक्तप्राणनिरूपणात्मकः पञ्चमप्रश्नः

५

५—स्वयम्भूः=अव्यक्तम्

"स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये" ।।

(कैवल्योप० १।६ ।)

"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्" ।

(मुण्डकोप० २।२।६ ।)

अथ प्रश्नोपनिषदि—

पञ्चमः प्रश्नः

[मूलपाठः] अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ ।। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत ।। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ।।१।।

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।।२।।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते ।। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ।।३।।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् ।। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ।।४।।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः ।। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।। तदेतौ श्लोकौ भवतः ।।५।।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ।।६।।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।।७।।

।। इति पञ्चमप्रश्नस्य मूलपाठः ।।

अथ

अव्यक्तप्राणनिरूपणात्मकः पञ्चमप्रश्नः

[विज्ञानभाष्य] रयिप्राणरूप पारमेष्ठ्य-प्राण, धिषणाप्राणरूप सौरप्राण, प्रज्ञाप्राणरूप चान्द्र-प्राण एवं भूतप्राणरूप पार्थिवप्राण का क्रमशः–१, २, ३, ४ प्रश्नों में निरूपण किया जा चुका है। अब केवल वाक्प्राणरूप स्वायम्भुव अव्यक्तप्राण शेष रह जाता है। इस प्रश्न में इसी प्राण का निरूपण है। और और प्राण परिच्छिन्न थे–यह प्राण व्यापक है। अव्यक्तप्राणमय स्वयम्भू को ही **'आभू'** प्रजापति कहा जाता है। यही ईश्वर है। ईश्वर ही अश्वत्थरूप 'ओंकार' है। इसीलिए तो इसके लिए **'तस्य वाचकः प्रणवः'**–यह कहा जाता है। अव्यक्त कहो या ओंकार कहो–एक ही बात है। विज्ञान-काण्ड में समझने के लिए वह अव्यक्त स्वयम्भू है एवं उपासनाकाण्ड में वही–**'ओम्'** है। बस, उपासना-काण्ड को लक्ष्य में रखते हुए प्रणवरूप से ही इस प्रश्न में इस अव्यक्तप्राण का निरूपण किया गया है। अव्यक्त स्वयम्भू ईश्वर है। इसे **'वृक्षवत्'** स्तब्ध बतलाया है। वही वृक्ष श्रौती उपनिषदों में एवं गीतादि स्मार्त्ती उपनिषदों में **'अश्वत्थ'** नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि 'कठोपनिषत्' में हमने अश्वत्थ का बडे विस्तार से निरूपण कर दिया है, तथापि प्रकरणसंगति के लिए यहाँ भी उसका उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। कठ में दूसरे प्रकार से अश्वत्थ का निरूपण किया था एवं यहाँ दूसरे ही प्रकार से उसका स्वरूप बतलाया जाता है। आशा है–विद्या-प्रेमी पाठक जरा अवधान के साथ इस विषय को देखने का कष्ट करेंगे—

'अश्वत्थ'–स्वरूप के लिए पहले **'अश्व'** का स्वरूप जानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि अश्व पर रहने वाला प्राण ही **'अश्वे तिष्ठति'**–इस व्युत्पत्ति से **'अश्वत्थ'** कहलाता है। इस अश्वत्थाधारभूत अश्व का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"सोऽकामयत। भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्य्यम्। तत् प्राणे-षूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत। तस्य शरीर एव मन आसीत्। सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्यात् आत्मन्वी-अनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवत्। यदश्वत्तन्मे-ध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं

वेद । एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्मा । अयमग्निरर्कः । तस्येमे लोका आत्मानः । तावेतावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति । मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति, नैनं मृत्युराप्नोति । मृत्युरस्यात्मा भवति । एतासां देवतानामेको भवति" ।।[1]

प्रजापति ने अश्व उत्पन्न किया । वह अश्व मृत्युरूप हुआ । जो अश्वालम्भन द्वारा **अश्वमेध** कर लेता है–वह अश्वरूप मृत्यु को अपने अधिकार में करता हुआ अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है–श्रुति का यही तात्पर्य्यार्थ है । वह प्रजापति कौनसा है–जिसके लिए–'**भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय**'–कहा ? उत्तर है–परमेष्ठी प्रजापति । स्वयम्भू के नीचे परमेष्ठिमण्डल है । परमेष्ठी भृगु-अंगिरा-आपोमय है । आपोमय परमेष्ठी में तेज और स्नेह दो तत्त्व हैं । भृगु स्नेहतत्त्व है–इसे हम '**सोम**' कह सकते हैं । अंगिरा तेजस्तत्त्व है–इसे हम अग्नि कह सकते हैं । ये ही दोनों सुप्रसिद्ध रयि और प्राण हैं । दोनों के समन्वय का नाम ही '**यज्ञ**' है । यज्ञ का पहला रूप यही है । परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू में यज्ञ का अभाव है । यज्ञ नाम है–दो वस्तुओं के रासायनिक मेल का । स्वयम्भू ऋषिप्राणमय है । ऋषिप्राण सर्वथा असंग है, अतएव दोनों का समन्वय नहीं होता, अतएव ऋषि-सृष्टि को '**भावसृष्टि**' कहा जाता है । स्वयम्भू प्रजापति की कामना से परमेष्ठीरूप यज्ञ उत्पन्न होता है । परमेष्ठी स्नेहतत्त्व के कारण यज्ञमय हो जाता है । यज्ञों में सबसे बडा यज्ञ रयिप्राणात्मक पारमेष्ठ्ययज्ञ ही है । इस पारमेष्ठ्ययज्ञ के उदर में–सौर, चान्द्र, पार्थिवादि अवान्तर सारे यज्ञ होते रहते हैं, अतएव हम इस पारमेष्ठ्य प्राजापत्य यज्ञ को अवश्य ही '**भूयान्**' यज्ञ कहने के लिए तय्यार हैं । इसीलिए तो आत्मप्रकरण में पारमेष्ठ्यांशभूत आत्मा '**महान्**' कहलाता है । परमेष्ठिमण्डल यज्ञरूप है । यह यज्ञ 'भूयान्' है । केन्द्रस्थ षोडशी प्रजापति प्रजापति है । आत्मा–विश्व अभिन्न होते हैं । पारमेष्ठ्य आत्मा का परमेष्ठियज्ञ विश्व है, अतएव '**सोऽकामयत**' इसके '**स**' से हम '**परमेष्ठी प्रजापति**' का ग्रहण कर सकते हैं । वह आपोमय परमेष्ठिप्रजापति कामना करता है कि मैं अपने इस परमेष्ठीरूप 'भूयान् यज्ञ' से और यज्ञ करूँ (एवं यज्ञ द्वारा आगे की सृष्टि उत्पन्न करूँ) । मनः-प्राण-वाक् ये सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं–आत्मा के (अव्यय के) सृष्टिसाक्षी ये ही तीन हैं, अतएव विना इन तीन के व्यापार के कोई भी सृष्टि नहीं हो सकती । इनमें मनोव्यापार कामना है । प्राणव्यापार तप है । वाग्-व्यापार श्रम है । कामना, तप, श्रम के अनन्तर नई वस्तु का प्रादुर्भाव होता है । ये ही तीनों व्यापार उसमें हुए । इस कामनामय तप से होने वाले श्रम से परमेष्ठिप्रजापति श्रान्त हो गए एवं श्रान्त होते ही उससे यशोवीर्य्य निकल गया । प्राण का ही नाम यशोवीर्य्य है । वही निकल गया–यथार्थ है । हम यदि किसी नई वस्तु को उत्पन्न करना चाहते है तो उसमें भी यही है । पहले इच्छा होती है, अनन्तर तदनुकूल आन्तर व्यापार (यत्न-चेष्टा) करते हैं । अनन्तर श्रम (बहिर्व्यापार) करते है । बहुत श्रम करने से हमारी प्राणमात्रा निकल जाती है । 'यश' वह तत्त्व है–जिसके रहने से आत्मा

१–बृहदा० उप० १।२।६-७ ।

विकसित रहता है। वह यश वही प्राण है। शरीर में मन उक्थ है। प्राण अर्क है। जब तक प्राण (दम) रहते हैं, तभी तक आत्मा विकसित है। अधिक परिश्रम से प्राण निकल जाता है। उसी समय आत्मा का विकास बन्द हो जाता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाते हैं। यही बात वहाँ होती है-क्योंकि वह भी तो मनःप्राणवाङ्मय ही है। उसमें व्यापार होता है। उस व्यापार से प्राणभाग उसके मनोरूप उक्थ से निकल जाता है। हमारा शरीर कामनामय है। कामना मन का व्यापार है। हम (हमारा शरीर) मनोमय हैं। इसी अभिप्राय से **'काममय एवायं पुरुषः'**-यह कहा जाता है। अस्तु, कहना यही है कि प्राण के निकल जाने पर प्रजापति का शरीर सूज गया। उसमें सर्वत्र शोथ आ गया। इस शोथ के आने से उसमें एक प्रकार की सड़ान भी पैदा हो गई। इसी सड़ान से वह भाग वरुण कहलाने लग गया एवं यही असुरसृष्टि हुई। **'यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्वं वरुणदेवत्यम्'**-के अनुसार जहाँ वायु का सम्बन्ध नहीं होता-वहाँ वरुणदेवता का प्रवेश हो जाता है। वरुण पारमेष्ठ्य आपोमय देवता है। वायु में इन्द्र रहता है। वायु में एक चौथाई भाग विद्युत् (बिजली) रहती है-वही इन्द्र है। इन्द्र देवप्राण है। वरुण आसुरप्राण है। दोनों में घोर विरोध है। आप्यप्राणप्रधान वरुण, प्रकाशीप्राणप्रधान इन्द्र दोनों एक साथ नहीं रह सकते, अतएव जहाँ वायु रहता है, वहाँ वरुणशक्ति अभिभूत हो जाती है एवं जहाँ वायु नहीं रहता, वहाँ वरुण घुस पड़ता है। वरुण सड़ान कर देता है, क्योंकि वह आप्यप्राणमय है। पावनधर्म्म सौरप्राणरूप इन्द्र का है। इसीलिए तो इसके लिए **'उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण'**-यह कहा जाता है। यही कारण है कि बन्द मकान, बन्द पानी, बन्द अन्नादि सब सड़ने लगते हैं, क्योंकि वायु के न रहने से इन्द्र की अनुपस्थिति में वहाँ वरुण अपना साम्राज्य जमा लेते हैं। एक दधिपात्र को आप बन्द कमरे में रख दीजिए। थोड़े समय बाद वह फूल जाएगा। उसमें शोथ आ जाएगा। सब ओर फफूंदन छा जाएगी एवं वह सड़ने लगेगा। क्यों? वायव्यप्राण का अभाव। बन्द होने से वायव्यप्राण निकल गया। प्राण के निकलते ही वह दधिशरीर सूज गया-सड़ गया। मनुष्यों में भी ऐसा ही होता है। जब तक मनुष्य में प्राण रहते हैं, तब तक शरीरगत वरुणभाग (आपोभाग) अपना अधिकार नहीं जमाने पाता। परन्तु जिस दिन प्राण निकल जाते हैं, उस दिन वरुणदेवता उल्बण हो पड़ते हैं, अतएव शव (प्राणरहितशरीर) फूल जाता है एवं उसमें बुरा गन्ध आने लगता है। अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रविष्ट पावनप्राण ने इसे पावन बना रखा था-वह निकल गया, अतएव यह सूजने एवं सड़ने लग गया। अपि च-मनुष्य में जीवितदशा में जो शोथ हो जाता है-उसका कारण भी यही है। प्राणमात्रा की कमी से-वरुण की कृपा से ही शोथ होता है। उसका कारण भी है। प्राणमात्रा की कमी से-वरुण की कृपा से ही शोथ होता है। गठिया, सूजन, जुकाम आदि रोग-वारुण रोग हैं। शीतर्त्तु में प्राणाग्नि निर्बल रहता है। है। बरसात में भी निर्बल रहता है। अतः ये बीमारियाँ इन्हीं दिनों में अधिक आक्रमण करती हैं। सड़ान आत्मविरोधी है, अतएव हम इसे असुर कहने के लिए तय्यार हैं। यह आसुरभाग वारुण है। वरुण पारमेष्ठ्य प्राण है, अतएव असुरसृष्टि वारुणी 'पारमेष्ठिनी' नाम से प्रसिद्ध है। परमेष्ठी के भृगुआपोभाग से असुरसृष्टि होती है। इनका विकास वहीं हो जाता है एवं अंगिरा से देवसृष्टि होती है। दोनों प्रजापति की सन्तान होने से **'प्राजापत्य'** नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु

देवप्राण का विकास सूर्य्य में होता है, अतएव असुरों को ज्येष्ठपुत्र माना जाता है एवं देवताओं को कनिष्ठपुत्र माना जाता है।

प्राण के निकल जाने से शरीर सूज जाता है। शरीर आपोमय है। इसीलिए जो **'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'**[1]–यह कहा जाता है। पानी विकासधर्म्मा है। यह वस्तु को फुला देता है। आटे में पानी डाल दिया जाता है तो वह फूल जाता है। उदाहरण के लिए–घटसृष्टि को ही लीजिए। कुम्हार अनुष्णाशीतरूप मिट्टी में पानी डालता है। उसी समय पार्थिव परमाणु शोथभाव को प्राप्त हो जाते हैं। कारण इसका यही है कि पार्थिव परमाणुओं के बीच-बीच में जलीय परमाणु व्याप्त हो जाते हैं। घड़ा जब बन जाता है तो उसे रख दिया जाता है। अनन्तर वह जलभाग शिववायुरूप में (भार्गववायुरूप में) परिणत हो जाता है। जब तक घड़ा सूखता नहीं तब तक उसमें जल है। सूखने पर जलीय वायु है। अनन्तर अग्निसम्बन्ध से आग्नेय वायु उस जलीय वायु पर आक्रान्त हो अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उसमें व्याप्त हो जाता है। अग्निसम्बन्ध होते ही जलीय परमाणु–तद्गत पार्थिव परमाणु अलग-अलग होते हैं। अनन्तर उस स्थान में विधरणधर्म्मा प्राणाग्नि उनका पुनः विधरण करता है, अतएव परिपाकावस्था में दार्शनिक घटध्वंस मानते हैं। पूर्व घटविनाश ही घट के परिपाक का कारण है। मृत्तिका में जो पानी था, वह वारुणभाग था। वही रौद्रवायुसम्बन्ध से आग्नेय बन जाता है। वारुणभाग पारमेष्ठ्य है। रौद्रभाग सौर है। दोनों के समन्वय से एक विजातीय अबग्निरूप योगजप्राण उत्पन्न होता है। बस, इसी का नाम **'अश्व'** है–जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा।

इस प्रपञ्च से अभी केवल यही बतलाना है कि पारमेष्ठ्य भृगुभाग शरीरस्थानीय है। भृगु सोम है। मन सोममय है, अतएव श्रुति ने इसे **'मनः'** कहा है। इस भृगु से वह अंगिराभाग अलग हो जाता है। अंगिरा ही प्राण है। प्रथम प्रश्न के–रयि-प्राण ही यहाँ के मन-प्राण हैं। मनसोम भृगु है। प्राणअग्नि अंगिरा है। वह अलग हो जाता है तो शुद्ध वारुणभाग रह जाता है। विना प्राणसम्बन्ध के वह विकास को प्राप्त होता है–सड़ानयुक्त हो जाता है। प्राण के निकल जाने पर भी मन तो रहता ही है। हमारी प्राणमात्रा खर्च हो जाती है। परन्तु मन रह जाता है। वही प्राणभाग अलग निकलकर आदित्यरूप (सूर्य्य) में परिणत होता है। वारुणभाग परमेष्ठी है–यह शरीर है–मन है। इसका प्राण सूर्य्य है। वह उक्थ था–यह अर्क है। प्राणरूप सूर्य्य अंगिराग्निरूप है। इसीलिए–**'प्राणो वा अंगिराः'**[2]–यह कहा जाता है। यह उसी परमेष्ठी प्रजापति का यशोवीर्य्य है, अतएव सूर्य्य के लिए–**'यशो वै हिरण्यम्'**[3] **'यशोदेवाः'**[4]–इत्यादि कहा जाता है एवं वह रयिभाग पोषयुक्त है। फूला हुआ है, अतएव उसके लिए **'पुष्टं वै रयिः'**[5]–कहा जाता है। वही रयि (सोम) वीर्य्य बनता

१–छान्दोग्योप० ५।६।१।

२–शत० ब्रा० ६।१।२।२८।

३–ऐ० ब्रा० ७।१८।

४–शत० ब्रा० २।१।४।६।

५–शत० ब्रा० २।३।४।१३।

हैं। वही अन्न बनता है। अन्न भोग्य होने से **'पशु'** कहलाता है, अतएव–**'वीर्यं वै रयिः'**[1] **'पशवो वै रयिः'**[2]–यह कहा जाता है। प्रजापति के भूयसा यज्ञ से उत्पन्न होने वाला यही प्राणात्मक सूर्य्य यज्ञ है। प्राण अर्क है। यह उसी का अर्क है, अतएव इसके लिए–**'अर्कश्चक्षुः। तदसौ सूर्यः'**[3]–यह कहा जाता है। जब तक यह प्राण परमेष्ठी में रहता है–परमेष्ठी-शरीर के भीतर रहता है–तब तक यह आपोरूप ही है। इसीलिए–**'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्'**–इत्यादि गोपथ श्रुतिवचन भृगुवत् अंगिरा को भी आपः ही बतलाते हैं। आपः वरुण है। इससे सिद्ध हो जाता है कि परमेष्ठिगर्भित प्राण (अंगिरा) आपोरूप होने से वरुण ही है। इसीलिए–**'स वा एष (सूर्य्यः) अपः प्रविश्य वरुणो भवति'**[4]–यह कहा जाता है। यह अंगिरा सूर्य्य–आदित्य, वायु, अग्नि–इन तीन कलाओं में परिणत होता है। आदित्य सूर्य्य है। वायु अन्तरिक्ष है। अग्नि पृथिवी है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौरूप रोदसी अंगिरामयी है–प्राणमयी है। यही मर्त्य विश्व है। इसका आत्मा वही परमेष्ठी है। आत्मा-विश्व की समष्टि **'आत्मन्वी'** कहा जाता है। प्रजापति ने अपने अंगिरारूप प्राण से काम-तप-श्रम द्वारा सूर्य्य-वायु-अग्निरूप त्रैलोक्यात्मक विश्वयज्ञ उत्पन्न किया। 'भूयान्' यज्ञ से यह त्रैलोक्यरूप 'भूयान्' ही यज्ञ उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होकर वह इससे युक्त हो–**'आत्मन्वी'** बन गया। जो वारुण भाग इस सौरभाग से मिला, वही **'अश्व'** हुआ। प्रजापति वरुण था। उसकी आपोमयी रश्मि उसकी आँख है। वह भाग सौर अग्नि से युक्त होता है। बस, जो वारुणभाग रश्मिरूप से प्रवर्ग्य बनकर सौर अग्नि में आमिलता है–वही **'अश्व'** कहलाता है। सौराग्निगर्भित वारुणभाग ही **'अश्व'** है। दोनों की योगजावस्था ही **'अश्व'** है। इसीलिए **'प्रजापते (वरुण-प्रजापते) रक्ष्यश्वयत्–तदश्वोऽभवत्'**–यह कहा जाता है। अश्व का आत्मा वरुण है–इसी सारे विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए निम्नलिखित श्रुतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१–"प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत् परापतत्। तदश्वोऽभवत्"।।[5]

२–"वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष। तदश्वयत् ततोऽश्वः समभवत्। तद्-यत्-श्वयथात् समभवत् तस्मादश्वो नाम"।[6]

३–"अथ यदश्रु संक्षरितमासीत् सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षं। परोऽक्षकामा हि देवाः"।[7]

४–"अप्सुजा उ वा अश्वः"।[8]

१–शत० ब्रा० १३।४।२।१३।
२–तै० ब्रा० १।४।४।६।
३–तैत्ति० ब्रा० १।१।७।२।
४–कौ० ब्रा० १८।६।
५–तै० ब्रा० १।१।५।४।
६–शत० ब्रा०४।२।१।११।
७–शत० ब्रा० ६।१।१।११।
८–शत० ब्रा० ७।५।२।१८।

५—"अप्सुयोनिर्वा अश्वः"।[१]

६—"अद्भ्यो ह वा अग्रे अश्वः सम्बभूव"।[२]

७—"वारुणो हि देवतयाऽश्वः"।[३]

अश्व की योनि पानी अवश्य है, परन्तु इसका स्वरूप सौर अग्नि से मिलने पर ही बनता है। अश्व में वारुण पानी और सौर तेज दोनों हैं। इसीलिए पूर्वश्रुतिएँ जहाँ अश्व को आपोमय एवं वारुण बतलाती हैं—वहाँ निम्नलिखित श्रुतिएँ उसे सौर बतलाती हैं—

१—"सौर्यो वा अश्वः"[४]

२—"अग्निरेष यदश्वः"[५]

३—"अथ योऽसौ तपति एषोऽश्वः"।[६]

४—"असौ वा आदित्योऽश्वः"।[७]

५—"इन्द्रो वा अश्वः"।[८]

६—"ते(देवाः) अश्वं श्वेतं दक्षिणां निन्युरेतमेव य एष तपति—इत्यादि"।[९]

प्रजापति से अश्व उत्पन्न हुआ। विना अश्व के (प्राण के) वह अमेध्य था। आज इससे युक्त होकर वही वारुण प्रजापति मेध्य हो गया। सौरतापयुक्त पानी पवित्र एवं मेध्य हो जाता है। तात्पर्य्य यही है कि सूर्य्य अश्व है। इसमें आया हुआ वारुणभाग मेध्य है, अतएंव सूर्य्य को किंवा सौर्य्य अश्व को 'अश्वमेध' कहा जाता है। इस अश्वमेधरूप सूर्य्य का संवत्सरमण्डल आत्मा है। पार्थिव अग्नि अर्क है। तीनों लोकों में यह अश्वमेधरूप अश्व खड़ा है। पार्थिव अग्नि अर्क है। सौर[१०] वारुणाग्नि

१—तै० ब्रा० ३।८।४।३।
२—शत० ब्रा० ५।१।४।५।
३—तै० ब्रा० १।७।२।६।
४—गोपथ ब्रा० उ० ३।१९।
५—शत० ब्रा० ६।३।३।२२।
६—ऐ० ब्रा० ६।३५।
७—तै० ब्रा० ३।९।२३।२।
८—कौ० ब्रा० १५।४।
९—कौ० ब्रा० ३०।६।
१०—इसी वारुणभाग के कारण सूर्य्य के लिए—'त्वं वरुण पश्यसि'—यह कहा जाता है।

अश्वमेघ है । अर्क अश्वमेध की समष्टि ही **'अर्काश्वमेध'** है । बृहदारण्यक ने प्रारम्भ में इसी का **'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः'**–इत्यादिरूप से बड़े विस्तार के साथ निरूपण किया है । यह अर्काश्वमेध क्या है ? इसका उत्तर है–**'मृत्यु'** । सूर्य्याश्व साक्षात् मृत्यु है । सूर्य्य का अधोमण्डल मृत्यु है । ऊपर अमृत है । इस मृत्युमय सौरमण्डल के–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः–तीन खण्ड हैं । इन्हीं के लिए **'तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः'**–यह कहा जाता है । जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा ।

सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि जो वारुणभाग सौरतेज से संसक्त हो जाता है–वही **'अश्व'** है । इसका मूल परमेष्ठी है । तूल (विकासरूप) सौरमण्डल है । परमेष्ठी महान् और स्वयम्भू अव्यक्त–दोनों को अभिन्न माना जाता है । दोनों 'परमेष्ठी' शब्द से गृहीत होते हैं । ऐसी अवस्था में सौरमण्डल में विकासभाव को प्राप्त होने वाले इस अश्व की सारे विश्व में सत्ता सिद्ध हो जाती है । वरुणभाग परार्ध्य है । सौरभाग अवरार्ध्य है । दोनों की समष्टि 'विश्व है । सारा विश्वयज्ञ **'अश्व'** रूप है । सौर अश्वप्राण जिस पशु का आत्मा बनता है–वह भी पशुओं में **'अश्वपशु'** कहलाता है । इस विश्वात्मक दिव्याश्व पर रहने वाला जो तत्त्व है–वही **'अश्वत्थ'** कहलाता है । वह तत्त्व और कोई नहीं–वही षोडशी आत्मा है । षोडशी का अव्ययभाग अपनी परापर प्रकृतियों से युक्त होकर सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित हो रहा है, अतएव इसे **'अश्वत्थ'** कहा जाता है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर–**'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'**–यह कहा जाता है । **'अश्वाधारे तिष्ठन्–अव्ययः–अश्वत्थः'**–**'अश्वत्थ'** शब्द का यही निर्वचन है । इस अश्वत्थवृक्ष के मूल,, मध्य, अन्त–तीन भाग हैं । स्वयम्भू-परमेष्ठी मूलभाग है, सूर्य्य मध्यभाग है । इसीलिए इसके लिए **'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'**-यह कहा जाता है एवं अन्तरिक्ष, चन्द्रमा, पृथिवी–अन्तभाग हैं । ऊपर का मूलभाग है । मूलभाग जड़ (ऊर्ध्व) में है, अतः वह हमें नहीं दिखलाई देता । मध्य का सूर्य्य उसकी शाखा-प्रशाखा हैं । दृष्टप्रपञ्च है, अतः इसे हम देख रहे हैं एवं नीचे का प्रपञ्च फलपुष्प हैं । मर्त्यप्रपञ्च फलपुष्प हैं । वे टूट-टूट कर गिरते रहते हैं–परिवर्त्तनशील हैं । सूर्य्य स्कन्ध है । ऊपर का भाग मूल हैं । मूलभाग सुसूक्ष्म होने से–**'अ'** है । मध्य का स्थूलसूक्ष्म होने से 'उ' है । अन्त का स्थूल होने से **'म्'** है । तीनों की समष्टि परम ओंकार है । यही–**'अश्वत्थ'** है । इसी का निरूपण करता हुआ पुराण-शास्त्र कहता है–

> **"अकारमूलरूपाय उकारस्कन्धशालिने ।**
> **मकारफलपुष्पाय वृक्षराजायते नमः" ॥**

१–स्वयम्भू–परमेष्ठी = अ
२–सूर्य्य = उ
३–पृथिवी-चन्द्रमा = म्

} → 'ओम्' 'अश्वत्थवृक्षः'

वृक्ष का नाम अश्वत्थ क्यों है? अश्वत्थ के वृक्ष में विष्णु का निवास क्यों माना जाता है? सनातनधर्मीजगत् क्यों इस जड़वृक्ष की पूजा कर अपने को धन्य मानता है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान 'कठोपनिषत्' के अश्वत्थप्रकरण में किया जा चुका है। अश्वत्थ का निरूपण हो चुका। अब प्रासङ्गिक औषधिविज्ञान का दो चार अक्षरों में निरूपण कर प्रकृत का अनुसरण करते हैं।

'औषधि' की सत्ता परमेष्ठिमण्डल में है। अश्वत्थ नाम है अव्यय का—जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यद्यपि इस अश्वत्थाव्यय की सत्ता सारे विश्व में (सातों लोकों में) है, तथापि इसका उल्बणरूप सूर्य्य से ऊपर ही रहता है। नीचे मर्त्यभाग की प्रधानता रहने से उसका स्वरूप अभिभूत हो जाता है। महदक्षररूप सूर्य्य के ऊपर का अश्वत्थ स्वस्वरूप से उल्बण रहता है, अतएव नीचे के भाग को अश्वत्थ न कहकर ऊपर के पारमेष्ठ्यभाग को ही प्रधानता दी जाती है। परमेष्ठिमण्डल के इडा, ऊर्क्, गौ—तीन मनोता हैं। तीनों में 'गौ' हजार हैं। संसारभर के पदार्थमात्र इसी से उत्पन्न होते हैं। यह गौतत्त्व क्या है? इसका स्पष्टीकरण आगे जाकर हो जाएगा। यहाँ पर केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि परमेष्ठी में ब्रह्मणस्पति नाम का सोम है। यह सोम ही औषधि है। अश्वत्थवृक्ष में ही इस औषधिप्राण की सत्ता है। औषधि गौ सोमरूप है। इससे हजार रस उत्पन्न होते हैं। वही संसार का स्वरूप बनाए हुए हैं। भिन्न-भिन्न औषधियों में भिन्न-भिन्न गौरस हैं। वह रसगर्भित सोम ही हमारा जीवन है। इस प्रकार पारमेष्ठ्य वारुण अश्वत्थ पर ही गोमय ब्रह्मणस्पतिरूप औषधिप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इसी औषधिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> **"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।**
> **मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १॥**[1]
>
> **अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।**
> **गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥२॥**[2]
>
> **या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु॥**
> **बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्" ॥३॥**[3]

—इस सूक्त में इसी औषधि का स्वरूप प्रतिपादित है। सूर्य्य के ऊपर बृहस्पति है। उसी से प्रसूत होकर वह औषधिप्राण हमारे लोक में आकर भूतसंपरिष्वक्त होकर स्थूलरूप धारण करता हुआ मनुष्यों में रहने वाले आग्नेय वैश्वानरपुरुष की परिचर्य्या (रक्षा) करता है। इसकी प्रतिष्ठा वही अश्वत्थपत्र है। यह पत्र वही है जिसका गायत्री ने अपहरण किया था। वह पत्र और कोई नहीं—वही सोम है। वह सौर ऊष्मा को धारण करता हुआ ही भूमण्डल पर आता है, अतएव—'ओषं धत्ते' इस

१—ऋग्वेद मं० १०।९७।१।
२—ऋग्वेद मं० १०।९७।५।
३—ऋग्वेद मं० १०।९७।१९।

व्युत्पत्ति से वह ब्राह्मणस्पत्य सोमात्मक प्राण 'औषधी' नाम से प्रसिद्ध है। इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि–विश्व अश्व है। इस पर प्रतिष्ठित पुरुष अश्वत्थ है। अश्व (विश्व) विशिष्ट षोडशी ही प्रजापति है–यही ईश्वर है। इसके 'अ-उ-म्' तीन भाग हैं। प्रणव ही इसका स्वरूप-परिचायक है। इस प्रणवस्वरूप को यथावत् समझने के लिए निम्नलिखित प्रकरण को ध्यान में रखना आवश्यक होगा।

सृष्टि का प्रधानमूल 'वाक्' तत्त्व है। वाक् मनःप्राणगर्भिता है। मनःप्राणगर्भिता वाक् ही सृष्टिसाक्षिणी है। मन काममय है। प्राण तपोमय है। वाक् श्रममयी है। यही कारण है कि सृष्टि-निरूपण करने वाली यच्चयावत् श्रुतियों के उपक्रम में—**'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'**–यह उल्लिखित रहता है। षोडशी प्रजापति का आधार इसी का पञ्चकल अव्यय है। वह पञ्चकोशरूप है। इन पाँचों कोशों का निरूपण 'तैत्तिरीयोपनिषत्' में किया जाएगा। आनन्द सर्वान्तिरतम है। विज्ञान ऊपर है। यह मन उसके ऊपर है। प्राण उसके ऊपर है। वाक् सर्वोपरि है। इसमें आनन्द-विज्ञान-मन मुक्तिसाक्षी हैं। सृष्टि में इनका गौणरूप से सहकारीरूप से समावेश है एवं मन-प्राण-वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। ये सृष्टि में प्रधान हैं। आत्मक्षर की 'प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद'–ये पाँच कला हैं। इन पाँचों कलाओं के पञ्चीकरण से क्रमशः प्राणमय स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी–ये पाँच पिण्ड उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की समष्टि को ही हमने पूर्व के उपनिषदों में **'ब्रह्मसत्य'** कहा है। ये ही पाँचों **'प्राकृतात्मा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों प्राकृत सृष्टियों का मूल वही अव्यय का मनप्राणवाक्भाग है। यद्यपि पाँचों में तीनों हैं–तथापि इन तीनों का पूर्णविकास केवल सूर्य्य में ही होता है। क्योंकि सूर्य्य चितिरूप है–जैसा कि 'ईशोप-निषत्' में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। सूर्य्य में मन, प्राण, वाक्–तीनों विकसित हैं। पर-मेष्ठी में प्राण, वाक् दो भागों का विकास है। स्वयम्भू में केवल वाक् का विकास है। सूर्य्य से नीचे चान्द्र अन्तरिक्ष में प्राण-वाक् दो का विकास है। पृथिवी में केवल वाक् है। इस प्रकार पाँचों में क्रमशः वाक्-वाक्प्राण, वाक्-प्राण-मन, वाक्प्राण, वाक्–यह व्यवस्था हो जाती है। इस प्रकार जो स्वयम्भू प्रकृति की अपेक्षा से प्राणरूप है, वही इस पुरुष (अव्यय) के वाक्भाग की अपेक्षा से वाक्रूप है। परमेष्ठी प्रकृत्यपेक्षया आपोरूप है। पुरुषापेक्षया वाक्प्राणरूप है। सूर्य्य प्रकृत्यपेक्षया वाक्रूप है, पुरुषापेक्षया मनःप्राणवाक्रूप है। चान्द्रान्तरिक्ष प्रकृत्यपेक्षया अन्नरूप है। पुरुषापेक्षया वाक्प्राण रूप है एवं पृथिवी प्रकृत्यपेक्षया अन्नादमयी है। पुरुषापेक्षया वाङ्मयी है।

ब्रह्मसत्यापेक्षया	प्रकृत्यपेक्षया	पुरुषापेक्षया	लोकापेक्षया	
१–स्वयम्भू	प्राणमयः	वाङ्मयः	प्राणलोकः =	वाग्लोकः
२–परमेष्ठी	आपोमयः	प्राणवाङ्मयः	आपोलोकः =	प्राणवाग्लोकः
३–सूर्य्य	वाङ्मयः	मनःप्राणवाङ्मयः	वाक्लोकः =	मनःप्राणवाग्लोकः

४—चान्द्रान्तरिक्ष	अन्नमयः	प्राणवाङ्मयः	अन्नलोकः ==	प्राणवाग्लोकः
५—पृथिवी	अन्नादमयः	वाङ्मयः	अन्नादलोकः==	वाग्लोकः

इस प्रकरण से यह भी सिद्ध हो जाता है कि वाग्भाग पाँचों स्थानों पर है। इसी अभिप्राय से **'अथो वागेवेदं सर्वम्'**—यह कहा जाता है। स्वयम्भू ब्रह्मा भी वाक् है। इसलिए—**'वाग् वै ब्रह्म'**—यह कहा जाता है। परमेष्ठी विष्णु भी वाङ्मय है—इसलिए—**'वाग् वै विष्णुः'**—यह कहा जाता है। सूर्य्य भी वाङ्मय है—इसलिए—**'वागिन्द्रः'**—यह कहा जाता है। चान्द्रान्तरिक्ष भी वाङ्मय है—इसलिए—**'सोमो वै वाक्'**—यह कहा जाता है एवं अग्नि भी वाक् है, अतएव **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'**—**'वाग् वा अग्निः'**—इत्यादि कहा जाता है। इस प्रकार इस वाग्विज्ञान को समझने के अनन्तर सारे विरोध हट जाते हैं। इन सबमें स्वयम्भू की वाक् सर्वमूलभूता है। यह वाक् सत्यावाक् नाम से प्रसिद्ध है। वेद सत्य है। तद्रूपा होने से ही यह वेदमयी नाम से प्रसिद्ध है। पारमेष्ठिनी वाक् आपोमयी होने से—**'आम्भृणी वाक्'**—कहलाती है। ऋग्वेद के 'आम्भृणी सूक्त' में जिस वाक्-तत्त्व का निरूपण है—वह यही पारमेष्ठिनी वाक् है। **सौरी वाक् 'बृहती' 'स्वर' 'गौरीविता, गौरवीता'** आदि नाम से प्रसिद्ध है। चान्द्र वाक् **'सुब्रह्मण्या'** नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिवी वाक् **'अनुष्टुप्'** नाम से प्रसिद्ध है। एक ही पुरुषवाक् भिन्न-भिन्न स्थानों में आकर भिन्न-भिन्न नामरूपकर्म्म धारण कर लेती है। ये पाँचों वाक् क्रमशः क्षर—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि की जननी हैं। स्वयम्भू वाक्तत्त्व की प्रतिष्ठा है। वाक्तत्त्व में 'वाक्, प्राण' दो हैं। प्राकृतप्राण, पौरुषी वाक् दोनों मिलकर एक वाक्तत्त्व है। परमेष्ठी गौतत्त्व की जननी है। प्राकृत आपः, पौरुषप्राण और वाक्—तीनों की समुच्चित अवस्था का नाम गौतत्त्व है। गौतत्त्व का यदि विशकलन किया जाएगा तो उसमें ये तीन पदार्थ मिलेंगे। इसकी उत्पत्ति परमेष्ठी है। इसी के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य गोसव नाम से प्रसिद्ध पञ्चदशाह नामक स्वाराज्य यज्ञ होता है। इसी के सम्बन्ध से तत्रस्थ विष्णु गोलोकनाथ नाम से प्रसिद्ध हैं। परमेष्ठी में तीन भृगु हैं—तीन अङ्गिरा हैं एवं ऋक्, साम, यत्, जू—ये चार ब्रह्मभाग हैं। दसों के स्वरूप से गौ का स्वरूप निष्पन्न होता है। १० अक्षर के छन्द को विराट् कहते हैं, अतएव इसे **'विराट्'** कहा जाता है। द्यौतत्त्व सूर्य्य में उत्पन्न होता है। प्राकृती वाक्, पौरुष मन, प्राण, वाक्—इन चारों के मेल से द्यौतत्त्व उत्पन्न होता है। वायुतत्त्व अन्तरिक्ष में उत्पन्न होता है। प्राकृत अन्न (सोम), पौरुष वाक्-प्राण—इन तीन के मेल से वायुतत्त्व उत्पन्न होता है एवं अग्नितत्त्व पृथिवी में उत्पन्न होता है। प्राकृत अन्नाद, पौरुषी वाक्—दोनों के मेल से अग्नितत्त्व उत्पन्न होता है। वाक् आकाश है। गौतत्त्व वायुमय आपः है। द्यौतत्त्व-तेज है। वायुतत्त्व पार्थिव अबाधार अप्तत्त्व है। अग्नितत्त्व पृथिवी है।

प्राकृत—पौरुषभाग।

१—सत्या वाक्——(प्राण-वाक्संयोगात् वाक्तत्त्वम्)———आकाशात्मकम्—आकाशः।

२—आम्भृणी वाक्—(आपः-प्राणवाक्संयोगात् गौतत्त्वम्)——वाय्वात्मकम्—वायुः।

३—बृहती वाक्——(वाक्-मनःप्राणवाक्संयोगात् द्यौतत्त्वम्)—तेजसात्मकम्—तेजः।

एक बात और–वाङ्मय स्वयम्भूमण्डल वेदमय है । वेदवाक् उसी अव्ययवाक् का विकास है । वाक् यजुः है । यजुः में यत् और जू दो भाग हैं । ये ही वाक्प्राणी हैं । इनमें प्राणव्यापार से–वाक् भाग से आपोमय परमेष्ठी का जन्म होता है । अक्षरब्रह्मा वेदवाक् को उत्पन्न कर उसके द्वारा सर्वप्रथम पानी ही उत्पन्न करते हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत–त्रयीमेव विद्यां सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । सोऽपोऽसृजत । वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत" ।[1]

यह आपः वही परमेष्ठी है । इसे उत्पन्न कर त्रयीमय वह ब्रह्मा इसमें प्रविष्ट हो जाता है । आपोमण्डल में प्रविष्ट वेदमय ब्रह्मा सत्यवेद के प्रभाव से उस ऋत पानी को मण्डल (सत्य) रूप में परिणत कर देते हैं । जहाँ तक वेदव्याप्ति होती है- वहाँ तक एक मण्डल बन जाता है । इसी अभिप्राय से आगे जाकर–**'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत'**[2]–यह कहा जाता है । पुनश्च–इसके पेट में अग्नि उत्पन्न होता है । वही अग्नि संघातावस्था को प्राप्त होकर पिण्डरूप में परिणत हो जाता है–उसी का नाम सूर्य्य है । परमेष्ठी का अङ्गिराभाग ही वेदव्यापार से सूर्य्यरूप में परिणत होता है । इसमें नया वेद उत्पन्न होता है । यही वेद उस पुरुष-ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण **'पौरुषेय'** वेद कहलाता है । यही **'गायत्रीमात्रिक'**–नाम से प्रसिद्ध है । सूर्य्य इसी पर प्रतिष्ठित है । यह सूर्य्य रोदसीब्रह्माण्ड में सबसे पहले उत्पन्न होता है, अतएव इसे **'अग्रि'** कहा जाता है । परोक्षप्रियदेवता **'अग्रि'** को ही **'अग्नि'** कहते हैं । स्वयम्भू वेद भी अग्नि ही था, परन्तु वह ब्रह्माग्नि था एवं अपौरुषेय-

---

१–शत० ब्रा० ६।१।१।८९ । २–शत० ब्रा० ६।१।१।१० ।

भावापन्न था एवं यह देवाग्नि है एवं पौरुषेय वेद है। इसके बाद सौर अग्नि के परस्पर के घर्षण से मरीचिपानी उत्पन्न हुआ। जैसे पारमेष्ठ्य पानी 'अम्भः' नाम से प्रसिद्ध है–एवमेव यह पानी ऐतरेयादि में 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी मरीचिपानी से त्रैलोक्यरूप द्यावापृथिव्यात्मक कूर्म्मप्रजापति का जन्म होता है। कूर्म्म ही कश्यप है। इसकी उत्पत्ति मरीचिपानी से है, अतएव इसके लिए–**'कश्यपो वै मारीचः'**–यह कहा जाता है। इस कूर्म्मरूप मरीचिपानी से आगे जाकर आपः, फेन, उषा, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयस्, हिरण्यरूप भू-पिण्ड का जन्म होता है।

यह है क्रमिक सृष्टिधारा। आकाशरूप स्वयम्भू से वायुरूप पारमेष्ठ्य अम्भः पानी पैदा हुआ। इससे सूर्य्यरूप अग्नि उत्पन्न हुआ। उससे मरीचिरूप पानी उत्पन्न हुआ–उससे पृथिवी उत्पन्न हुई। आकाश को उत्पन्न करने वाला वही पुरुषरूप आत्मप्रजापति हुआ। इसी प्राकृत सृष्टिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर—

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" ॥[1]

—यह कहा जाता है। इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि सृष्टि की ये पांच संस्था हैं। संस्था वह कहलाती है–जिसमें उत्तर-उत्तर के भाग में पूर्व-पूर्व का सम्बन्ध हो। इससे पृथिवी में ऊपर के चारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। चन्द्रमा में चार की सत्ता है। सूर्य्य में तीन हैं। परमेष्ठी दो हैं, स्वयम्भू एक है। स्वयम्भू वाङ्मय है। परमेष्ठी आपोमय वाङ्मय है। आपोमय परमेष्ठी मध्य में है। ऊपर प्रवर्ग्यभूत वाक्स्तर है। सूर्य्य वाङ्मय, आपोमय, वाङ्मय है। मध्य में वाङ्मय सूर्य्य है। ऊपर आपःस्तर है। ऊपर वाक्स्तर है। चन्द्रमा अन्नमय, वाङ्मय, आपोमय, वाङ्मय है एवं पृथिवी अन्नादमयी, अन्नमयी, वाङ्मयी आपोमयी वाक् भी है। इस प्रकार केवल पृथिवी में पांच स्तर हो जाते हैं। शेष चारों का प्रवर्ग्यभाग पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बनकर पृथिवी के चारों ओर व्याप्त रहते हैं। इस प्रकार पृथिवी पञ्चलोकात्मिका है। पाँचों का भोग है। सबके केन्द्र में पृथिवी है। पृथिवी को केन्द्र मानिए। इसके ऊपर पन्द्रहवें अहर्गण तक सोममय प्राणस्तर है। यही आपःस्तर है एवं पृथिवी को केन्द्र मानकर २१ तक अग्निस्तर है। इसी को केन्द्र मानकर ३३ तक आपःस्तर है। पृथिवी को केन्द्र मानकर ४८ तक वाक्स्तर है। यह स्तर सर्वाधार है। इस पर चार स्तर हैं। इसी अभिप्राय से–**'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'**–यह कहा जाता है। पृथिवी पञ्चलोकात्मिका है। पहला वाग्लोक है। दूसरा गौलोक है। यही प्राणमय अन्तरिक्ष है। तीसरा द्यौलोक है। चौथा आपोलोक है। वाक् वाङ्मयी है। गौ वाक्प्राणमयी है। द्यौ वाक्प्राणमनोमयी है। आपः वाक्प्राणमय है। पाँचवां वेद वाङ्मय है। उपक्रम में वाक् है। उपसंहार में वाक् है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आपः-वेद–पाँचों मिलकर एक पृथिवीमण्डल है—

१–तैत्ति० उप० २।१।

५–वेदमय स्वयम्भू—वाक्स्तररूप वेदमण्डल————————वेद।
४–आपोमय लोक परमेष्ठी—वाक्प्राणस्तररूप आपोमण्डल—आपः।
३–अग्निरूप द्यौः—मनःप्राणवाक्स्तररूप तेजोमण्डल————द्यौः।
२–वायुरूप अन्तरिक्ष—वाक्प्राणस्तररूप आपोमण्डल———अन्तरिक्षम्।
१–पृथिवीपिण्ड—वाक्स्तररूप वाङ्मण्डल——————————पृथिवी।

} 'सेयं पञ्चलोकात्मिका पृथिवी'

इन पाँचों का पृष्ठ की अपेक्षा से भी विचार किया जाता है। **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**–के अनुसार इस पृथिवी में चार पृष्ठ हैं। वे चारों पृष्ठ–'हृत्', अन्तः, बहिः, ब्रह्म–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पृथिवी का हृदयस्थान हृत्पृष्ठ है–इसी को अनिरुक्त पृष्ठ कहते हैं। भूपिण्ड अन्तःपृष्ठ है–इसे हम नहीं देखते, अतएव इसे अन्तःपृष्ठ कहा जाता है एवं भूपृष्ठ से ३३ तक बहिः-पृष्ठ है–इसे ही **'पारावत-पृष्ठ'** कहते हैं। ४८ तक ब्रह्मपृष्ठ है। इसमें बहिःपृष्ठ में अग्नि, सोम (आपः) भेद से दो भेद हो जाते हैं। २१ तक अग्निपृष्ठ है। ३३ तक आपोपृष्ठ है। इस प्रकार ४ के पाँच पृष्ठ हो जाते हैं।

प्राण: ४८—प्राणमयी
आप: ३३—आपोमयी
द्यौ: २१—मनोमयी
गौ: १५—प्राणपृथिवी
वाक् —पिण्डपृथिवी
→पृथिवी-प्रपञ्च

ऋक्, यजुः, साम भेद से वेद त्रिधा विभक्त है। इन तीनों के लिए–'**महदुक्थं ऋक्, महाव्रतं साम, अग्निर्यजुः**'–ये लक्षण किए जाते हैं। महदुक्थरूप ऋक् छन्दोवेद है। इसमें भी पुनः ऋक्, यजुः, साम-तीन भेद हैं। मूर्त्ति (वस्तुपिण्ड) महदुक्थ है–यही ऋक् है–यही छन्दोवेद है। ऋग्रूप इस छन्दोवेद में–विष्कम्भ, परिणाह, वय–तीन अवयव हैं। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई–विष्कम्भ है। व्यास (डायमिटर) को भी विष्कम्भ कहते हैं। यही व्यासापरपर्य्यायक विष्कम्भक इस महदुक्थरूप ऋग्वेद का '**ऋक्**' भाग है। वस्तु का घेर (मण्डल) परिणाह है। इसी का नाम '**साम**' है। तीन विष्कम्भ को मिलाने से वस्तु का परिणाह बन जाता है। गोलवस्तु का व्यास नाप लीजिए। उसे तिगुना करने पर वह वस्तु का घेर बन जाएगा। इसी अभिप्राय से 'तृचं साम' कहा है। '**ऋचां परिणाहः-अर्चिः -अर्चिः साम**'–साम का यही लक्षण है। इसी सामविज्ञान को लक्ष्य में रखकर '**अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते**'–'**तानि सामानि स साम्नां लोकः**'–यह कहा जाता है। परिणाहरूप साम, विष्कम्भरूप ऋक्–दोनों वयोनाध (आयतन-छन्द) मात्र हैं। इनसे जो वस्तु छन्दित रहती है। वही वय है। इसी को यजुः कहते हैं। तीनों की समष्टि छन्दोवेद है एवं यही मूर्त्ति है। '**ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः**'–के अनुसार यही 'ऋक्' है। महाव्रत सामवेद है। इसे ही '**वितानवेद**' कहते हैं। इसमें भी ऋग्-यजुः-साम–तीन भेद है। अग्नि यजुः है–इसे ही '**रसवेद**' कहते हैं। इसमें भी ऋग्-यजुः-साम तीन वेद हैं। इनमें रसवेद को छोडते है एवं महाव्रतरूप सामवेद की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। यह सामवेद वितानवेद है। मूर्त्ति के ऊपर से इसका तनन होता है। ये साम कुल हजार हैं। हजार गौ के कारण यह साम सहस्रधा विभक्त हो जाता है। वस्तुपिण्ड को बीच में रखकर उसके चारों ओर मण्डल बनाइए। ऐसे हजार मण्डल बना डालिए। ये मण्डल ऋक्-मूर्त्ति के ही मण्डल हैं। ये मण्डल मूर्त्तिरूप ऋक् के चारों ओर समभाव से उत्पन्न होते हैं, अतएव '**ऋचा समं मेने**'–'**तस्मात् साम**'–इस व्युत्पत्ति से इन्हें '**साम**' कहा जाता है। इसमें साम, ऋक्-यजुः–तीन अवयव हैं। प्रधि से केन्द्र की ओर आने वाला सूचीमुख तत्त्व 'साम' है। केन्द्र से प्रधि की ओर जाने वाला तत्त्व सूच्यग्रतत्त्व '**ऋक्**' है। विष्कम्भ से आगे-आगे ऋक् तीन-तीन बिन्दु छोटी होती जाती है, अतएव उत्तरोत्तर वस्तुमूर्त्ति छोटी प्रतीत होने लगती है।

ऋक्

यजुः
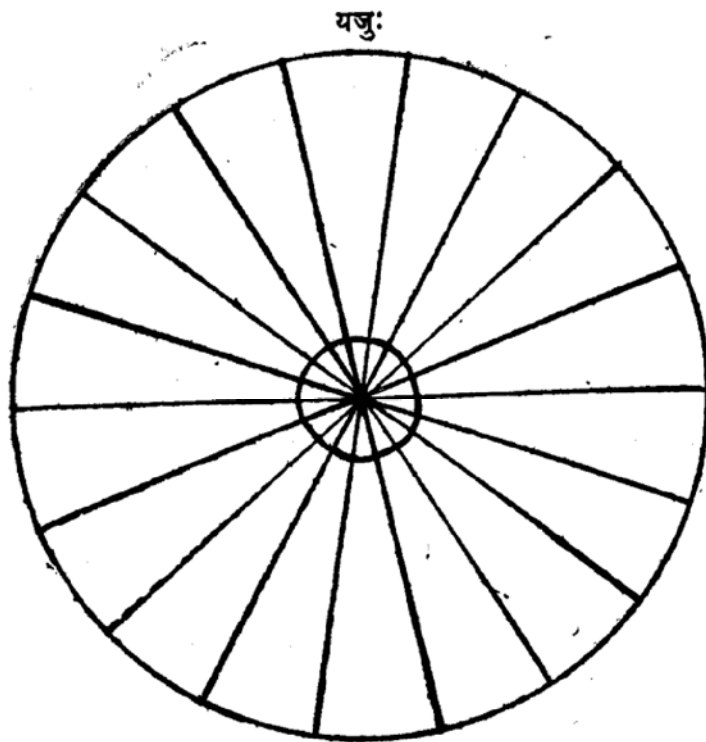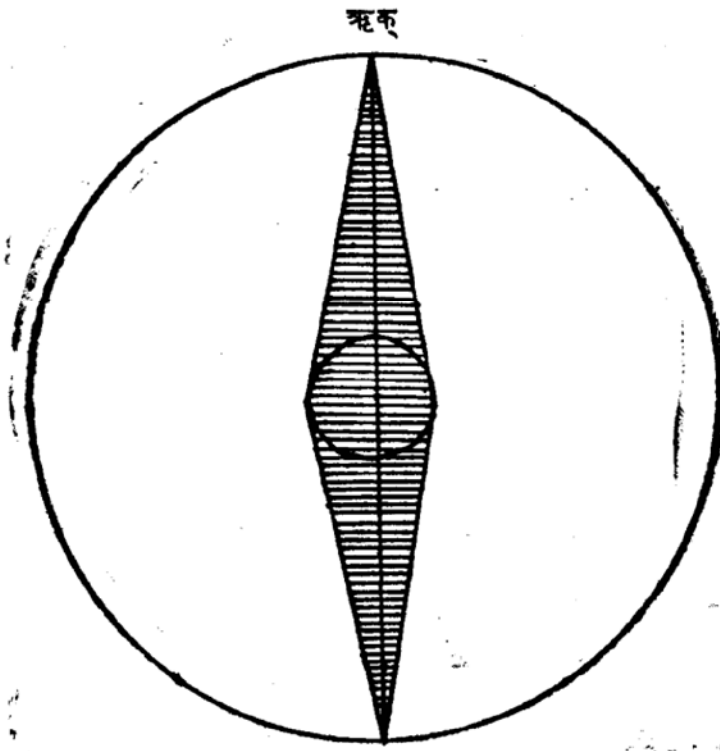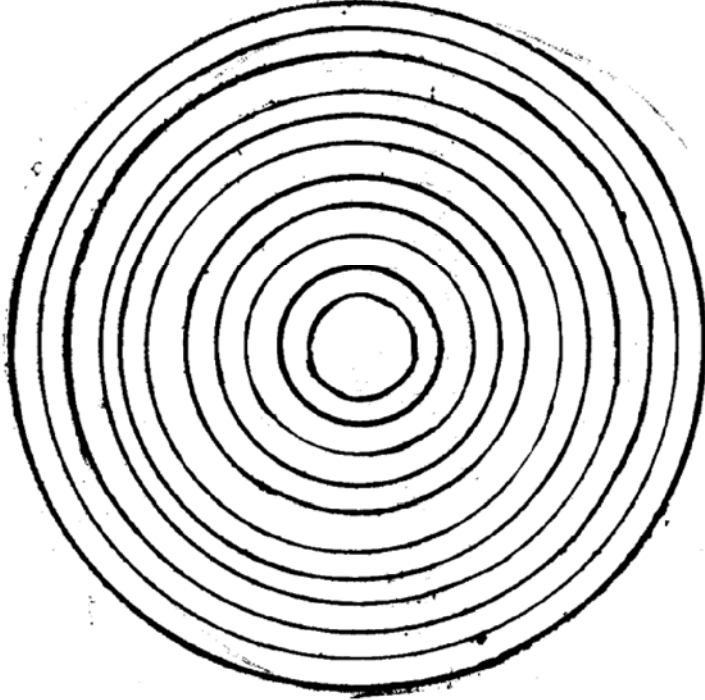
इन तीनों में से प्रकृत में केवल साम का सम्बन्ध है। हम बतला चुके हैं कि सहस्र साम का सम्बन्ध सहस्र गौ से है। सहस्र गौ के ३०-३० के ३३ विभाग होते हैं। ये ही ३३ विभाग ३३ अहर्गण कहलाते हैं। १० गौ शेष बच जाती हैं। वही ३४ वाँ प्राजापत्यभाग होता है। ३३ में ६-६ अहर्गण का एक-एक स्तोम होता है। पहले तीन में ६ मिलाने से त्रिवृत्स्तोम होता है। ६ मिलाने से पञ्चदश-स्तोम होता है। ६ और मिलाने से एकविंशस्तोम होता है फिर ६ और मिलाने से त्रिणवस्तोम होता है एवं ६ और मिलाने से त्रयस्त्रिंशस्तोम होता है। ये पाँचों अयुग्मस्तोम हैं। इसके ऊपर छन्दोमास्तोम है। ऊपर से नहीं है–पृथिवी के केन्द्र से ही यह प्रारम्भ होता है एवं ४८ तक व्याप्त रहता है। छन्दोमासाम के २४-४४-४८ तीन विभाग हैं। इन तीन का कारण गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती–ये तीन छन्द ही हैं। गायत्र साम २४ तक है। त्रैष्टुभसाम ४४ तक है एवं जागतसाम ४८ तक है। छन्दःसम्बन्ध से ये साम छन्दोमा-साम कहलाते हैं–ये ही तीन स्तोम प्रकरण में 'छन्दोमास्तोम' नाम से प्रसिद्ध हैं–ये ही युग्मस्तोम कहलाते हैं—

६–चत्वारिंशस्तोम— (२४)
७–चतुश्चत्वारिंशस्तोम— (४४) →छन्दोमास्तोम नाम से प्रसिद्ध—'युग्मस्तोम'
८–अष्टाचत्वारिंशस्तोम— (४८)

पृष्ठ्यस्तोम में उद्‌गीथरूप १७ वाँ स्तोम और मान लिया जाता है तो ६ पृष्ठ्ययस्तोम हो जाते है। इसी से 'षडह' यज्ञ का स्वरूप बनता है–इसी को 'पृष्ठ्य षडह' कहा जाता है। इन स्तोमों के हिसाब से 'त्रिवृत्' तक पहला पार्थिवस्तर है। पञ्चदश तक आपोरूप प्राणस्तर है। एकविंश तक द्योस्तर है। २७ तक भास्वरसोमस्तर है। ३३ तक दिक्‌सोमस्तर है। दोनों को मिलाकर एक अप्स्तर है। ४८ तक यही वेदस्तर है—

पूर्वप्रतिपादित स्तोमरूप साम के सात (७) अवयव माने जाते हैं। वे सातों अवयव १–हिंकार, २–प्रस्ताव, ३–आदि, ४–उद्‌गीथ, ५–प्रतिहार, ६–उपद्रव, ७–निधन–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जहाँ से वस्तुस्वरूप प्रारम्भ होता है–वहाँ हिंकार है। हिंकार वस्तु के बाहर की वस्तु है, अतएव इसे साम के बाहर निकाल दिया जाता है। परन्तु इतना अवश्य है कि विना हिंकार के साम नहीं हो सकता, अतएव–'हिंकृत्वा साम गीयते'–यह कहा जाता है। गवय्या संगीत से पहले उसकी प्रतिष्ठारूपा–'हाँ हाँ–आ आ' किया करता है। यही हिंकार है। इसके बाद गान चलता है। जैसी स्थिति शब्दब्रह्म

स्वरूप साम में है–वैसी ही स्थिति अर्थब्रह्मरूप साम में है एवं वस्तु का जो उपक्रम है–उसे **'प्रस्ताव'** कहते हैं। इसके बाद आदि है। केन्द्रस्थान उद्‌गीथ है। आगे–प्रतिहार-उपद्रव हैं। समाप्तिबिन्दु निधनसाम है। यही **'उदृच'** नाम से प्रसिद्ध है। हमारे पञ्चलोकात्मक पृथिवीलोक का साम पृथिवी पिण्ड से शुरू होता है, अतएव हम इसे **'हिंकार'** कह सकते हैं। त्रिवृत्‌स्थान प्रस्ताव है। पञ्चदश आदि है। एकविंश उद्‌गीथ है। यह केन्द्र में पड़ता है। त्रिणव प्रतिहार है। त्रयस्त्रिंश उपद्रव है। अष्टाचत्वारिंशत् निधन है। इस प्रकार इन पाँच लोकों में सात साम विभक्त हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से–**'लोकेषु सप्तविधं सामोपासीत'**–यह कहा जाता है।

वेदः	छन्दोमाः	– निधनम्	–७ समाप्तिबिन्दु]	=ब्रह्मपृष्ठम्→वेदमयम्–१
दिक्सोमः	त्रयस्त्रिंशः	– उपद्रवः	–६	
भास्वरसोमः	त्रिणवः	– प्रतिहारः	–५	
आदित्यः	एकविंशः	– उद्‌गीथः	–४ 'वस्तु का केन्द्र' (महिमा-केन्द्रः)	}→बहिःपृष्ठम्–२
वायुः	पञ्चदशः	– आदिः	–३	
अग्निः	त्रिवृत्	– प्रस्तावः	–२ वस्तु की उपक्रमबिन्दु)	
चित्याग्निः	– पिण्डपृथिवी	– हिंकारः	–१ वस्तु के बाहर का उपक्रमस्थान]	→अन्तःपृष्ठम्–३
वस्तुकेन्द्र	– (पिण्डकेन्द्र)	–		→हृत्पृष्ठम्– ४

पूर्व के निरूपण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी में सारे ब्रह्मसत्य का भोग हो रहा है। स्वयम्भू-परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी–पाँचों की समष्टि पृथिवी है। पाँचों की समष्टि ही परम ओंकार है। यह ओंकार–उसी षोडशी पुरुष पर प्रतिष्ठित है। आदित्य से नीचे पृथिवी का मर्त्यभाग है। आदित्य से ऊपर अमृतभाग है। आदित्य अमृत-मर्त्य का समुच्चय है। इन तीनों विभागों का अध्यक्ष वही षोडशी है। षोडशी की अपेक्षा ये तीनों ही भाग मर्त्य हैं। आदित्य से नीचे का सारा प्रपञ्च–'म्' है। अतिस्थूल है। ऊपर का सारा प्रपञ्च 'अ' है। सूक्ष्म है। मध्य का आदित्य 'उ' है। यह स्थूल-सूक्ष्म है। तीनों मृत्युमात्राएँ–उसी अमृतरूप अर्द्धमात्रा नाम से प्रसिद्ध अमात्र षोडशी पुरुष पर प्रतिष्ठित हैं। यही महा ओंकार है–इसी को **'प्रणवोङ्कार'** कहते हैं। **'नु स्तुतौ'**–से प्रणव बनता है। इस ओम् का उपक्रम पृथिवी है। वही प्रस्तावसाम है। वही प्रणव है। ४८वीं बिन्दु निधन है। चूंकि इस ओंकार का उपक्रम पृथिवीरूप प्रस्तावसाम है, अतएव हम इसे–**'प्रणव'** ओंकार कह सकते हैं। इसके पेट में पाँचों लोक आ जाते हैं। यही ईश्वर है। इसका वाचक यही ओंकार है—

आगे आने वाले 'मुण्डकोपनिषत्' के **'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः'**–इसमें द्यावापृथिवी का निरूपण किया गया है। भूः-भुवः-स्वः'–तीनों स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्म अवस्थाओं के वाचक हैं–यह बतलाया जा चुका है, अतः विश्व के तीन विभागों के साथ पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः नाम देखकर कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए। इस परम ओंकार की तीनों मात्राओं का यदि अमृतात्मा (षोडशी प्रजापति) की दृष्टि से विचार किया जाता है–तब तो तीनों मर्त्यभावापन्न हो जाती हैं। क्योंकि तीनों ही क्षररूप हैं। परन्तु अमृतात्मा को छोड़कर केवल इन्हीं का विचार किया जाए तो इनमें भी मर्त्यामृत दो विभाग हो जाते हैं। आदित्य से ऊपर अमृत है। नीचे मर्त्य है। अमृत नाम से प्रसिद्ध परार्ध्यभाग का उपक्रम उद्गीथ-स्थानीय आदित्य है एवं मर्त्य नाम से प्रसिद्ध अवरार्ध्य का उपक्रम पृथिवी है। इन दो भेदों के कारण उस परम ओंकार की महिमा में दो अवान्तर ओंकार और हो जाते हैं। वे ही दोनों–उद्गीथों-कार एवं प्रणव-ओंकार नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले प्रणव-ओंकार को ही लीजिए। पृथिवी 'म्'–है। अन्तरिक्ष 'उ' है। आदित्यरूप द्यौ 'अ' है एवं ब्रह्मसत्य का सूर्य्यभाग अर्द्धमात्रा है। वह सूर्य्य परअव्यय षोडशीयुत है। पृथिवी से यह 'ओम्' चलता है, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार मर्त्योपक्रम-स्थानीय इस ओंकार को हम **'प्रणव'** कहने के लिए तय्यार हैं।

सूर्य्य—	अव्यक्त महान्–पुरुषगर्भित सूर्य्य (अमृतसेतुरूप)			अर्द्धमात्रा	
द्यौ–	आदित्यः	→द्यौः	—'अ'	'ओम्'	सूक्ष्म
अन्तरिक्ष–	वायुः	→अन्तरिक्षम्	—'उ'	'ओ'	स्थूलसूक्ष्म
पृथिवी–	त्रिवृदग्निः चित्याग्निपिण्डः	→पृथिवी	—'म्'	'म्'	स्थूल

'मर्त्योपक्रमस्थानीयः प्रणवः-ओंकारः'

अब सूर्य्य को उद्गीथ समझिए। उत्-गी-थ' ही उद्गीथ है 'उत्' ऊपर, 'गी' जाओ, 'थ' ठहरो। सूर्य्य उत्तर कहलाता है। पृथिवी दक्षिण कहलाती है। वह उत्तर है–यह अवाची है। उत्तर शब्द का अर्थ है–ऊपर। अवाची का अर्थ है–नीचे। ऊपर जाओ और वहाँ ठहरो। उसको (सूर्य्य को) लक्ष्य बनाओ। वह तुम्हारा 'उद्गीथ' है। यह अमृतमण्डल का उपक्रम है। यह पहली मात्रा है। परमेष्ठी अव्यक्तरूप दोनों सोम दूसरी मात्रा हैं। अव्यक्तरूप वेद तीसरी मात्रा है। तीनों का आधार वही षोडशी है। यही अमृतोपक्रमरूप दूसरा उद्गीथ ओंकार है—

पुरुष	षोडशी प्रजापति		अर्द्धमात्रा	
स्वयम्भू	वेदः	→द्यौः	'अ'	'ओम्'
परमेष्ठी	दिक्सोम भास्वरसोम	→अन्तरिक्षम्	'उ'	'ओ'
सूर्य्य	सूर्य्य (आदित्य)	→ पृथिवी	'म्'	'म्'

'अमृतोपक्रमस्थानीयोद्गीथोंकार'

अमृत, ब्रह्म, शुक्र–तीन सृष्टियोनिएँ हैं। इनमें अमृत आत्मयोनि है। यही पुरुष योनि है। आत्मा शब्द जहाँ देखो–वहाँ इस अमृत (षोडशी) का सम्बन्ध समझो। ब्रह्म प्राणयोनि है–यही प्रकृति है। जहाँ प्राण शब्द देखो–वहीं इस प्राण का सम्बन्ध समझो। शुक्र पशुयोनि है–यही विकृति है। जहाँ पशुशब्द देखो, वहीं शुक्र का सम्बन्ध समझो। तीनों की समष्टि को एक अश्वत्थ प्रजापति समझो। यही ओंकार है। यही परापर ब्रह्म है। षोडशी आत्मा अमृत है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी–ये पाँचों ब्रह्म हैं। इनमें रहने वाला भूतप्रपञ्च शुक्र है। वह उक्थ है–मध्य का अर्क है। अन्त की अशिति है। वह आत्मा है। मध्य का प्राण है। अन्त का पशु है, वह पुरुष है। मध्य की प्रकृति है। अन्त की विकृति है। सर्वोपरि विकृति है–तदन्तर्गत प्रकृति है। सर्वान्तरतम गूढोत्मा पुरुष है,–अतएव उसके लिए—

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" ।।[1]

—यह कहा जाता है । विकृति-प्रकृति एक है–पुरुष एक है । वह पुरुष विकृतिमय प्रकृति में अन्तर्निगूढ है । प्रकृति मध्य में है । ऊपर पुरुष है । नीचे विकृति है, अतएव ब्रह्मसत्यरूप प्रकृति से दोनों का ग्रहण हो जाता है–यही **'सर्वम्'** है । इससे अतिरिक्त कुछ नहीं है । इस ब्रह्म के (विकृति पुरुषविशिष्ट ब्रह्म के) पर और अपर–दो भेद हैं । अमृतसूर्य्यं, परमेष्ठी, स्वयम्भू परब्रह्म है । यह अमृतरूप है । मर्त्य सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी–यह अपरब्रह्म है । यही मर्त्यब्रह्म है । पृथिवी वाक् है । चन्द्रमा वाक्प्राण है । सूर्य्य मनःप्राणवाक् है । परमेष्ठी प्राणवाक् है । स्वयम्भू वाक् है । यही परापर ब्रह्मनाम से प्रसिद्ध ओंकार है । पूर्व का विभाग केवल पार्थिव था । यह पाँचों से सम्बन्ध रखता है । जो स्वरूप पञ्चकलोपेता पृथिवी का था–वही इसका है । आगे लिखी तालिकाओं से सारा विषय स्पष्ट हो जाता है—

१–कठोप० १।३।१२ ।

ब्रह्मापेक्षया—

१–पौरुषं ब्रह्म = तदेवामृतमुच्यते = षोडशी पुरुष = आत्मा = पुरुष = उक्थ पशुपति = आत्मयोनि — अमृत

२–प्राकृतं ब्रह्म = तद्ब्रह्म = पञ्चीकृत विश्वसृट् = प्राण = प्रकृति = अर्क पाश = प्राणयोनि — ब्रह्म

३–शुक्रियं ब्रह्म = तदेव शुक्रम् = भूतभौतिकप्रपञ्च = पशु = विकृति = अशिति पशु = पशुयोनि — शुक्र

} प्रजापतिः

१ भूतापेक्षया	२ पिण्डापेक्षया	३ प्रजापेक्षया	४ स्तोमाः	५ पृष्ठापेक्षया	६ पुरुषापेक्षया	७ प्रकृत्यपेक्षया
१–आकाशः —	'वाक्-स्वयम्भू'	'वेदाः' =	४८ =	ब्रह्मपृष्ठम्	= वाक्पृष्ठ	= प्राणपृष्ठ
२–वायुः —	'आपः-परमेष्ठी'	'लोकाः' =	३३ =	पारावतपृष्ठम्	= प्राणवाक्पृष्ठ	= आपःपृष्ठ
३–तेजः =	'द्यौः-सूर्य्यः'	'देवाः' =	२१ =	अग्निपृष्ठम्	= मनप्राणवाक्	= वाक्पृष्ठ
४–जलम् =	'अन्तरिक्ष-चन्द्रमाः'	'भूतानि' =	१५ =	वायुपृष्ठम्	= प्राणवाक्पृष्ठ	= अन्नपृष्ठ
६–पृथिवी =	'पृथिवी-पृथिवी'	'पशवः' =	पिण्डम् =	वाक्पृष्ठम्	= वाक्पृष्ठ	— अन्नादपृष्ठ

} अश्वत्थः

—यह है—'ओंकार' इसकी–'ओम्' इस शब्दब्रह्म द्वारा उपासना करने से क्या फल होता है ? यह ५वाँ प्रश्न इसी प्रश्न का समाधान करता हैं। सौर्यायणी गार्ग्य के समाधान होने पर शैब्य नाम से प्रसिद्ध सत्यकाम आए और उन्होंने पिप्पलाद से प्रश्न किया कि भगवन् ! मनुष्यों में जो मनुष्य यावज्जीवन मृत्युकालपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है, उसी की उपासना में तल्लीन रहता है– वह इस उपासनारूप ओंकार से किस लोक को अपने अधिकार में करने में समर्थ होता है ? अर्थात् ओंकार की उपासना का क्या फल ? जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति" ॥१॥

॥१॥

——❀——
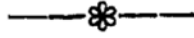
प्रश्न सुनकर ऋषि शैब्यसत्यकाम को कहने लगे कि सत्यकाम! यही पर और अपर ब्रह्म है—जो कि ओंकार है। ओंकार दोनों का समुच्चय है, अतएव इस परापररूप ओंकार ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला विद्वान् इन्हीं दोनों में से किसी एक आयतन से किसी एकमार्ग का आश्रय कर सकता है।

ओंकार का स्वरूप बतलाते हुए हमने कह दिया है कि इस ओंकार के पेट में-अमृतोपक्रम-स्थानीय उद्गीथोंकार एवं मर्त्योपक्रमस्थानीय प्रणवओंकार—दो ओंकार हैं। दोनों ही मार्ग हैं। प्रणव से चलो या उद्गीथ से चलो। प्रणव मृत्युलोक पर सत्ता करवाता है। उद्गीथ मृत्यु से अति-मुक्ति करवाता है। प्रणव का फल अपरामुक्ति है। उद्गीथ का फल समवलय नाम से प्रसिद्ध परामुक्ति है। ऋषि दोनों का ही निरूपण करते हैं। किसकी उपासना की जाय? इस प्रश्न का उत्तर अधिकारी की योग्यता है। साधारण अधिकारी प्रणव की उपासना करने में समर्थ होते हैं एवं असाधारण अधिकारी उद्गीथ की उपासना करने में समर्थ होते हैं। **'एकतरं अन्वेति'** का अर्थ है—**'परं अपरं वा अन्वेति'**। यदि प्रणव की उपासना है, तब तो अपरब्रह्म-प्राप्ति है। यदि उद्गीथ की उपासना है तो 'पर' की प्राप्ति है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्त-स्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" ॥२॥

॥२॥

——❀——
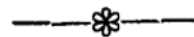
अथ प्रणवोंकारस्वरूपनिरूपणं-फलादेशश्च—

'स्थूलारुन्धतिन्याय' को लक्ष्य में रखते हुए पहले पिप्पलाद अपरब्रह्मप्राप्ति के साधनभूत अपर-ब्रह्मरूप प्रणव ओङ्कार का एवं उसकी उपासना से प्राप्त फल का ही निरूपण करते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ—तीन लोक मर्त्यलोक हैं। पृथिवी पृथिवी है। अन्तरिक्ष चान्द्रसोममय है। द्यौ मर्त्य सूर्य्य है। इसके ऊपर अमृतसूर्य्य है। पृथिवी में अग्नि की सत्ता है। अन्तरिक्ष में वायु की सत्ता है। द्युलोक में मर्त्यसूर्य्य (जो कि आदित्य नाम से प्रसिद्ध है) की सत्ता है। अग्नि, वायु, आदित्य—तीनों त्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। तीनों की प्रतिष्ठा क्रमशः—ऋक्, यजुः, साम वेद हैं। इसी अभिप्राय से तो—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम्" ॥[1]

—यह कहा जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'अपरविद्यानिरूपणात्मक' प्रथममुण्डक के द्वितीयखण्ड में देखना चाहिए। 'अ' मन का वाचक है। 'उ' प्रणव का वाचक है। 'म्' वाक् का वाचक है। पूर्व में बतला दिया है कि पृथिवी केवल वाङ्मयी है। इसका देवता अग्नि है। वेद ऋक् है। अक्षर 'म्' है। केवल वाग्रूप होने से यह 'म्' मात्र है। सोममय अन्तरिक्ष में वाक्-प्राण, दोनों हैं। प्राण का अधिक विकास है। वाक् का अभिभव है, अतः यहाँ अरूपमन आधार बन जाता है। बस, वेद यजुः है। देवता वायु है। अक्षर 'ओ' है। 'द्यौ' में 'ओम्' तीनों हैं। क्योंकि वह मनःप्राणवाङ्मय है। तीनों लोक क्रमशः मनुष्यलोक, सोमलोक (पितृलोक), देवलोक नाम से प्रसिद्ध हैं। लोक तीन ही होते हैं। इसी अभिप्राय से—

"त्रयो वाव लोकाः—मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः" ॥[2]

—यह कहा जाता है। यहाँ देवलोक को अपरब्रह्मसम्बन्ध से 'ब्रह्मलोक' कहा है। देवलोक के 'ऐन्द्र, प्राजापत्य, ब्राह्म'—तीन भेद हैं। ऐन्द्रलोक देवलोक है। यहाँ तीसरा ब्राह्मलोक प्राप्त होता है जो कि देवलोकों में अन्तिम लोक है, अतएव देवलोक न कहकर 'ब्राह्मलोक' कहा है। बस, जो मनुष्य एक अक्षर (म्) का निशाना बनाकर उपासना करता है—वह मनुष्यलोक पर अधिष्ठित हो जाता है। सारे भूमण्डल पर उसका साम्राज्य हो जाता है। वह तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा से संपन्न होता हुआ जीवन-पर्य्यन्त पार्थिव वैभव को भोगा करता है। यद्यपि ध्यान करता है पूरे ओंकार का, परन्तु दृष्टि है—एक ही मात्रा पर। पार्थिव कामना से यदि ओम् की उपासना की जाती है तो एक ही मात्रा का सम्बन्ध होता है-दो भाग अलग हो जाते हैं। यावज्जीवन वह यदि ऐसा करता है तो उसके प्रभाव से संवेदित (पूर्णरूप से उस मात्रा-ज्ञान से युक्त) होता हुआ शरीर छोडने के अनन्तर इतर क्रमिक योनियों में न जाकर अतिशीघ्र इसी भूमण्डल पर जन्म लेता है। वहाँ पर आए हुए इस मनुष्य को—वही एकमात्ररूप ऋक्भाग मनुष्यलोक में प्रतिष्ठित करता है। उसके प्रभाव से वह ब्राह्मण श्रेष्ठ बनता हुआ तप आदि से युक्त हो जीवनपर्य्यन्त पूर्ण वैभव का भोग करता है। इसी को गीता में 'योगभ्रष्ट' कहा है। ओम् का योग किया, परन्तु एकमात्रा से। यही भ्रष्टता है। इसका फल—

"प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" ॥[3]

१—मनुस्मृति १।२३ ।
२—शत० ब्रा० १४।४।३।२४ ।
३—गीता ६।४१ ।

**"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्" ।।**[1]

—यही है। 'जगत्यां से अर्थ भूलोक है। 'मनुष्यलोकः' से मनुष्ययोनि उसमें भी ब्राह्मण अभिप्रेत है। क्यों? उत्तर यही 'ऋक्' है। ऋक् वैश्वानर अग्नि से सम्बन्ध रखती है। वैश्वानर ही पुरुष पशु है। यही ब्रह्मवीर्य्य का अधिष्ठाता है। जगती में जन्म लेता है, परन्तु पशु आदि हीन योनियों में नहीं–अपि तु, ब्राह्मणादि उत्कृष्ट योनियों में जन्म लेता है। इसका कारण वही 'ऋक्' है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति" ।।३।।

।।३।।

——❀——

अब यदि चन्द्रलोकरूप पितृलोक की कामना है तो दो मात्राओं के साथ मन का योग होता है। यदि दो मात्राओं से मन में युक्त होता है–ध्यान योगद्वारा यह उपासक दो मात्राओं से अपने मन से संपन्न हो जाता है तो अन्तरिक्ष का यजुः-भाग इसे सोमलोकरूप अन्तरिक्ष में ले जाता है। वहाँ उस लोक की विभूति भोगकर वह पुनः इसी लोक में आ जाता है। श्रुति के अक्षरों में बड़ा चमत्कार है। अक्षर थोड़े से हैं, परन्तु विषय बहुत है। एकमात्रा की उपासना करने वाले को चन्द्रलोक में रहने का अधिकार नहीं है एवं 'ओम्' की उपासना के प्रभाव से वह नरक में भी नहीं जा सकता। वह मरते ही और किसी लोक में न जाकर अव्यवहितोत्तरकाल में ही इसी भूमण्डल पर मनुष्ययोनि में आ जाता है–इसी विषय को ध्यान में रखकर–'**स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते**'–यह कहा है। परन्तु द्विमात्रा की उपासना में यह बात नहीं है। यहाँ शरीर छोड़ने पर इस चन्द्रलोक में जाना पड़ता है। वहाँ का वैभव भोगना पड़ता है एवं भोग समाप्त होने के अनन्तर योगभ्रष्ट होने से पुनः इसी लोक में आना पड़ता है।

पूर्वोक्त—'**प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्-उषित्वा शाश्वतीः समा**'–यह गीतावाक्य इसी द्वैमात्रिका गति से सम्बन्ध रखता है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते" ।।४।।

।। ४ ।।

——❀——

१–गीता ६।४२।

अब यदि वह त्रिमात्र से युक्त पूर्ण (ओंकार) ओंकाराक्षर से उस 'पर' का ध्यान करता है तो वह मृत्यु के अनन्तर-**'तेजः परस्यां देवतायाम्'**-के अनुसार उस सूर्य्यरूप 'परतेज' में सम्पन्न (लीन) होता हुआ उसी प्रकार सारे पाप्माओं से विनिर्मुक्त हो जाता है कि जैसे पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (कंचुकी नाम से प्रसिद्ध) से विनिर्मुक्त हो जाता है। **'ओम्'** यह अक्षर-ब्रह्म है। अक्षर अक्षर है। इसकी प्राप्ति से पुनरागमन सम्भव नहीं है। देवलोक से (ऐन्द्र लोक से) पुनरागमन सम्भव है, परन्तु ब्रह्म-लोक से (जो कि देवलोक का अन्तिम भाग है) पुनरागमन नहीं हो सकता। १७ से २० तक पुनरागमन है। सूर्य्य २१ पर है। यही ब्रह्मलोक है। यह साममय है। ओम् का वही सामभाग इसे इसी लोक में प्रतिष्ठित करता है, अतएव यहाँ गए बाद पुनरागमन कथमपि सम्भव नहीं है। यह एक प्रकार की अपरा मुक्ति है। सूर्य्य हिरण्यगर्भ प्रजापति है। रोदसी ब्रह्माण्ड के सारे जीव इससे निकले हैं, अतएव हम इसे **'जीवघन'** कह सकते हैं। आज यह मनुष्य ओम् के प्रभाव से जीवघन में लीन हो गया है। इसी जीवघन की कृपा से वह उस पुरिशय परात्परपुरुष को देखा करता है।

मर्त्यसूर्य्य जीवघन है। अमृतसूर्य्य महदक्षरयुक्त है। अक्षर अव्ययपुरुष से अविनाभूत है। पुरुष मायापुर में रहने से पुरुष कहलाता है। मर्त्यसूर्य्य, अमृतसूर्य्य, महान्, अक्षर, अव्यय-पाँचों मिलकर एक परात्परपुरुष है। जीवपुरुष 'पर' है। यह भाग जीव 'पर' (अव्यय) से भी पर है, अतएव उसे परात्पर पुरुष कहा जाता है। यह कहने की आवश्यकता यही हुई कि हम परात्पर को अव्यय से बाहर बतलाते हैं। यहाँ परात्पर से वह परात्पर अभिप्रेत नहीं है। इसी का स्पष्टीकरण करने के लिए परात्पर के साथ पुरुष-शब्द का उल्लेख कर दिया है। परात्पर पुरुष से अभिमत नहीं होता। उसके साथ सामीप्य-भावमात्र को प्राप्त होता है। अपरामुक्तिमात्र है। इस प्रकार प्रथममात्रा से मनुष्यलोकप्राप्ति है। दो से पितृस्वर्ग-प्राप्ति है। तीन से ब्रह्मलोकावाप्ति है। तीनों नहीं तो **'नरक'** है अर्थात् इन तीनों के अभाव में कुत्सित गति प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही अपर ओंकार में मात्राभेद से-मनुष्यलोक, स्वर्ग, अपरामुक्ति-तीन विभाग हो जाते हैं—

१-पृथिवी	ऋक्	मनुष्यलोक	भौमसुख	'म्'	-**"अपरब्रह्मरूपप्रणवोङ्कारः"**
२-अन्तरिक्ष	यजुः	पितृलोक	पितृस्वर्ग	'ओ'	
३-द्यौः	साम	ब्रह्मलोक	अपरामुक्ति	'ओम्'	

इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः ।। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनि-

मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुष-मीक्षते ॥ तदेतौ श्लोकौ भवतः" ॥५॥

॥ ५ ॥

——❀——
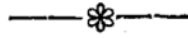
इसी अर्थ का निरूपण करने वाले निम्नलिखित दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

१—"तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः" ॥६॥

—इस श्लोक का सम्बन्ध प्रणव ओंकार से है एवं आगे का सातवां श्लोक उद्गीथ ओंकार से सम्बन्ध रखता है—जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट हो जाएगा । पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ रूप तीन मात्रा मृत्युमयी हैं, क्योंकि तीनों लोक मर्त्य हैं । तीनों मात्राएँ परस्पर अविनाभूत हैं । इसलिए हम तीनों के लिए—'अन्यो-न्यसंयुक्ताः'—कह सकते हैं । परन्तु स्वरूप से तीनों भिन्न हैं, अतः तीनों के लिए—'अनविप्रयुक्ताः' कह सकते हैं । भावदृष्टया विभिन्न हैं । सत्तादृष्टया एक हैं । तीन भाति हैं । तीनों मिलकर वस्तु एक है, यही तात्पर्य्य है । यदि संसार के बाह्याभ्यन्तर सारे क्रियाकलापों में इन तीनों मात्राओं का सम्बन्ध कर दिया जाता है तो ऐसी अवस्था में ऐसा विद्वान् कम्पशून्य हो जाता है । इसी को भगवान् ने आत्मसमर्पणयोग कहा है । योगशास्त्र वाले इसी को अजपाजाप कहते हैं । सब कुछ करो, परन्तु 'ओम्' को ध्यान में रखो । सर्वत्र ओम् की तीनों मात्राओं को अनुस्यूत देखो । इससे स्थिरयोग उत्पन्न होगा एवं इससे संसाररूप, अतएव भयरूप विश्वबन्धन से अलग होकर उसी अपुनरावृत्तिरूप ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हो जाओगे ।

॥ इति प्रणवोङ्कारस्वरूपनिरूपणम्-फलादेशश्च ॥

॥ ६ ॥

अथ—अमृतोपक्रमस्थानीय-उद्गीथोङ्कारोपदेशः—

अपर के बाद है—परब्रह्म । वह अमृतरूप है । उसकी प्राप्ति का उपाय उद्गीथोंकार है । उसी का संक्षिप्तरूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

२—"ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं, स सामभिर्यत् तत् कवयो वेदयन्ते । तमो-ङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्-यत्तच्छान्तम्-अजरम्-अमृतम्-अभयं परं च" ॥७॥

ऋग्रूप प्रथममात्रा से इस मनुष्यलोक को, यजुरूप द्विमात्रा से सोमलोकरूप अन्तरिक्षलोक को एवं सामरूप त्रिमात्रा से उस लोक को जो कि ब्रह्मलोक है, विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं। अर्थात्–मर्त्यं त्रिलोकी के प्राप्ति का उपाय वेदत्रयीरूप अपरब्रह्म ही है। जैसे वह इससे इस अपरब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होता है–एवमेव उस परब्रह्म को भी उस उद्गीथ ओंकार से ही वह प्राप्त कर सकता है–जो कि परब्रह्म-अव्यक्त, अक्षर, अव्यय, परात्पर की समष्टिरूप है। अव्यक्त स्वयम्भू है। इसी को कठ ने शान्तात्मा कहा है। इसके अभिप्राय से **'शान्तम्'** कहा है–यही अजर है। अक्षर अमृत नाम से प्रसिद्ध है। परात्पर अमय नाम से प्रसिद्ध है एवं अव्यय 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। इन सब की समष्टि ही **'परब्रह्म'** है। ओंकार से ही अपरब्रह्म प्राप्ति होती है। ओंकार से ही परब्रह्म–प्राप्ति होती है। अपर-ब्रह्म की प्राप्ति मर्त्योपक्रमस्थानीय पार्थिव प्रणव ओंकार से होती है एवं परब्रह्म की प्राप्ति अमृतोपक्रम स्थानीय सौर उद्गीथ ओंकार से होती है। बस, शैब्य सत्यकाम के---

"यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयति" ?

इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

ओम् का मूलभाग स्वयम्भू का अव्यक्तभाग है। वहीं ओम् का विकास है। अव्यक्त वाक् प्राणमय है। यही प्राणमयी वाक् ओम्स्वरूप में परिणत होती है। इस प्रश्न में इसी का निरूपण है, अतएव हम अवश्य ही इस पाँचवें प्रश्न को स्वायम्भुव अव्यक्तप्राण का निरूपक कहने के लिए तय्यार हैं। इसीलिए तो श्रुति ने उपसंहार-मन्त्र में **'शान्तम्'** कहा है। वह 'परब्रह्म' शान्तरूप है। शान्तात्मा वही अव्यक्त है।

।। इति उद्गीथनिरूपणम् ।।

निष्कर्ष :—

१–सर्वज्ञ	ओम्			
२–हिरण्यगर्भ	ओ	→उपास्य →प्राप्तव्य	= अधिदैवतब्रह्म	= ईश्वरात्मा
३–वैश्वानर	अ			

१–ओम् २–ओ ३–अ	→उपासनासाधक →प्राप्तिसाधन	=शब्दब्रह्म	=अधिभूतात्मा
१–प्राज्ञ –ओम् २–तैजस –ओ ३–वैश्वानर –अ	→उपासक →प्राप्तिकर्त्ता	=अध्यात्मब्रह्म	=जीवात्मा

अपने अध्यात्म की–अ-ओ-ओम्‌रूप वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप तीनों कलाओं के अधिभूतरूप–(शब्दब्रह्मरूप) अ-ओ-ओम् द्वारा–अधिदैवत की तीनों कलाओं को युक्त कर देना ही–सारे उपनिषद् का निष्कर्ष है।

॥ इति अव्यक्तप्राणनिरूपणात्मकः पञ्चमप्रश्नः ॥

अथ

षोडशीप्रजापतिनिरूपणात्मकः षष्ठप्रश्नः

६

"मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्" ॥
(कैवल्योप० १।१९।)

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा" ॥
(मुण्डकोप० ३।१।९।)

अथ प्रश्नोपनिषदि—

षष्ठः प्रश्नः

[मूलपाठः] अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ, तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद । यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति । समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम् । स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ।।१।।

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ।।२।।

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ।।३।।

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ।।४।।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति । तदेष श्लोकः ।।५।।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८॥

॥ इति षष्ठप्रश्नस्य मूलपाठः ॥

अथ

षोडशीप्रजापतिनिरूपणात्मकः षष्ठप्रश्नः

[**विज्ञानभाष्य**] इस उपनिषत् को हमने '**प्राणोपनिषत्**' कहा है। '**यस्मिन् प्राणः पञ्चधा आविवेश**'-के अनुसार वह प्राण पाँच प्रकार के हैं। इन पाँचों प्राणों का पूर्व के पाँच प्रश्नों में बडे विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है। अब बचता है-प्राणाधार पुरुष। अमृत, ब्रह्म, शुक्र-ये तीन सृष्टियोनिएँ हैं-जैसा कि पाँचवें प्रश्न में बतलाया जा चुका है। इन तीनों में अमृत आत्मयोनि है। ब्रह्म प्राणयोनि है। शुक्र पशुयोनि है। आत्मयोनि पौरुष ब्रह्म है। प्राणयोनि प्राकृत ब्रह्म है एवं पशुयोनि शुक्रिय ब्रह्म है। तीनों की समष्टि प्रजापति है। इसमें प्राण उस प्रजापति के प्राण हैं। यह प्राण उस प्रजापति में प्रविष्ट रहते हैं। बस, इस छठे प्रश्न में उसी प्रजापति का '**विज्ञान**' रूप से निरूपण है—

शैब्य सत्यकाम के समाधान हो जाने पर-अब सुकेशा भारद्वाज पिप्पलाद के सामने आए और उन्होंने कहा कि—

भगवन्! कोसल देश में रहने वाला, अतएव '**कौसल्य**' नाम से प्रसिद्ध हिरण्यनाभ नाम का राजपुत्र (क्षत्रिय) एक बार मेरे पास आया और मेरे से वह प्रश्न करने लगा कि भारद्वाज! आप कृपाकर मुझे षोडशकल पुरुष का स्वरूप बतलाओ? प्रश्न करने पर मैंने उस कुमार से कहा कि कुमार! मैं षोडशकल प्रजापति का स्वरूप नहीं जानता। यदि मैं जानता रहता तो तुम्हें कैसे उसका स्वरूप नहीं बतलाता? वह जड़ से सूख जाता है (उसका आत्मा जड़ से सूख जाता है) जो कि अनृत बोलता है। इसलिए मैं कभी मिथ्या नहीं बोल सकता हूँ। (मेरी इस विवशता से) कुमार विना कुछ कहे सुने चुपचाप वापस लौट गए। हे पिप्पलाद! आज मैं आपसे वही प्रश्न करता हूँ। कृपाकर बतलाइए! वह षोडशी पुरुष कौन सा है? उसका क्या स्वरूप है?

यह है-भारद्वाज के प्रश्न का स्वरूप। इस प्रश्न में बतलाया गया है कि जो मनुष्य मिथ्याभाषण करता है-वह जड़ से सूख जाता है। मिथ्या बोलने से आत्मा कैसे सूख जाता है? इसका उत्तर निम्न-लिखित सत्यानृत प्रकरण को देखने से मिल सकता है।

सत्य, ऋत, अनृत–तीनों भावों में विश्व विभक्त है। सशरीर-सहृदय तत्त्व सत्य है एवं अहृदय-अशरीरी तत्त्व ऋत है। ऋत-सत्य का अभाव **'अनृत'** है। अंगिरा सत्य है, भृगु ऋत है। अग्नि, यम, आदित्य–तीनों अंगिरा हैं–तीनों सत्य हैं। आपः, वायु, सोम–तीनों भृगु हैं। तीनों 'ऋत' हैं। उभयाभाव 'अनृत' है। यद्यपि ऋत का अभाव अनृत है, तथापि ऋत के पेट में चूंकि सत्य रहता है, विना ऋत के सत्य नहीं रह सकता, अतएव अनृत को उभयाभावरूप कहा जा सकता है। वेद में मिथ्या के लिए **'असत्य'** शब्द नहीं आता, अपि तु, **'अनृत'** शब्द आता है। क्योंकि असत्य वस्तु ऋत का अभाव है। अनृत ही सत्य का अभाव है, अतएव जहाँ **'सत्यसंहिता वै देवाः'**–यह कहा जाता है, वहाँ जोड़े में **'अनृत संहिता वै मनुष्याः'**–यही कहा जाता है। अग्नि सत्य है, सोम ऋत है। ऋत के पेट में अग्नि का जन्म होता है एवं उसी ऋत की आहुति से वह सत्य प्रतिष्ठित रहता है। परमेष्ठी सोममय है। उसके पेट में सूर्य्याग्नि है। पारमेष्ठ्य ऋत आपः ने (भृगु ने) इसी सत्यसूर्य्य को अपने में प्रतिष्ठित कर रखा है। सूर्य्याग्नि निरन्तर सोमाहुति खा रहा है। इसी ऋत सोमाहुति पर इस सूर्य्य सत्य का स्वरूप प्रतिष्ठित है। वस्तुपिण्ड सत्य है। पिण्ड भावरूप है। भाव अभाव पर निर्भर है। अभाव का अर्थ है–उस पिण्ड का अभाव। जब तक पिण्ड के बाहर उसका अभाव नहीं होगा, तब तक उसमें व्यक्तित्व न आवेगा। वह अभाव दार्शनिक परिभाषा में तो कोरा अभाव ही है, परन्तु विज्ञानजगत् उसे **'ऋत'** कहता है। खाली स्थान **'ऋत'** है–क्योंकि खाली स्थान में आपः, वायु, सोम भरे रहते हैं एवं इन तीनों की समष्टि ही **'ऋत'** है। प्राणात्मक ऋत उस पिण्ड को घेरे रहता है। उसी को दार्शनिक लोग–**'शरीराकाश'** कहा करते हैं। ऐसा कोई भी सत्यपिण्ड नहीं जो ऋत से वेष्टित न हो। ऋत के साथ सत्य अन्तर्य्याम बना रहता है। जिस दिन दोनों की ग्रन्थि टूट जाती है–उस दिन सत्यपिण्ड नष्ट हो जाता है। वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञविशिष्ट प्रज्ञानात्मा भूतात्मा है। यही कर्म्मात्मा है। **'स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः'**–के अनुसार सौरविज्ञानभाग अध्यात्म में आकर प्रज्ञान से युक्त होता हुआ उससे अविना-भूत रहता है। भूतात्मा का आत्मापना इसी विज्ञान पर निर्भर है। इसीलिए तो सौर विज्ञान के लिए-**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**–यह कहा जाता है। यह विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञानात्मा वाक्, प्राण, मनोमय है। इसकी वाक्प्राणमनोमयता का कारण वही विज्ञान है। विज्ञानसूर्य्य मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय है–जैसा कि पाँचवें प्रश्न में बडे विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। वही मनःप्राणवाङ्मय विज्ञान प्रज्ञान में आया हुआ है, अतएव प्रज्ञान भी मनःप्राणवाङ्मय बना हुआ है। प्रज्ञान पर निरन्तर सौर मन-प्राण-वाक् आते रहते हैं। प्रज्ञान मन विना विषय के अपना व्यापार करने में असमर्थ है, अतएव विज्ञानसंपरिष्वक्त अतएव मनःप्राणवाङ्मय प्रज्ञानात्मा विना विषय के रहता हुआ भी नहीं रहने के समान है।

दूसरे शब्दों में मनःप्राणवाङ्मय आत्मा विषयसम्बन्ध से ही व्यवहार का अधिकारी बनता है। **'घटमहं जानामि' 'पटमहं जानामि'** में **'अहं'** पदार्थ आत्मा है। यह अहं-घटपटादि के सम्बन्ध से ही प्रतिभासित हो रहा है। अहंरूप से प्रकाशित होना ही इसका व्यवहार में आना है। यह व्यवहार विषयसम्बन्ध पर ही निर्भर है। इस आत्मा में मन, प्राण, वाक्–तीन कला हैं। इन तीनों में मन ज्ञानमय है। इस ज्ञानमय मन पर ज्ञानीय संस्कार (जो कि संस्कार भावना नाम से प्रसिद्ध हैं) प्रति-

ष्ठित होते हैं । मनुष्य विना विषय के अपने ज्ञान से नई-नई वस्तु बनाया करता है । यही नहीं–स्थूल वस्तु का स्वरूप पहले ज्ञान में बनता है । शिल्पी मकान का नक्शा पहले अपने ज्ञान में खींच लेता है । फिर इस ज्ञानीय मकान में बहिर्जगत् के स्थूलभूतों को प्रतिष्ठित कर उस अन्तर्जगत् के मकान को बहिर्जगत् की वस्तु बना देता है । यदि ज्ञानीय मकान के विरुद्ध कहीं पर ईंट चूना लग जाता है तो उसे नापसन्द करता हुआ तोड़ डालता है । 'समझ में बैठा नहीं, चाहते थे जैसा मकान बना नहीं'–ये अक्षर उसी ज्ञानीय मकान के सम्बन्ध से निकलते हैं । यदि तदनुरूप भूत की चिति होती है तो वह– 'हाँ, अब मैं जैसा चाहता था वैसा मकान बन गया'–यह कहने लगता है । कहना इससे यही है कि मनुष्यनिर्म्मित जितने भी अर्थप्रपञ्च हैं–सब पहले ज्ञानमय मन में बनते हैं । बस, जो वस्तु ज्ञानीय होती है–वह उसी मन पर प्रतिष्ठित होती है । इसी को **'भावना-संस्कार'** कहते हैं । मन के बाद है– प्राण । जैसे मन से ज्ञान होता है, तथैव प्राण से कर्म्म होता है । मनुष्य प्राणव्यापार द्वारा कोई वस्तु बनाता है । उस वस्तु का संस्कार भी इस पर आता है । यह संस्कार चूंकि प्राण से होता है, अतएव वह प्राण पर ही प्रतिष्ठित होता है । इसी को **'वासना-संस्कार'** कहते हैं । ज्ञानजनित संस्कार भावना है । उसका आधार मन है । कर्म्मजनितसंस्कार 'वासना' है । इसका आधार प्राण है । ये ही दोनों संस्कार–**'अनुभवाहित, कर्म्माहित'** नाम से भी प्रसिद्ध हैं ।

तीसरी वाक् है । प्राण से व्यापार होता है । वाक् से श्रम होता है । तद्द्वारा अर्थनिर्म्माण होता है । वाक् में प्राण-मन दोनों का समावेश है । वाक् विना प्राण-मन के अप्रतिष्ठित है, अतएव इसे 'वाक्' कहा जाता है । संकेतभाषानुसार 'अ' मन का नाम है । 'उ' प्राण का नाम है । जो धामच्छद तत्त्व अपनी स्वरूपसत्ता के लिए 'अ' और 'उ' की (मन और प्राण की) याच्ञा करता है–अपेक्षा रखता है, अतएव **'अश्च उश्च-अचते-याचते-अपेक्षते'**–इस व्युत्पत्ति से इस तीसरे धामच्छद तत्त्व को **'वाक्'** कहा जाता है । अर्थपिण्ड वाङ्मय है–इसका अर्थ है–मनप्राणवाङ्मय है । वाक् में ज्ञानमय मन, क्रियामय प्राण–दोनों का सम्बन्ध है, अतएव हम वाक् को भावना-वासना दोनों संस्कारों का आधार मान सकते हैं । वाक्प्रविष्ट मनोजन्यसंस्कार 'भावना' है । वाक्प्रविष्ट प्राणजन्यसंस्कार 'वासना' है । 'वाक्' दोनों की अनुग्राहिका है । यथार्थ है–'घट' वाक् है । इसका हमें ज्ञान भी होता है एवं इस पर अवधारणादि-कर्म्म भी करते हैं । वाङ्मयघटज्ञान भावनासंस्कार का जनक है । वाङ्मयघटकर्म्म-वासनासंस्कार का जनक है । इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय प्रज्ञानात्मा में मनोजन्यभावना, प्राणजन्यवासना एवं वाक्जन्य उभयविध संस्कार आते रहते हैं । इन संस्कारों का इस आत्मा के साथ अन्तर्य्याम-बहिर्य्याम भेद से दो प्रकार से सम्बन्ध होता है । ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध अन्तर्य्याम कहलाता है । सहचरसम्बन्ध बहिर्य्याम कहलाता है । एक बार जो सोच लिया, जान लिया, काम कर लिया, उसे कभी नहीं भूला– यह अन्तर्य्यामसम्बन्ध है । अभी किया, अभी जाना, थोडी देर बाद भूल गए–यह बहिर्य्यामसम्बन्ध है । अन्तर्य्यामसम्बन्ध में वे संस्कार आत्मस्वरूप में प्रविष्ट हो जाते हैं । आत्ममय बन जाते हैं । बस, आत्मस्वरूप में प्रविष्ट–इन तीनों संस्कारों को ही हम 'आत्मा का' अन्न कहेंगे । ये ही संस्कार आत्मा के अन्न हैं । दधिमधुघृतामृतमय-गोधूम, यव, व्रीहि आदि शरीर के अन्न हैं । यदि यह हजम

हो जाते हैं तो शरीरस्वरूप में परिणत हो जाते हैं। यही अन्तर्य्याम है। यदि वान्ति हो जाती है तो इनका अन्नपना गायब हो जाता है। यही बहिर्य्याम है। जैसे ये शरीरान्न हैं—एवमेव पूर्वोक्त संस्कार आत्मान्न हैं। अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रविष्ट ही ये संस्कार आत्मान्न होने में समर्थ हो सकते हैं। मन:प्राण नीरूप हैं—अधामच्छद हैं। तीसरे वाक्भाग को हमने धामच्छद बतलाया है। यही वाक् 'वागिन्द्रः' के अनुसार इन्द्र है। इसके अमृत-मर्त्य दो भाग हैं। अमृता वाक् इन्द्र कहलाती है। मर्त्यावाक् 'इन्द्र पत्नी' कहलाती है। इन्द्र से आध्यात्मिक, आधिदैविक देवसृष्टि होगी। इन्द्रपत्नी से—मर्त्यावाक् से (मर्त्याकाश से) भूतसृष्टि होती है। वही वाक् उत्तरोत्तर के चितिसम्बन्ध से आकाश, वायु, तेज, जल, मिट्टी—इन पाँच स्वरूपों में परिणत हो जाती है।

'केनोपनिषत्' में इस वाक् की व्यापकता का विशदरूप से निरूपण किया जा चुका है, अतः यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्य्याप्त समझते हैं कि आत्मा का वाक्भाग पाँच भूतों में परिणत होकर मन:प्राणरूप से आप स्वयं उसमें प्रविष्ट हो रहा है। मन:प्राण आत्मा है। वाक् (पञ्च भूत) शरीर है। इस प्रकार अध्यात्मप्रपञ्च सप्तकल हो जाता है। जो जिससे बनता है—उसकी सत्ता उसी से रहती है—यह ध्रुव सिद्धान्त है। अध्यात्मप्रपञ्च मन:प्राणआकाशवायुतेजजलपृथिव्यात्मक है, अतः यह तभी तक प्रतिष्ठित रह सकता है—जब तक कि ये सातों इसमें आते रहें। इन सातों में मन से भावनासंस्कार अभिप्रेत है। प्राण से वासनासंस्कार अभिप्रेत है। आकाश से शब्द अभिप्रेत है। वायु से श्वास-प्रश्वास अभिप्रेत है। तेज से प्रकाश (रोशनी) अभिप्रेत है। जल प्रसिद्ध है। पृथिवी से लोकप्रसिद्ध अन्न अभिप्रेत है। इनमें जल, मिट्टी दो के लिए तो हमें उद्योग करना पड़ता है। खेतों द्वारा मिट्टी को अन्नरूप में परिणत करो, लाओ, पीसो, छानो, रोटी बनाओ—तब खाओ। पानी के लिए कुआ खोदो, लाओ, तब पीओ। इस प्रकार मनुष्य को कर्म्मण्य बनाए रखने के लिए प्रजापति ने दो-अन्न परिश्रमसाध्य रखे हैं। शेष पाँचों अपने आप मिलते हैं। प्रकाश सूर्य्य देता है। वायु सम्बन्धी श्वास-प्रश्वास के लिए भी हमें उद्योग नहीं करना पड़ता। शब्द भी हम सुनते रहते हैं। घोर जंगल में पक्षीरव है। वह भी नहीं तो जंगल की सनसनाहट है। **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'**—के अनुसार प्राणान्न भी (कर्म्मान्न भी) अपने आप मिलता ही रहता है—यही वासना है। मनोमय भावनाजनक ज्ञान के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। इसी अन्नविज्ञान को लक्ष्य में रखकर—**'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता'**[1]—यह कहा जाता है।

इस प्रपञ्च से बतलाना यही है कि आत्मशब्द आत्मा, शरीर—दोनों का ग्राहक है। मन:प्राण-भाग आत्मा है। पञ्चभूतस्वरूप में परिणत वाक् शरीर है। शरीरविशिष्ट मन:प्राणवाङ्मय प्रज्ञानात्मा मनोऽन्न, प्राणान्न, वागन्न (भूतान्न) त्रिविध अन्नों को निरन्तर खाया करता है। यदि इन अन्नों का आत्मा के साथ अन्तर्य्यामसम्बन्ध हो जाता है तो आत्मा **'महदुक्थ'** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यह अन्न प्रज्ञान के ही बनते हैं। इसका कारण यही है कि प्राज्ञइन्द्र सोममय है। सोम स्नेहधर्म्मा है।

१—बृहदा० उप० १।५।१।

विज्ञान आग्नेय होने से असंग है। यही कारण है कि शीतप्रधानवस्तु प्रज्ञानबल बढाती है। अग्नि-प्रधानवस्तु से विज्ञानबल बढता है। इन संस्कारों को पकड़ना—स्नेहतत्त्वोपेत प्रज्ञान का ही काम है। दूसरे शब्दों में—प्रज्ञानसंपरिष्वक्त विज्ञानेन्द्र के मन-प्राण-वाक् पर ही संस्कार आते हैं। एक बात और—प्रज्ञान चान्द्र है। प्रज्ञान के नीचे प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानररूप देवसत्य और हैं। जैसा कि 'कठोपनिषत्' में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। वैश्वानर आग्नेय है—तैजस वायव्य है एवं प्राज्ञ आदित्य है। तीनों में प्रज्ञान व्याप्त है। वैश्वानरसंपरिष्वक्त प्रज्ञान स्थूलभुक् है। तैजससंपरिष्वक्त प्रज्ञान प्रविविक्तभुक् है एवं प्राज्ञसंपरिष्वक्त प्रज्ञान आनन्दभुक् है। ये ही तीन अवस्था क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की अधिष्ठात्री हैं। इस विषय का विशद विवेचन **'माण्डूक्योपनिषत्'**—में किया जाने वाला है। यहाँ केवल यही समझ लेना आवश्यक होगा कि पूर्वोक्त संस्कारों का भोग्य शुद्धप्रज्ञान पर ही अवलम्बित नहीं है। अपि तु, वैश्वानर, तैजस, प्राणयुक्त प्रज्ञान ही भोक्ता बनता है। वस्तुतस्तु—आत्मत्रयी ही भोक्ता है। प्रज्ञानमन तो साधक है। संस्कार प्राज्ञ पर होते हैं। प्राज्ञ प्रज्ञानाविनाभूत है, अतः उसे भी भोक्तृकोटि में समाविष्ट कर लिया जाता है। प्रज्ञानमन ही भोग का साधक है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ जीवात्मा भोक्ता है। इन्द्रियों और मन के द्वारा यह भोग करता है, अतएव—**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'**—यह कहा जाता है। केन एवं माण्डूक्य के अनुसार—इन्द्रिएँ, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप देवसत्य सब प्रज्ञान की महिमा में अन्तःप्रविष्ट हैं, अतएव यहाँ हमने प्रज्ञान को ही सप्तविधान्नभोक्ता बतला दिया है। इस अन्न के लिए वेद में **'अशिति'** शब्द नियत है। खुराक को ही **'अशिति'** कहते हैं। इस अशिति (अन्न) के सम्बन्ध से—विषयभोगसम्बन्ध से ही हमारा प्रज्ञानात्मा **'महदुक्थ'** कहलाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर **'अशितिर्मिहि महदुक्थमाख्यायते'**—यह कहा जाता है। जब तक आत्मा महदुक्थ रहता है—अर्थात् अन्न खाता रहता है—दूसरे शब्दों में विषयावच्छिन्न रहता है, तभी तक यह व्यवहारोपयुक्त बनता है। अर्थात् **'अयं जीवः'**—यह व्यवहार अन्न-सम्बन्ध पर ही निर्भर है। जिस दिन अन्नाहुतिरूप यज्ञक्रम बन्द हो जाएगा—उस दिन आत्मा जीवव्यवहार से खारिज होता हुआ इस देह से उत्क्रान्त हो जाएगा। सविषयक आत्मा संसारी है। विषयातीत आत्मा मुक्त है। 'उक्थ-अर्क-अशिति' तीनों पारिभाषिक शब्द हैं। सूर्य्य उक्थ है—उससे निकलने वाली रश्मिएँ अर्क हैं। अर्कों से गृहीत त्रैलोक्य के सारे पदार्थ अशिति हैं। सूर्य्यरूप उक्थ अपने अर्क द्वारा विश्व के यच्चयावत् पदार्थों को सोम में परिणत करके खा रहा है। सबकी सूर्य्य में निरन्तर आहुति लगा करती है, अतएव सूर्य्य के लिए—**'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्'**—यह कहा जाता है। जब तक यह आहुति हो रही है, तभी तक सूर्य्य अर्क निकालता हुआ महदुक्थ बन रहा है। दूसरे शब्दों में आहुति ही सूर्य्य में जाकर महदुक्थरूप में परिणत हो रही है। इसलिए हम अवश्य ही इस अशिति के लिए **'अशिति-र्मिहि महदुक्थमाख्यायते'**—यह कह सकते हैं। यही बात अध्यात्म में है। मनोमय प्रज्ञान इसी अशिति से महदुक्थ बन रहा है। इस महदुक्थ से अर्क निकल रहे हैं। विविध प्रकार की कामनाएँ ही यहाँ अर्क हैं। काम को ही 'अशनाया' ('बुभुक्षा'—पदार्थ लेने की इच्छा) कहते हैं। इसको काम-इच्छा-अशनाया-अर्क इन चारों नामों से व्यवहृत किया जाता है।

१–काम—

'क-अ म्-अ' काम में इतने वर्ण हैं। 'कम्' सुख का वाचक है। इसी को–'कं ब्रह्म' कहा जाता है। 'अ' मन का वाचक है–जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। कम् के उदर में भी 'अ' है–बाहर भी 'अ' है। इसका तात्पर्य्य यही है कि सुख के भीतर भी मन है–बाहर भी मन है। दूसरे शब्दों में मन सुख में सर्वत्र डूबा हुआ है। बस **'के ओतप्रोतं मनः'** ही **'काम'** है। विषय सुखरूप है। वही 'कम्' है। विषय-भोग की इच्छा रखने वाला मन 'विषय' की भावना करता है। भावना द्वारा जिस विषय को यह प्राप्त करना चाहता है–वह विषय ज्ञानरूप से पहले ही प्राप्त हो जाता है। सुन्दर स्त्री पर आसक्त पुरुष के मन में सुखरूपा स्त्री बैठी रहती है। यही नियम सारे सुखप्रद विषय में है। चूँकि मन में वह बैठा है–मन उसके बाहर भीतर सब ओर व्याप्त हो रहा है, अतएव **'सुखे ओतप्रोतं मनः'**–इस व्युत्पत्ति से मन से निकलने वाली रश्मियों को हम अवश्य ही **'काम'** कह सकते हैं। मन अपने स्थान पर प्रतिष्ठित रहता है। इसकी रश्मिएँ ही विषय पर जाती हैं, अतः अर्कभावापन्न मन ही (रश्मि ही) काम कहलाती है। मन काममय है। काम इसका पहला रेत है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर–**'काममय एवायं पुरुषः' 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'**–इत्यादि कहा जाता है।

२–इच्छा—

बालकों को समझाने के लिए भगवान् पाणिनि ने **'इषु इच्छायां'** धातु से इच्छा शब्द बना डाला है। परन्तु विज्ञानकोटि में इसमें प्रत्यय करने की आवश्यकता नहीं है। निरुक्तक्रमानुसार धातु-धातु मिलकर ही शब्द बने हैं। इच्छा में 'इष्' 'शीङ्' दो धातु हैं। इट् अन्न का नाम है। शीङ् का अर्थ है–सोना। अन्न में प्रसुप्त मन ही **'इट्-अन्नं तत्र सुप्तं-तन्मयतां गतं' लीनं मनः'** इच्छा है। जो अर्थ काम का है–वही इच्छा का है। विषय प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु ज्ञानरूप से मन पर आ गया है। विषय में जाकर–**'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः'** के अनुसार मन अपना स्वरूप खो बैठता है–तन्मय हो जाता है। इसी विज्ञान को समझाने के लिए उसे 'इच्छा' कहा जाता है। रश्मिरूप मन ही इच्छा है, अतः अर्क को ही इच्छा कहा जाना उचित है।

३–अशनाया—

इसी इच्छासूत्र के द्वारा–कामसूत्र के द्वारा विषय का उक्थ-मन से सम्बन्ध होता है। वैदिकों ने व्याकरणानुसार **'अशनाया पिपासा०'** इत्यादि सूत्र से **'क्यच्'** करके **'अशनाया'** नहीं बनाया है–अपि तु वे अशनाया को–**'यथा गोनायः-अश्वनायः-तथा अशनाया'** कहते हुए **'अशं (अन्नं) नयते (प्रापयति उक्थे)'**–यह निर्वचन किया है। वह इच्छासूत्र ही तो अन्न का मन के साथ सम्बन्ध कराता है। जब इच्छित विषय आ जाता है तो मन शान्त हो जाता है। इसी अशनाया के अधीन सारा विश्व है। यदि भूख न होती तो कौन किसकी गुलामी करता ? मनुष्य इसी के चक्र में पड़कर आत्मस्वरूप खो बैठता है–आत्मा विषयागमन से मलिन होकर मृत्युमय विश्व के चक्कर में पड़कर पराधीन हो जाता है, अतएव इसके लिए–**'अशनाया वै पाप्मा'-'अशनाया हि मृत्युः'**–यह कहा जाता है। यह सब

कुछ है, परन्तु विश्व का मूल यही अशनाया है। यदि कामना न होती तो प्रजापति द्वारा सृष्टि ही न होती। जीवस्वरूप को जीवस्वरूप में सुरक्षित रखने वाली—इसे लोकव्यवहारयोग्य बनाने वाली तो यही अशनाया है।

४–अर्का:—

मन से निकलने वाली रश्मियों का क्या स्वरूप है? बस, अर्कशब्द इसी प्रश्न का समाधान करता है। **'अर्च्चन् अचरत्-तस्मात् अर्कः'**—इसकी यही निरुक्ति है। सूर्य्य रश्मियों पर दृष्टि डालिए। वे-प्राणदपानत् व्यापार करती हुई आगे चलती हैं। सरकती हुई छाया में आप इस प्राणदपानत् क्रिया का साक्षात्कार कर सकते हैं। रश्मि आगे बढती है—परन्तु कैसे? जैसे-इञ्जिन के पार्श्वभाग में लगा हुआ दण्ड। वह पीछे-खिसकता हुआ आगे चलता है—यही उसकी गतिहै। आगे बढना प्राणत् है। फिर जरासा पीछे हटना ही अपानत् है। इस प्रकार छाया पीछे सरकती हुई आगे चलती है। इसी क्रिया को 'अर्च्चन' कहते हैं। इस क्रिया से यह सौररश्मि विषय की याच्ञा करती हुई आगे चलती है। **'अर्च'** से **'अर्क'** शब्द निष्पन्न होता है। बस, यही स्वरूप मन की रश्मियों का है, अतएव उन्हें अवश्य ही **'अर्क'** कहा जा सकता है।

चारों शब्दों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है—इसलिए चारों पर्य्याय नहीं बन सकते। परन्तु परमार्थतः चारों अभिन्नार्थक हैं। यह काम महदुक्थरूप मन से निकलता है। महदुक्थ संस्काररूप में परिणत अशितिमय है। इससे सिद्ध हो जाता है कि अशितिरूप संस्कारमय महदुक्थापन्न मन ही काम का कारण है। यह भी एक वैज्ञानिकों का माना हुआ सिद्धान्त है कि कामना उसी वस्तु की होती है—जिसका संस्कार पहले से मन में बैठा रहता है एवं उसी से विषयज्ञान होता है। यदि किसी के मन में वह संस्कार नहीं होता है तो तद्विषयिणी कामना भी उसमें नहीं होती है, अतएव उस विषय का ज्ञान भी उन्हें नहीं होता है। कितने ही मनुष्यों को लाल-मिर्च में तिक्तता प्रतीत नहीं होती। कारण वही संस्काराभाव है। कितने ही गन्धज्ञानशून्य होते हैं। कारण वही संस्काराभाव। कितने ही जन्म से मांसप्रिय होते हैं, कारण वही संस्कारसत्ता। कितने ही मांस, मदिरा, लशुन आदि आसुरभावापन्न पदार्थों से घृणा करते हैं—उन्हें कभी इनकी इच्छा नहीं होती- कारण वही संस्काराभाव। कामना के लिए संस्कार अपेक्षित हैं। जैसा संग किया जाता है—संग के प्रभाव से धीरे-धीरे तद्विषयक संस्कार पैदा होने लगते हैं। इस संस्कार के दृढ होने से तद्विषयक कामना का प्रादुर्भाव हो जाता है। उक्थ विना अर्क के रह ही नहीं सकता। सूर्य्य क्या रश्मि विना रह सकता है? कदापि नहीं। यदि संस्कार दृढ हो जाता है—तो उक्थ बन जाता है। उसी समय उसमें से अर्क निकलने लगते हैं। एक मनुष्य मद्य-मांस-धूम्र-पानादि आत्मविरोधी पदार्थों से घृणा करता है। परन्तु ऐसे पदार्थों को अपनाने वालों से दुर्भाग्य से इसका पाला पड़ जाता है। बस, वहाँ के वातावरण में फैले हुए मद्यमांसादि के परमाणु धीरे-धीरे संस्काररूप से इसमें प्रविष्ट होने लगते हैं। बस, कालान्तर में दृढमूल होते हुए उक्थरूप बनकर यही इसे उनकी कामना की ओर झुका देते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर **'संगात् संजायते कामः'**

–यह कहा जाता है। बुरी-अच्छी दोनों का संग से सम्बन्ध है। साधु पुरुषों की संगति-साधुसस्कार पैदा करती हुई अविद्यानाश का कारण बनती है। जैसा कि पंडितराज कहते हैं—

"दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति। भूतेषु किं च करुणां बहुलीकरोति संगः सतां किमु न मंगलमातनोति" ॥[1]

ठीक इसके विपरीत दुर्जनसंग विद्यानाशक कामना का कारण बनता है। क्योंकि वहाँ तदनुकूल ही उक्थ बनते हैं। अतएव—

"वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि" ॥

–के अनुसार बुरे संग से बचना चाहिए। खूब विद्या पढो–यदि संग बुरा है तो कुछ नहीं। मत पढो–संग अच्छा है तो सब कुछ अच्छा है, अतएव भीष्म ने स्थान-स्थान पर युधिष्ठिर को साधुसेवा–वृद्धसेवा की ही प्रधानता बतलाई है। यह संस्काररूप-उक्थस्वरूप आगे के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसी जीवनकाल में अच्छे-बुरे पदार्थों के सेवन से संग-कुसंग के सम्बन्ध से जो बुरे संस्कार उत्पन्न होते हैं–वे 'आगन्तुक' अतएव बहिरङ्ग संस्कार कहलाते हैं। परन्तु जिन संस्कारों की कृपा से इसने माता के गर्भ में जन्म लिया है–वे स्वरूपधर्म्म हैं–अन्तरङ्ग हैं। आगन्तुकों की अपेक्षा अतिदृढ हैं। वे ही संस्कार प्रबल हैं। इन्हीं संस्कारों को 'प्रकृति' कहा जाता है। पानी की प्रकृति ठंडी है। यह इसका स्वरूपधर्म्म है। परन्तु अग्नि से गरम पानी आगन्तुकधर्म्म में निरुढ है। आगन्तुकधर्म्म हटाया जा सकता है, परन्तु प्रकृतिधर्म्म नहीं हटाए जा सकते। इसी अभिप्राय से–'**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति**'–यह कहा जा सकता है। प्रयास करने पर भी जो मनुष्य सन्मार्ग पर नहीं आता, उसके लिए उसके अभिभावक–'क्या करें–खूब समझा लिया नहीं मानता–जैसा इसने किया है–वैसा भोगे–हमारा काम तो समझाने का था' –यह कहा करते हैं। यह उन्हीं 'प्राकृत' (पुराने) संस्कारों की ही महिमा है। जो ब्राह्मणकुल में जन्म लेता है–उसमें तदनुकूल संस्कार होते हैं। वे संस्कार सदा बने रहें–प्रबल विरुद्ध संस्कार इसे ब्राह्मणत्वसंपादक संस्कारों से न गिरा दें–एतदर्थ तत्तद्वर्णानुकूल वैधसंस्कार किए जाते हैं। आज के इस अराजककाल में बुरे संस्कारों का साम्राज्य है, अतएव तत्तद्वर्णों के प्राकृत संस्कार निर्बल हो गए हैं। सबको उलटा ही उलटा सूझता है। धर्म्मविरुद्ध कार्य्य ही धर्म्म समझा जा रहा है एवं वे ही अधर्म्मप्रचारक आज देश के पूज्य नेता बन रहे हैं–क्यों? उत्तर स्पष्ट है। वैधसंस्कारों का लोप, आत्मविरुद्ध पाश्चात्य संस्कारों का प्रबल आक्रमण, मद्य-मांस सोडा-आइस्क्रीम-धूम्रवर्तिका आदि पदार्थों का सेवन शासनसूत्र के संचालकों की कुटिल एवं घातक नीति ही इस परिस्थिति का कारण है।

१–रसगंगाधर

जिन्होंने अपने युवाकाल में पाश्चात्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखा है। मद्यमांस की स्वतन्त्रता के साथ आराधना की है। जो वैधसंस्कारों से शून्य हैं, आज वे ही लुप्त प्राकृत संस्कारयुक्त महानुभाव हमारे देश के ही नहीं-विश्व के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य बन रहें हैं। एवं—

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" ॥[1]

इस श्रुतिवचन को चरितार्थ करते हुए उन नेताओं के चक्र में पड़कर स्वयं भी इधर-उधर मारे मारे फिरते हैं।

आज सबका 'महदुक्थ' बिगड़ रहा है, अतएव महदुक्थ से निकलने वाले काम और तद्गृहीत अशितिएँ बिगड़ रही हैं। स्पृश्यास्पृश्यव्यवस्था का विरोध, वर्णाश्रमरक्षा की मूलभित्ति जाति का विरोध, सहभोज, रण्डापरिणय-युवतिविवाह-देशवेशभूषा का परित्याग आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

ऊपर के प्रपञ्च से पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि अच्छा-बुरा सारा प्रपञ्च संस्काररूप 'महदुक्थ' ही है। इसी महदुक्थ की कृपा से वह असंगतत्त्व जीव बनकर लोक-व्यवहार में प्रविष्ट हो रहा है।

हमारे मन में अनन्त कामनाएँ उठती हैं। एक एक कामना का एक एक उक्थ है। आत्मा में यद्विषयक उक्थ का अभाव रहता है-उसमें तद्विषयिणी कामना का भी अभाव रहता है। चूंकि कामना अनन्त हैं। अनन्त कामनाओं के कारण इस प्रज्ञानपुरुष के लिए—

१-"पुरुष एवोक्थम्"।[2]
२-"स एष पुरुषः समुद्रः"।[3]
३-"कामं समुद्रमाविशेत्याह। समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति। न समुद्रस्य"।[4]
४-"तद्धि तद् वनमित्युपास्व"।[5]

—इत्यादि कहा जाता है। चूंकि इस काममय पुरुषोक्त की व्याप्ति पूर्वकथनानुसार रहती है। मनःप्राणवाङ्मय पुरुष से आत्मा, जीव दोनों का ग्रहण है, अतएव श्रुति कहती है—

१-मुण्डकोप० १।२।८।
२-ऐ० आ० २।१।२।
३-ऐ० आ० २।३।३।
४-तै० ब्रा० २।२।५।
५-केनोप० ४।६।

"स एष पुरुषः पञ्चविधः । तस्य यदुष्णं तज्ज्योतिः (तेजः) यानि खानि स आकाशः (शब्दश्च) । अथ यल्लोहितं श्लेष्मा रेतस्ता आपः । यच्छरीरं सा पृथिवी । यः प्राणः (प्राणोदानसमानव्यानापानभेदेन पञ्चधा विभक्तः-श्वासप्रश्वासरूपश्च) स वायुः । मनो वागिति प्राणस्य ह्यन्वपायमेता अपि-यन्ति (मध्यपतितप्राणस्यैव कुर्वद्रूपवत्वात्)" ॥[1]

चूंकि अनन्त कामना हैं एवं प्रत्येक कामना का भिन्न-भिन्न उक्थ है, अतएव मन में अनन्त उक्थों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । अनन्त उक्थ अशिति द्वारा बने हैं, अतएव अशितिसम्पन्न इन अनन्त उक्थों के आधारभूत प्रज्ञानात्मा के लिए '**महदुक्थ**' (बडा उक्थ–जिसमें कि अनन्त उक्थ प्रतिष्ठित हैं) कहा गया है । केवल मात्र अशिति के प्रभाव से इस प्रज्ञानपुरुष में–'महदुक्थ, अर्करूपकाम, अशितिरूप अन्न' तीन पदार्थों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । महदुक्थ संस्काररूप है–इसका आधार मन है । मन ही उक्थ है । यही आत्मा है । काम प्राणरूप है । यही अर्क है । अशिति अन्नरूप है–यही वाक् है–यही पशु है । मन अत्ता है–प्राण-अशिति इसकी प्रजा हैं । भुक्तान्न में तीनों हैं ।'अन्न में पार्थिवस्थूलभाग, आन्तरिक्ष्य सूक्ष्मप्राणभाग, दिव्यसोममय ज्ञानभाग तीनों हैं । मन आदित्य का भाग है । वह अन्न में अन्तःस्यूत है । प्राण अन्तरिक्ष की वस्तु है । वह आदित्यभाग के ऊपर । वाक् पृथिवी की वस्तु है । वह सबके ऊपर है । इस त्रिविधभावापन्न अन्न से क्रमशः उक्थरूप आत्मा के मनःभाग की, कामरूप प्राणभाग की, अशितिरूप वाग्भाग की पुष्टि होती है । अन्तरिक्ष में वायुवत् आपः की भी सत्ता है, अतः प्राण को वायव्य की तरह आप्य भी कहा जा सकता है । असल में प्राण वायव्य ही है । परन्तु उसका आधार आपः है । मन का आधार सोम है । सोम ऊपर है–आपः नीचे है । मध्य में वायु है । ऊपर का सोम आदित्य में जाकर मन बन जाता है । नीचे का आपः वायव्यप्राण की प्रतिष्ठा बन जाता है । इसी विज्ञान के आधार पर –'**अन्नमयं हि सोम्य मनः-आपोमयः प्राणः**'–यह कहा जाता है । पार्थिव स्थूलवाक् से उत्तरोत्तर में होने वाले क्रमिक विशकलन से क्रमशः रस, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र –सात धातु बनते हैं । सातों धातु वाङ्मय हैं–पार्थिव हैं । इसके बाद भीतर का आपोमय प्राण धातु के भीतर प्रविष्ट ओज का अनुग्राहक है । यही आन्तरिक्ष्य प्राण है । तदन्तर्गत सोममय चेतनारूप इन्द्रभाग मन का अनुग्राहक है । यह दिव्य है । इस क्रम से मनःप्राणवाङ्मय आत्मा त्रैलोक्य-विभूति से युक्त हो जाता है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—

"स एष पुरुषः समुद्रः सर्वं लोकमति यद्ध किंच-अश्नुते, अत्येनं मन्यते । यद्यन्तरिक्षलोकमश्नुतेऽत्येनं मन्यते । यद्यमुं लोकमश्नुवीत-अत्येवैनं मन्येत" ॥[2]

१–ऐ० आ० २।३।३ ।

२–ऐ० आ० २।३।३ ।

अन्नयुक्त प्रज्ञान ही प्रजापति है। यही ब्रह्म है–यही इन्द्र है।

महोक्थं ऋक्	**महाव्रतं साम**	**अग्निर्यजुः**	
१–आत्मा	२–प्राण	३–पशु	}—'प्रजापति'
१–महदुक्थ	२–अर्क	३–अशिति	
१–मन	२–प्राण	३–वाक्	
१–ज्ञान	२–क्रिया	३–अर्थ	

शरीरम्←	१–रस, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र–पार्थिवभाग	=वाक्	}→ 'अशितिः'-'अन्नम्'
आत्मा←	२–ओज————————→आन्तरिक्ष्यभाग	= प्राण	
	३–मन————————→दिव्यभाग	=मनः	
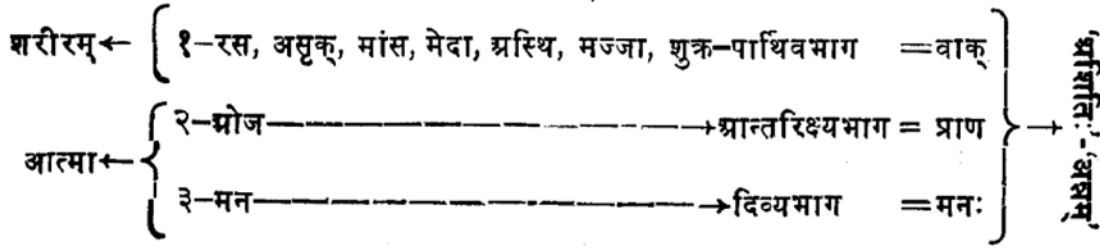
(अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत)

१–अन्नगतवाग्भागेन–आत्मनो वाग्भागस्य पुष्टिः–

२–अन्नगतवायुभागेन-आत्मनः प्राणभागस्य पुष्टिः–

३–अन्नगतसूक्ष्मतम-आदित्यभागेन-आत्मनो मनोभागस्य पुष्टिः–

उक्थमन अपने स्थान में (हृदयप्रदेश में) प्रतिष्ठित रहता है। इसमें से निकलने वाले काममय अर्क शरीर से निकलकर बड़ी दूर तक अपना मण्डल बनाते हैं। जहाँ तक उक्थात्मा का भोग्य (अशिति) रहता है–वहाँ तक रश्मिरूप से आत्मा व्याप्त रहता है, अतएव–**'यावद्वित्तं तावदात्मा'**–यह कहा जाता है। प्रथम भोग्य शरीर है–फिर स्त्री, पुत्र हैं–पौत्रादि हैं–बन्धुवर्ग है–भृत्य वर्ग है–पशु वर्ग है–अन्न संपत्ति है–स्थावर-प्रासाद-द्रव्य-भूमि आदि हैं। उत्तर–उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व भोग्य के साथ आत्मा का अधिक सम्बन्ध है। इनमें आत्मा काम द्वारा स्वरश्मि द्वारा विभूत रहता है–व्याप्त रहता है, अतएव यह सारा भोग्यप्रपञ्च–**'विभवति यत्र आत्मा'**–इस व्युत्पत्ति से 'आत्मा का **वैभव**' कहलाता है। सारा वैभव आत्मनिःसृत रश्मिमण्डल में प्रतिष्ठित है।

सूर्य्यपिण्ड को आत्मा समझिए। सौररश्मिमण्डल को (जो कि मण्डल बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है) प्राण समझिए। बृहत्सामान्तर्गत पृथिवी-शनि-मंगल-रवि-बुध आदि ग्रहप्रपञ्च एवं त्रैलोक्य के इतर संपूर्ण स्थावर जंगम पदार्थों को पशु समझिए। इनका आत्मा वह है, अतएव **'सूर्य आत्मा जगतस्त-**

स्थुषश्च'-यह कहा जाता है । बस, **'ऋङ्मूर्तिः' 'महदुक्थं ऋक्'**-के अनुसार सूर्य्यपिण्ड **'ऋग्वेद' है** । **'मण्डलं साम' 'महाव्रतं साम'**-के अनुसार सौररश्मिमण्डल साम (बृहत्साम) वेद है । इतर पदार्थों के क्षुद्र साम इस महासाम में अन्तर्भूत हैं, अतएव सौर साम बृहत्साम कहलाता है एवं मूर्त्ति और मण्डल में प्रतिष्ठित अशितिरूप वय (अन्न) यजुः है । यही व्यवस्था अध्यात्म में समझिए । आत्मा (मन) महदुक्थ है । वही ऋक् है । शरीर से स्थावरसंपत्तिपर्य्यन्त सारा वैभव यजुः है । काममण्डल साम है ।

महदुक्थ-काम-अशिति कहो या ऋक्-साम-यजुः कहो-एक ही बात है । ऋक्साम आयतन है-वयोनाध है । यजुः वय है-अन्न है । इस प्रकार आत्मा का वेदमय होना सिद्ध हो जाता है । **'मनःप्राण-वाचां संघातः सत्ता'**-के अनुसार मनःप्राणवाक् की समष्टि ही अस्ति है । अस्ति ही उपलब्धि है । इस उपलब्धिरूप महदुक्थ मन का नाम ऋक् है । प्राण साम है । वाक् यजुः है । यही अस्तित्व है । **'अयं मनुष्यः'**-इस प्रकार से जो अस्तिरूप मनुष्य की उपलब्धि हो रही है-वह उस त्रयी की ही उपलब्धि हो रही है । वेद ही उपलब्ध हो रहा है, अतएव 'विद्यते-वेत्ति-विन्दते-इन तीनों व्युत्पत्तियों को लक्ष्य में रखकर इस त्रयीतत्त्व को 'वेद' कहा जाता है । वेदत्रयीरूप आत्मा यज्ञमय है । अन्न ऋत पदार्थ है । उस ऋत की आहुति हो रही है । अन्नाद में अन्न की जो आहिति है-वही यज्ञ है । यज्ञान्न सोमरूप होने से ऋत है । इसी की आहुति से महदुक्थ है । महदुक्थ पर काम है । काम पर पशु है । आत्मा की तीनों कलाएँ-इसी यज्ञ पर प्रतिष्ठित हैं । ऋतसोम से यह त्रयीयज्ञ प्रतिष्ठित है, अतएव हम इस आत्मा को सत्य कहने के लिए तय्यार हैं । इस सत्यत्रिकल आत्मा की सत्ता तभी तक है-जब तक कि ऋतसोम की आहुति हो रही है, अतएव हम कह सकते हैं कि सत्यात्मा ऋत पर प्रतिष्ठित है । वेद एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित यज्ञात्मा सत्य है-इस विषय का निरूपण 'मुण्डकोपनिषत्' के तृतीय मुण्डक में देखना चाहिए ।

विषयज्ञान भी अन्न है । गुरूपदिष्ट शब्दविषयक ज्ञान आत्मा की आहुति है । यह आहुति ऋत-सोमरूप है । यह इसके पास आती है, यदि अश्रद्धा द्वारा यह इस आए हुए विषयज्ञान का तिरस्कार कर देता है-'न' कर देता है तो आत्मा पर उस ऋतसंस्कार का सम्बन्ध नहीं होता है । ऋत का संस्कार नहीं होता-अपि तु, 'न' स्वरूप अनृत संस्कार हो जाता है । कोई वस्तु यदि आपको कोई दे-यदि आप न कर दें तो अभावरूप संस्कार आपको अवश्य हो जाएगा-जो कि स्वानुभवैकगम्य है । शब्दज्ञान निदर्शनमात्र है । जितने भी अन्नसंपत्ति द्वारा आने वाले भावनावासनासंस्कार हैं-सब ऋतरूप हैं । इन सबका जो 'न' है-अस्वीकार है-वही अनृत है । यदि एकान्ततः ऋतभाव के लिए 'न' कर दिया जाता है-ऋताभावरूप अनृत को अपना लिया जाता है तो आत्मा पर कोई संस्कार नहीं होने पाता । निर्विषयावच्छिन्न होता हुआ आत्मा शुद्धरूप से रह जाता है । आत्मा में आने वाले अशितिरूप ऋतसंस्कार का प्रतिरोध ही 'अनृत' है । जहाँ अनृत है (ऋत का निषेध है) वहाँ यज्ञ नहीं है । जहाँ यज्ञ नहीं-वहाँ संस्काराभाव से उक्थ नहीं । उक्थ नहीं तो अर्करूप काम नहीं । ऐसी अवस्था में अनृत बोलने वाले मनुष्य का आत्मा ऋतशून्य होकर संस्कार शून्य हो जाता है । उसे किसी प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान

नहीं होता। इस प्रकार अनृतभावापन्न अतएव असंस्कृत आत्मा सांसारिक व्यवहारों में सर्वथा अक्षम ही रहता है। इस 'अभावरूप अनृत के लिए शब्दप्रपञ्च में 'न' शब्द नियत है। नास्ति के लिए–असत् के लिए 'न' कहा जाता है। वाक्प्रपञ्च (शब्दब्रह्म) एक वृक्ष है। इस वृक्ष की जड़–इस वाक्वृक्ष का 'न' भाग है। उधर हमारा भी आत्मा वाङ्मय है। उसकी जड़ 'अनृत' है–'न' है। वृक्ष के मूल को यदि काट दिया जाता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। अतः उस मूल को सुरक्षित रखना आवश्यक है। अनृतरूप 'न' वाक्रूप वृक्ष (आत्मा) का मूल है, अतः इसे नष्ट करना वाङ्मयवृक्ष को नष्ट करना है। कोई विषय आया–'न' 'न' बोल दिया। 'न' बोलना वाङ्मूल का खर्च होना है। इससे संस्काराभाव होता है। शुद्ध आत्मा रह जाता है। शुद्ध क्या रह जाता है–विना फलफूल वाले वृक्ष की तरह शुष्क रह जाता है। ऋषि आदेश करते हैं कि 'अनृत' वाङ्मय आत्मवृक्ष की जड़ है। अतः इसे मत बोलो। 'न' अन्यथा–**'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्'**–के अनुसार तुम्हारा आत्मा कोरा रह जाएगा। तुम सांसारिक विभूति से वञ्चित हो जाओगे। 'न' को खर्च मत करो–सुरक्षित रखो। अपने भीतर ही रखो। यदि तुमने मुँह से न बोल दिया तो वाक् का मूल काट कर फेंक दिया।

कोई मनुष्य ऐसा है कि जो रात-दिन यह भी झूँठा–यह भी कुछ नहीं–यह भी कुछ नहीं–यही किया करता है। ऐसा मनुष्य मूर्ख रह जाता है। संस्कारावच्छिन्न ज्ञान ही विद्या है। उसका इसमें अभाव रहता है। ऐसे मनुष्य के सामने जब कोई सांसारिक व्यवहार उपस्थित होता है तो इस समय यह मूकवत् देखा करते है। संस्कारज्ञान के अभाव से उसे कर तो सकता नहीं, अतः असमर्थ होता हुआ 'अरे! यह कुछ नहीं–सब झगड़ा है'–इस प्रकार झूँझल खाया करता है। इससे इसका आत्मा अत्यन्त क्षुब्ध हो पड़ता है। क्षोभ आत्मशक्ति का घात है। क्षोभ का मूल अज्ञान है। अज्ञान का मूल संस्कार का अभाव है। संस्काराभाव का मूल अनृत बोलना है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अथैतन्मूलं वाचो यदनृतम्। तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्त्तते। एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति। स शुष्यति। स उद्वर्त्तते। तस्मा-दनृतं न वदेत्। दयेत त्वेनेन"[1]।

'ओमिति सत्यं नेत्यनृतम्'–के अनुसार अनृत का वाचक 'न' है–सत्य का वाचक 'ओम्' है। 'हाँ-ना' के लिए 'ओम्'–'न' शब्द नियत हैं। आत्मा पूर्णरूप से तभी तक है–जब तक कि वह 'ओम्' है। संस्कार जब तक है तब तक आत्मा अशुष्क है–पूर्ण है। इस अवस्था में आत्मा में उक्थ-अर्क-अशिति–तीन भाग रहते हैं। उक्थ 'अ' है। अर्क 'उ' है। अशिति 'म्' है। तीनों की समष्टि 'ओम्' है। इस

१–ऐ० आ० २।३।६।

'ओम्' का स्वरूप-(संस्कारावच्छिन्न, अतएव महदुक्थ-काम-अशितिरूप आत्मा का स्वरूप) '**अस्ति ब्रह्मेति वेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः**'-के अनुसार 'स्वीकारभाव' पर ही प्रतिष्ठित है। 'हाँ' करने वाला (श्रद्धापूर्वक विषयज्ञान को ग्रहण करना ही यहाँ 'हाँ' करना है) विषयसंस्काररूप ऋत की अपने आत्मा में आहुति कर यज्ञ-सम्पत्ति सम्पन्न करता है। इस संस्कार से-इसका आत्मा पूर्वकथनानुसार वेदत्रयीरूप सत्य से युक्त हो जाता है। सत्यमय यह आत्मा है, अतः संस्काररूप सत्यज्ञान के प्रभाव से लोकव्यवहार उत्पन्न होते हैं। इससे इसका ओम्स्वरूप सुरक्षित रहता है। इसको सुरक्षित रखने वाला अस्तित्व है-'हाँ' है, अतएव सत्यस्वरूप सम्पादक इस 'हाँ' भाव के लिए 'ओम्' शब्द व्यवहृत किया है। सत्य, अनृत-दोनों परस्पर प्रतिद्वन्दी हैं। सत्य तभी तक है जब तक कि ऋत है। ऋत का अभाव होना अनृत है। अनृत सत्य का (त्रयी सत्य का) विरोधी है। मिथ्या शब्द कोई वस्तु नहीं है। अनृत वस्तु यथार्थ में एक वस्तु है, अतएव श्रुति में सर्वत्र सत्य की प्रतिस्व ही में अनृत शब्द रखा है। ओम् सत्य है, क्योंकि वही सत्यस्वरूपसम्पादक है। यह-सत्या वाक्-उस वाङ्मय आत्मा के फल और पुष्प हैं। आत्मा में जो संस्कार-पुञ्ज हैं-वह तो पुष्प है-इसे ही उक्थ कहा है एवं इसके द्वारा होने वाले सारे लोकव्यवहार फल हैं। वाङ्मय आत्मा वृक्ष है। अनृत इसका मूल है। जो अनृत बोलता है, वह इसकी जड़ काटता है। सत्य फलपुष्प हैं। ये तो खर्च होते ही हैं। जड़ सुरक्षित रहती है। फलपुष्प उपयोग में आते हैं, अतः सत्य ही बोलना उचित है। जो वाक् के सत्यभाग को बोलता है, वह संस्कार ज्ञानमय बनकर संसार में फलता फूलता है। सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही है कि-पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि तुम 'न' मत करो, 'हाँ' करो। तो क्या मद्यमांसादि निकृष्ट पदार्थों के लिए भी 'हाँ' करें? यदि ऐसा होगा तो बुरे संस्कार भी आत्मा में होंगे। ये भी अनृतवत् दुःख का ही कारण बनेंगे। इसके लिए निम्नलिखित व्यवस्था होनी चाहिए। जो संस्कार (सत् संस्कार) उपादेय हैं, जिनसे आत्मविज्ञान बढता है-उन्हीं के लिए 'ओम्' करना चाहिए, क्योंकि वे ही संस्कार अपेक्षित हैं एवं मद्यमासांदि के लिए 'न' ही करना चाहिए। ऐसा करना बुरे संस्कारों की जड़ काटना है।

'**यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि**'[1]-का भी यही तात्पर्य्य है। सर्वत्र 'ओम्' करना भी बुरा है। सर्वत्र न करना भी बुरा है। अपि तु, सद्विषयों के लिए 'ओम्' करना उचित है। असदर्थों के लिए 'न' करना उचित है। 'न' करने से आत्मा सूख जाता है-इसका अर्थ यही है कि-सद्विषयों के लिए आत्मा सूख जाता है-विद्यामय आत्मोपयोगी संस्कारों से अलग हो जाता है। इस प्रकार कहीं सत्य, कहीं अनृत-दोनों से काम लेना चाहिए। इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ऐतरेय कहते हैं—

"पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोमिति। तद्यत् किं च-ओमित्याह-अत्रैवास्मै तद्रिच्यते। स यत्सर्वमों कुर्य्याद्रिञ्च्यादात्मानम्। स कामेभ्यो नालं स्यात्। अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यन्नेति स यत्सर्वं नेति ब्रूयात्पापिकाऽस्य कीर्ति-

---

१-तैत्ति॰ उप॰ १।११।१-२।

जयित । सैनं तत्रैव हन्यात् । तस्मात् काल एव दद्यात्काले न दद्यात् । तत् सत्यानृते मिथुनीकरोति । तयोर्मिथुनात्प्रजायते भूयान् भवति–इति ।"[1]

इस 'ओम्'–'न' की व्यवस्था दिव्य-आसुरी विभूति पर अवलम्बित है । जो 'ओम्' ही करता है–वह विषसंपृक्तान्नवत् दोनों संस्कारों को लेता है । यह भी बुरा है । जो 'न' ही करता है–वह दोनों से ही शून्य रहता है । दोनों में से दिव्यविभूति ग्राह्य है, अतः उसके सम्बन्ध में **'सत्यरूप ओम्'** बोलना चाहिए एवं आसुरी विभूति 'अग्राह्य' है, अतः उसके सम्बन्ध में 'न' ही करना चाहिए ।

यह है सत्यानृत का वैज्ञानिक अर्थ । अब व्यावहारिक अर्थ पर भी दृष्टि डालिए । 'सत्य' यज्ञरूप है । यज्ञ त्रयीघन है, यही दिव्यविभूति है । असुर अनृत हैं–मायारूप हैं–यही आसुरी विभूति है । असत्य भाषण से सत्यबल कम होता है । आत्मा कुटिल बनता है । ऐसा आत्मा निर्बल हो जाता है । **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**[2]–यह निश्चित सिद्धान्त है, अतः औपनिषद् ज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'सत्य' ही बोलना चाहिए । अनृत से विज्ञान में अव्यवसाय होता है । क्षेत्र विषम हो जाता है । विषम क्षेत्र में सूर्य्यप्रतिबिम्बवत् चिदाभास प्रसन्न (उल्बण) नहीं होता । इसलिए हम कह सकते हैं कि जो मिथ्या भाषण करता है, उसका आत्मा कुटिल होता हुआ आत्मज्ञान से वञ्चित हो जाता है । **'रसो वै सः'** के अनुसार अव्ययाभिन्न अक्षर रसरूप है । यही प्रतिबिम्बित होता है । कुटिलता में इसका पूर्ण सम्बन्ध नहीं होता । इस रसरूप आत्मा से अलग होने वाला (मिथ्या भाषण करने वाले का) भोक्तात्मा शुष्क ही है । गुहानिहित इसी पूर्वोक्त सत्यानृतविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति । तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्" ।।

।। १ ।।

इस प्रकार सत्यवक्ता भारद्वाज ने–'मैं' जिस षोडशकल पुरुष के लिए–हिरण्यनाभ के लिए असमर्थता दिखलाई थी–आज भारद्वाज–महर्षि पिप्पलाद से–उसी का स्वरूप पूछते हैं । भारद्वाज के प्रश्न करने पर पिप्पलाद कहने लगे कि भारद्वाज !

"इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति" ।

षोडशकल पुरुष का निरूपण करें–इसके पहले तत्सम्बन्धी कुछ ऊपरी बातें जान लेना आवश्यक होगा । विना ऊपर की बातें जाने गम्भीर उपनिषद् के थोड़े से अक्षरों के अर्थ का यथानुरूप समन्वय कर लेना कठिन ही नहीं, अपि तु, असम्भव है । भारद्वाज के पास जिस समय हिरण्यनाभ षोडशकल पुरुष का स्वरूप पूछने आए थे–तब से भारद्वाज को इसके जानने की जिज्ञासा लग रही थी । उसी

१–ऐ० आ० २।३।६ । २–मुण्डकोप० ३।२।४ ।

जिज्ञासा से प्रेरित होकर आज ये पिप्पलाद के सामने खड़े हुए। पिप्पलाद कहने लगे कि भारद्वाज! जिसे तुम खोज रहे हो- जिसके लिए तुम इतनी दूर से मेरे पास आए हो, वह कोई दूर की वस्तु नहीं है। **'सोम्य'** विशेषण बालक के लिए दिया जाता है। सोमसम्बन्ध से ही बच्चे को सुत कहा जाता है। 'सोम्य' विशेषण का तात्पर्य्य यही है कि हे भोले भारद्वाज! वह पुरुष तो इसी शरीर में अन्तःप्रविष्ट है। उसे पूछने के लिए इतनी दूर से आना व्यर्थ है। वह तुम्हें अपने आप में मिलेगा। इससे पिप्पलाद को बतलाना यही है कि वह आत्मतत्त्व प्रवचन से नहीं आ सकता। उसे तो अपने आत्मा से पूछना चाहिए। उसका ज्ञान आत्मगुरुसापेक्ष है। हाँ, उस आत्मपुरुष से निकलने वाली जो १६ कलाएँ हैं, उन्हें हम जरूर शब्द द्वारा बतला सकते हैं, क्योंकि १६ कला विश्व की वस्तु हैं। १६ कला का परिचय कराना हमारा काम है। परन्तु जिससे ये १६ कला निकलती हैं- उसके लिए तो हम—

> **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
> **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" ॥[1]**

—यही कहेंगे। पाँचों प्रश्नों में पाँच प्राणों का निरूपण है। वे विज्ञेय हैं। शब्दब्रह्म द्वारा उनका निरूपण किया जा सकता है, अतः उनके लिए **'इहैवान्तः शरीरे'** नहीं कहा। परन्तु जिससे ये प्राण निकलते हैं—वह शब्दातीत है। इस रहस्य को सूचित करने के लिए इसके विषय में—**'इहैवान्तःशरीरे'** —यह कहा है।

आगे के उपनिषदों में यह स्पष्ट हो जाएगा कि उपनिषत् की प्रधानदृष्टि **'अक्षर'** पर है। कारण इसका यही है कि उपनिषत् अध्यात्मविद्या का निरूपण करते हैं। जीवात्मा का—**'जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्'**—के अनुसार अक्षर से सम्बन्ध है। जैसा कि मुण्डकोपनिषत् के—**'द्वा सुपर्णा०'**— इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट कर दिया जाएगा। अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर—तीनों की समष्टि षोडशी पुरुष है। इसी का नाम **'गूढोत्मा'** है। यही अमृतात्मा है। **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च'**—में **'अमृत'** शब्द अक्षर के लिए प्रयुक्त हुआ है। अक्षर ही प्रधान है। अक्षर के द्वारा ही अव्यय आत्मक्षर सृष्टि के अधिष्ठान और आरम्भण बनते हैं। क्योंकि अक्षर ही कुर्वद्रूप है, अतएव अमृत शब्द से षोडशी का ग्रहण कर लिया जाता है। यह अक्षरप्रधान अतएव अमृत नाम से प्रसिद्ध षोडशी पुरुष आत्मयोनि है। आत्मक्षर की प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद—ये पाँच वैकारिक कलाएँ हैं। इन पाँचों के पञ्चीकरण से—अधिदैवत में क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी—ये पाँच पिण्ड बनते हैं। इन पाँच पिण्डों के कारण वह अक्षरात्मापरपर्य्यायिक गूढोत्मा पाँच स्थानों पर प्रतिष्ठित हो जाता है। यही स्थिति अध्यात्म में है। अध्यात्म में ये पाँचों—'अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा भूतात्मा' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें अव्यक्तभाग प्राण है—आत्मा वही षोडशी है। महत्भाग 'आपः' है—आत्मा भाग वही षोडशी है। विज्ञान वाक् (इन्द्र) है—आत्माभाग वही षोडशी है। प्रज्ञान अन्न (सोम) है—

१—कठोप० १।२।२३।

आत्मभाग वही षोडशी है । भूत-अन्नाद (अग्नि) है-आत्मा वही षोडशी है । इस प्रकार अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूत सर्वथा भिन्न हैं । इन पाँचों के आत्मव्यवहार का कारण वह आत्मा **'अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** के अनुसार वही एक अविभक्त आत्मतत्त्व पाँच भागों में विभक्त हो रहा है । इस 'वही' के कारण अव्यक्तादि पाँचों क्षररूप होने पर भी 'आत्मा' कहलाते हैं । बस, उपनिषत् का एकमात्र यही कर्त्तव्य है कि वह पाँचों में से किसी एक 'क्षर' को लक्ष्य बनाकर क्षर-प्रतिष्ठित उस अमृततत्त्व को दिखला दे । उदाहरणार्थ-केन, माण्डूक्य प्रज्ञान को लक्ष्य बनाकर उसके अक्षर को दिखलाते हैं । कठ भूतात्मा को लक्ष्य बनाकर उसके अक्षर को दिखलाता है । मुण्डक विज्ञान को लक्ष्य बनाकर इसके अक्षर को दिखलाता है । ईशोपनिषत् पाँचों की समष्टि को लक्ष्य बनाकर उस एकरूप अविभक्त अक्षर को दिखलाता है । पाँच द्वार हैं-लक्ष्य एक है । द्वारापेक्षया सब उपनिषत् विभिन्नार्थ के प्रतिपादक हैं । लक्ष्यापेक्षया सब एक ही अर्थ का निरूपण करते हैं । यह है-उपनिषदों का गुप्तरहस्य । हमारा यह प्रश्नोपनिषत् भी अक्षर का ही (उस आत्मतत्त्व का ही) निरूपण करता है, परन्तु विज्ञान द्वारा । विज्ञान को यह लक्ष्य बनाता है । इसके द्वारा अक्षर का ज्ञान करवाता है । जैसा कि तीसरे प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है । पाँच विभिन्न वर्ण के आदर्शों (काचों) पर आने वाला एक ही सौर तेज (उपाधिभेद से) पाँच रूप धारण कर लेता है । एवमेव अव्यक्तादि पाँच क्षरों के कारण वह एक ही अक्षरतत्त्व पाँच स्वरूप धारण कर लेता है । इसी उपाधिभेद से पाँचों पुरुषों की कलाएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं । पहले **'अव्यक्ताक्षररूप'**-अव्यक्तात्मा को ही लीजिए । वाक्, प्राण-दोनों इस अव्यक्तात्मा के स्वरूपधर्म्म हैं । धर्म्मस्वरूप और आश्रित भेद से दो प्रकार के होते हैं । स्वरूपधर्म्म से उस वस्तु का स्वरूप (जीवन) सुरक्षित रहता है । आश्रितधर्म्म आगन्तुक हैं । विरोधी आश्रित धर्म्म वस्तु-स्वरूप के नाश के कारण बनते हुए अधर्म्म कहलाते हैं एवं उपकारक आश्रितधर्म्म धर्म्म कहलाते हैं । उदाहरणार्थ-पानी को लीजिए । पानी की शीतलता उसका स्वरूपधर्म्म है । गरम पानी की गर्मी आश्रितधर्म्म है । यही यदि अधिक रूप से आता है तो पानी हवा बनकर उड़ जाता है । ऐसा आश्रित-धर्म्म वस्तुस्वरूप का नाश करता हुआ अधर्म्म बन जाता है । यही व्यवस्था हमारे पाँचों क्षरात्माओं में समझनी चाहिए । पाँचों में स्वरूपधर्म्म भी हैं एवं आश्रितधर्म्म भी हैं । स्वरूपधर्म्म उनकी शक्ति है । शक्ति-शक्तिमान् का **'उष्णता-अग्निवत्'** अभेद है, अतः स्वरूपधर्म्म तो वस्तुस्वरूप में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । बाकी बचते हैं-उपकारक आश्रितधर्म्म । ये उपकारक आगन्तुक धर्म्म ही उस वस्तु की कलाएँ कहलाती हैं । अव्यक्तात्मा-दूसरे शब्दों में अव्यक्ताक्षर तभी तक है-जब तक कि अव्यक्त है । वाक्-प्राण की समष्टि का नाम ही 'अव्यक्त' है । चूँकि इसकी सत्ता पर अव्यक्ताक्षर की सत्ता है, अतएव अव्यक्तरूप वाक् प्राण का हम अव्यक्ताक्षर में ही अन्तर्भाव करने के लिए तय्यार हैं, अतएव हम इनको (वाक्प्राण को) कला भी नहीं कह सकते । इस अव्यक्ताक्षर के आश्रय में-वेदत्रयी (ब्रह्मनिःश्वसित वेद) प्रतिष्ठित है । ऋग्-यजुः-साम-तीन इसके आश्रितधर्म्म हैं, अतएव इन तीनों को हम अव्यक्ताक्षर की कला कहेंगे । अव्यक्त के बाद महान् है । पूर्व परिभाषा के अनुसार रश्मिप्राण महदक्षर के स्वरूपधर्म्म हैं एवं सत्त्व, रज, तम नाम से प्रसिद्ध (सत्त्व से यहाँ मलिन सत्त्व अभिप्रेत है क्योंकि विशुद्ध सत्त्व का तो स्वरूपधर्म्म में ही अन्तर्भाव है)-तीन गुण आगन्तुक हैं । ये ही तीन कला हैं । विद्या (धिषणा), अविद्या (प्राण), विज्ञानाक्षर के स्वरूपधर्म्म हैं एवं आगे बतलाए जाने वाली १६ आगन्तुक आश्रितधर्म्म इसकी १६ कलाएँ हैं । प्रज्ञाप्राण

प्रज्ञानाक्षर के स्वरूपधर्म्म हैं एवं 'केनोपनिषत्' में बतलाए गए २४ आश्रितधर्म्म इसकी कलाएँ हैं। 'भूतप्राण भूताक्षर के स्वरूपधर्म्म हैं एवं पाँचों तन्मात्राएं आश्रितधर्म्म हैं। ये ही इसकी पाँच कला हैं। ऐसी अवस्था में कह सकते हैं कि अव्यक्तपुरुष त्रिकल है। महत्पुरुष त्रिकल है। विज्ञानपुरुष षोडशकल है। प्रज्ञानपुरुष चतुर्विंशतिकल है एवं भूतपुरुष पञ्चकल है। वह पुरुष भी स्वयं षोडशकल है। इस पुरुष की षोडशकलाओं के कारण तो पाँचों ही पुरुष षोडशकल हैं। इसीलिए-'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'-यह कहा जाता है एवं आगन्तुक कलाओं की अपेक्षा विज्ञानरूप षोडशकल ही षोडशकल है—

स्वरूपधर्म्माः

१-अव्यक्तपुरुष	(अव्यक्तात्मा)	स्वायम्भुवः	– प्राणमयः	– ब्रह्ममयः	– वाक्प्राणमयः
२-महत्पुरुष	(महानात्मा)	पारमेष्ठ्यः	– आपोमयः	– विष्णुमयः	– रयिप्राणमयः
३-विज्ञानपुरुष	(विज्ञानात्मा)	सौरः	– वाङ्मयः	– इन्द्रमयः	– धिषणाप्राणमयः
४-प्रज्ञानपुरुष	(प्रज्ञानात्मा)	चान्द्रः	– अन्नमयः	– सोममयः	– प्रज्ञाप्राणमयः
५-भूतपुरुष	(भूतात्मा)	पार्थिवः	– अन्नादमयः	– अग्निमयः	– भूतप्राणमयः

आश्रितधर्म्माः कलानाम्ना प्रसिद्धाः

१-अव्यक्तषोडशीपुरुषः	– वेदत्रयीसम्बन्धात्	– त्रिकलः
२-महत्षोडशीपुरुषः	– त्रैगुण्यसम्बन्धात्	– त्रिकलः
३-विज्ञानषोडशीपुरुषः	– प्राणादिसम्बन्धात्	– षोडशकलः
४-प्रज्ञानषोडशीपुरुषः	– इन्द्रियादिसम्बन्धात्	– चतुर्विंशतिकलः
५-भूतषोडशीपुरुषः	– तन्मात्रसम्बन्धात्	– पञ्चकलः

इस उपनिषत् ने विज्ञान को ही प्रधान क्यों माना ? इस प्रश्न का उत्तर-प्राणविद्या है। इस उपनिषत् का प्रधान निरूपणीय विषय है-'प्राण'। प्राण-'अव्यक्त, महत्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूत'-भेद से पाँच प्रकार के हैं। ये पाँचों क्रमशः-प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद नाम से प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों शुद्धरूप से कभी नहीं रहते। पञ्चीकरण से ही पाँचों विश्वरूप में परिणत होते हैं। पाँचों मण्डलों के आत्मा की योनि जैसे षोडशी पुरुष है, तथैव पाँचों मण्डलों के पञ्चीकृत प्राण की योनि क्रमशः शुद्ध (अपञ्चीकृत) प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद हैं। स्वायम्भुव पञ्चीकृत प्राण (विश्वप्राण) की योनि शुद्ध (विकारक्षररूप-अपञ्चीकृत) वेदमय ब्राह्म प्राण है। पञ्चीकृत आपः की योनि शुद्ध आपोमय वैष्णव आप्यप्राण है। पञ्चीकृत वाक् की योनि शुद्ध वाङ्मय ऐन्द्र प्राण है। पञ्चीकृत अन्न की योनि शुद्ध सोममय सौम्यप्राण है एवं पञ्चीकृत अन्नाद की योनि शुद्ध अन्नाद अग्निमय प्राण है, अतएव इन आत्मसमर्पित शुद्ध पाँचों प्राणों को हमने पूर्व में 'प्राणयोनि' कहा है। इस क्रम से यह भी सिद्ध हो जाता है कि पाँचों ही मण्डलों में पाँचों प्राण हैं। इतना होने पर भी इन पाँचों का विकास मध्य के सूर्य्यविज्ञान में ही होता है। पाँच प्राण ही १६ कलाएँ पैदा करते हैं-जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा। चूंकि इन सोलह कलाओं के विकासमूलक पाँचों प्राणों का विकास इसी चितिधर्म्मा विज्ञान में होता है, अतएव यहाँ

इसी को षोडशी बतलाया है। अपि च–मध्यपतित विज्ञानपुरुष ही सबका अनुग्राहक है। इससे ऊपर अमृतमण्डल है। नीचे मर्त्यमण्डल है। पृथिवी-चन्द्रमा मर्त्य हैं। स्वयम्भू–परमेष्ठी अमृत हैं। मध्यस्थ सूर्य्य दोनों से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार अधिदैवत में मध्यस्थ सूर्य्य का सर्वप्राणानुग्राहकत्व सिद्ध हो जाता है। यही बात अध्यात्म में है। हृदय पर मन है। यहीं विज्ञानसूर्य्य प्रतिष्ठित है। **'मनोऽधि-कृत्यायात्यस्मिन् शरीरे'**–के अनुसार वह आधिदैविक सौरप्राण इसी मन के आधार से अध्यात्म में प्रविष्ट होकर आयु का कारण बनता है, अतएव–**'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'**[1] -यह कहा जाता है। जब तक यह है तब तक अव्यक्तादि हैं। हृदय पर वही व्यानरूप से प्रतिष्ठित है, अतएव इसके लिए—

"न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" ॥[2]

"ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते" ॥[3]

–यह कहा जाता है। इस प्रकार शरीर में अन्तःप्रविष्ट (मध्यप्रविष्ट) इस विज्ञानप्राण की सर्वव्यापकता भली-भाँति सिद्ध हो जाती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

"विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्" ॥[4]

पञ्चीकृत पाँचों प्राणों से १६ कलाएँ उत्पन्न होती हैं। इन पाँचों का विकासधाम मध्यपतित विज्ञान है, अतः इसी के साथ सोलह कलाओं का सम्बन्ध होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने–**'इहैवान्तःशरीरे'**–कहा है। शरीर का अन्तर्भाग (मध्यभाग) हृदय है। यहीं प्रज्ञानमन पर विज्ञान सम्प्रतिष्ठित है। अव्यक्तादि पाँचों में यही षोडशकल है। यह उपनिषत् इसी की १६ कलाओं का निरूपण करता है। जो लक्ष्य हिरण्यगर्भविद्यामूलक मुण्डकोपनिषत् का है, वही लक्ष्य प्राणरूप से इस उपनिषत् का है। सम्पूर्ण उपनिषत् क्रमशः पाँच प्राणों का निरूपण कर उनका विज्ञानपुरुष में समावेश करता है। अन्त में इसी को ज्ञेय बतला कर अपना वक्तव्य समाप्त करता है। बस, इस ऊपर के प्रपञ्च को लक्ष्य में रखकर ही आगे का प्रकरण देखना चाहिए—

१–कौषी॰ उप॰ ३।२। २–कठोप॰ २।२।५।
३–कठोप॰ २।२।३। ४–यजुर्वेद १७।५९।

प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु--तीन अवयव होते हैं। व्यासज्यवृत्त्या तीनों पर प्रजापति निरूढ है। आत्मा आत्मा है, प्राण, पशु प्रजा है। अथवा पशु प्रजा है। इस प्रजा को आत्मा से बद्ध रखने वाला पाश 'प्राण' है। तीनों मिलकर एक प्रजापति है। ऐसे पाँच प्रजापति हैं। अव्यक्तप्रजापति में अव्यक्त आत्मा है। वाक्प्राणरूप पञ्चीकृत (अतएव पाँच) प्राण 'प्राण' है। त्रिकलप्राण पशु है। यही व्यवस्था शेष चारों में समझनी चाहिए--जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है--
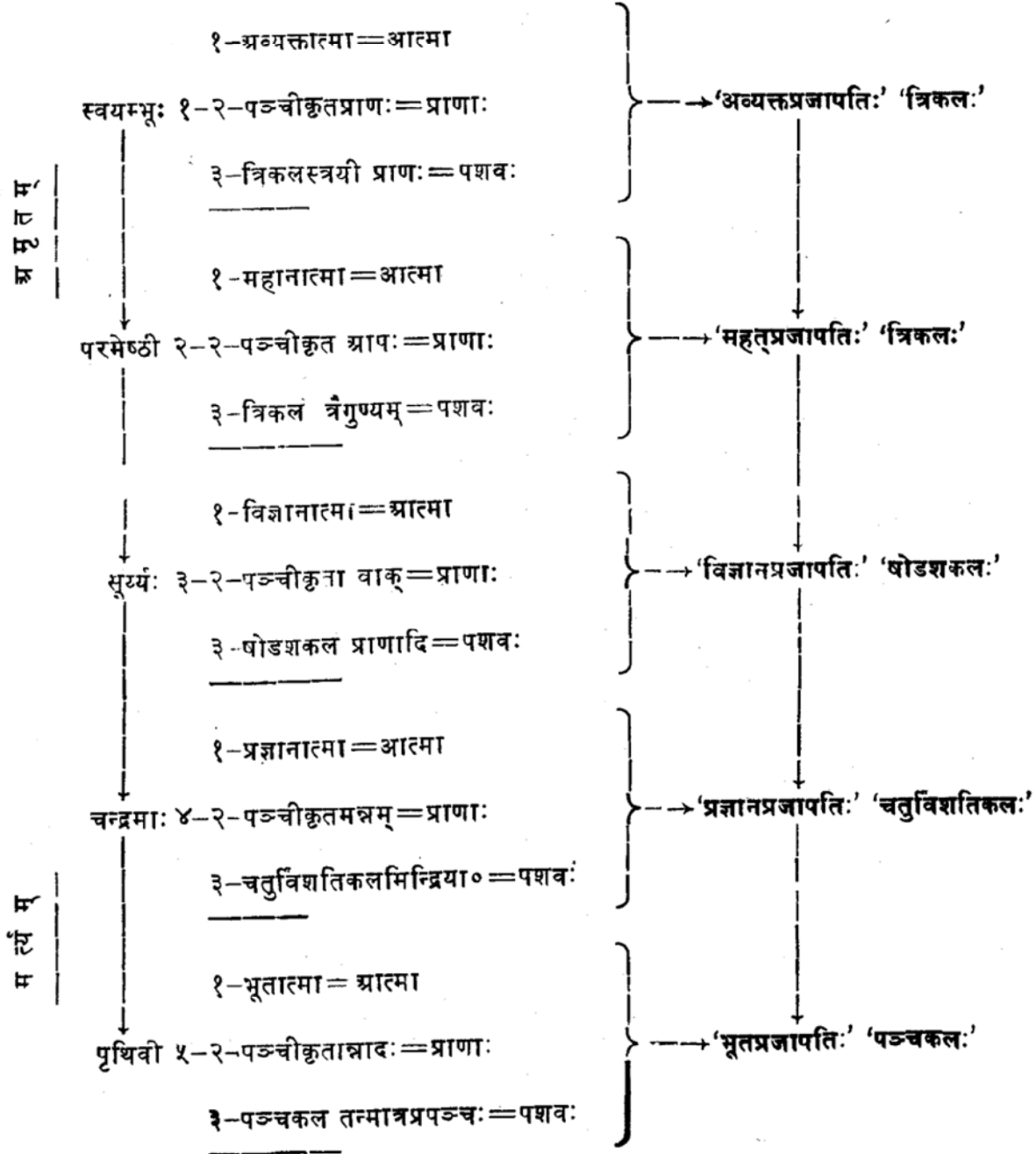
'द्वा सुपर्णा०'–इत्यादि मुण्डकोक्त मन्त्र में इसका स्पष्टीकरण किया जाएगा।

ब्राह्मणग्रन्थों में–इन पूर्वोक्त पाँचों प्रजापतियों में से पहला अव्यक्तप्रजापति **'आप्रू प्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध है एवं चारों **प्रतिमाप्रजापति**–नाम से प्रसिद्ध हैं। आश्रितधर्म्मरूप १६ कलाओं का विकास चूंकि मध्यस्थ उभयानुग्राहक विज्ञान में है–इसलिए यही षोडशकल है। इस प्रकार आगन्तुक पशुरूप-कलाओं की अपेक्षा तो यह सोलहकलायुक्त है ही–साथ ही में आत्मकलाओं की अपेक्षा भी यह विज्ञान ही षोडशकल है। पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, परात्पर की समष्टि ही षोडशी पुरुष है। इस षोडशकल आत्मयोनिभूत अक्षरदृष्टया अमृतनाम से प्रसिद्ध षोडशी पुरुष की सत्ता यद्यपि पाँचों स्थानों पर है। इसलिए आत्मकलापेक्षया पाँचों षोडशकल हैं। परन्तु इन सोलह कलाओं का विकास भी यहीं (अधिदैवत में सूर्य्य में, अध्यात्म में) विज्ञान में होता है। सूर्य्य चितिधर्म्मा है। आनन्दविज्ञानगर्भित अक्षरात्मक्षरविशिष्ट मन-प्राण-वाङ्मय आत्मा चितिधर्म्मा इसी सूर्य्य में विकसित होता है–जैसा कि पाँचवें प्रश्न में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। इस प्रकार आत्मकलापेक्षया, पशुकलापेक्षया-उभयथा शरीर के अन्तर्भाग में प्रतिष्ठित इस विज्ञान के साथ षोडश-कलापना सिद्ध हो जाता है। परन्तु इतना अवश्य है कि यहाँ आत्मकलाओं का निरूपण नहीं है–अपि तु, 'पशु'–कलाओं का ही निरूपण है। आत्मकलाओं का निरूपण पञ्चकोषनिरूपण[1] में देखना चाहिए।

यह पूर्वोक्त षोडशकल विज्ञानात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, परन्तु कब तक? जब तक १६ कलाएँ रहती हैं तभी तक। हम बतला आए हैं कि आत्मा, प्राण, पशु–तीनों मिलकर प्रजापति का स्वरूप बनता है। विना प्राण-पशु के प्रजापति नहीं है। दूसरे शब्दों में विना प्रजा के प्रजापति नहीं है। जिस दिन इसकी पशुरूप सोलह कलाएँ उत्क्रान्त हो जाती हैं, उस दिन शुद्धरूप में परिणत होता हुआ आत्मा–**'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति'**–के अनुसार उस व्यापक में मिल जाता है। प्रजापति का प्रजापतिपना नष्ट हो जाता है। विज्ञानप्रजापति अपने स्वरूप में तभी तक प्रतिष्ठित है, जब तक कि उसके साथ पशुरूप सोलह कलाओं का सम्बन्ध है। इनके उत्क्रान्त हो जाने पर यह भी उत्क्रान्त हो जाता है, अतएव इसे अपनी प्रतिष्ठा के लिए–अपने पञ्चीकृत वाङ्मय प्राण की–प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद–इन पाँच कलाओं से १६ कलाएँ उत्पन्न करनी पड़ती हैं। ये पाँचों इसी से उत्पन्न होती हैं एवं **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**–के अनुसार उन्हें उत्पन्न कर उनका भोग करता हुआ, अतएव प्रजापतिनाम धारण करता हुआ यह इनके आधार पर प्रतिष्ठित रहता है।

आध्यात्मिक विज्ञानपुरुष से १६ कलाएँ उत्पन्न नहीं होती–अपि तु, आधिदैविक विज्ञान (सूर्य्य) से १६ कलाओं का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहं'**–**'योऽहं सोऽसौ-योऽसौ सोऽहम्'** के अनुसार दोनों अभिन्न हैं। यह उसी का अंश है। इसी अभेदभाव का उपदेश देने के अभिप्राय से यहाँ अन्तःप्रविष्ट विज्ञान से १६ कलाओं की उत्पत्ति बतला दी गई है। यह विज्ञानपुरुष तभी तक अन्तःशरीर में प्रविष्ट रहता है, जब तक कि इससे उत्पन्न (इसके अंशीसूर्य्य से उत्पन्न) १६ कलाओं का शरीर से सम्बन्ध रखता है। इसी सारे विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

१–द्रष्टव्य तैत्ति० उप० २।८।

"तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषोयस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ।। स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नु–अहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि"–इति ।।

।। २—३ ।।

आगे का चौथा मन्त्र इन कलाओं का ही निरूपण करता है। अध्यात्मविज्ञान अधिदैवत का अंश है, एतदर्थ-अध्यात्मविज्ञान से १६ कलाओं की उत्पत्ति बतलाई है–यह गौण समाधान है। वस्तुतः आध्यात्मिक १६ कलाओं का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण आध्यात्मिक विज्ञान ही है। इसी के आधार पर इनकी सत्ता है, अतएव इसी से इनकी उत्पत्ति मानने में भी कोई बाधा नहीं है। हम बतला आए हैं कि स्वरूपधर्म्मरूप पञ्चीकृत वाङ्मय प्राण इसमें प्रतिष्ठित हैं। आत्माभाग अकर्त्ता है, निर्लेप है। वह स्वयं पैदा नहीं करता, अपि तु, प्रकृतिरूप-कुर्वद्रूप-स्वरूपधर्म्मरूप प्राण से ही ३ नई वस्तु उत्पन्न करने में समर्थ होता है। शक्तिमान् निर्लेप है–शक्ति कर्त्री है। इसी अभिप्राय से–'प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः०'-यह कहा जाता है। प्रकृति पुरुष अविनाभूत हैं, अतः अविद्याग्रस्त मनुष्य प्रकृति द्वारा होने वाले प्रपञ्च को—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" ।।[1]

—के अनुसार प्रकृतिसंपरिष्वक्त पुरुषभाग को कर्त्ता मान बैठता है। वस्तुतः पुरुष अधिष्ठानमात्र है, आलम्बनमात्र है। आरम्मण तो प्राणरूप प्रकृति ही बनती है। षोडशी आत्मा पुरुष है–उसे स्वप्रतिष्ठार्थ १६ कलाएँ उत्पन्न करनी हैं, एतदर्थ आरम्मणरूप पञ्चीकृत वाङ्मयप्राण (जो कि इस पुरुष की प्रकृति है) की अपेक्षा रखता है। इसे हमने स्वरूपधर्म्म बतलाया है। वह तादात्म्यापन्न होता है, अतएव इसे दार्शनिक परिभाषा में स्वभाव (आत्मा का भाव) कहा जाता है। इसी के आधार पर उस अजन्मा अजपुरुष को प्रकृति द्वारा होने वाले सर्ग में आना पड़ता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" ।।[2]

यहाँ इस विज्ञानात्मा का स्वभाव वाङ्मयप्राण है। यह पञ्चीकृत होने से–प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नादमय है। इनमें पहले 'प्राण' को ही लीजिए। इस प्राणभाग से (प्राकृत प्राणभाग से) सर्वप्रथम वह प्रजापति 'प्राण' ही उत्पन्न करता है। प्राण से उत्पन्न यही प्राणभाग आगे जाकर प्राण,

१–गीता ३।२७। २–गीता ४-६।

अपान, उदान, समान, व्यानरूप में परिणत होता है। अध्यात्म का यह पञ्चप्राणात्मक प्राण उसके प्राण से (जो कि स्वायम्भुव होने से परोरजा एवं ऋषिनाम से भी प्रसिद्ध है) उत्पन्न होता है। प्राणोत्पादक इसी प्राण को हमने पूर्व में 'ब्राह्मप्राण' कहा है। दूसरा है—वैष्णव आप्यप्राण। यह आप्य प्राण 'श्रद्धा' उत्पन्न करता है। श्रद्धा एक प्रकार का सौम्यप्राण है—स्नेहतत्त्व है। यह श्रद्धातत्त्व आप्य-प्राण से उत्पन्न होता है, अतएव इसके लिए—'श्रद्धा वा आपः'[1]—यह कहा जाता है। इस श्रद्धा-सत्त्व का चान्द्रमण्डल में विकास होता है। चान्द्र द्वारा अन्न में श्रद्धा का आगमन होता है। अन्नद्वारा वह हमारे में आती है। अन्न दिव्यासुरभेद से भिन्न-भिन्नधर्म्मवाले होते हैं। घटाकाश-पटाकाशवत् वह श्रद्धातत्त्व जैसे-जैसे अन्न से युक्त होता है, उसकी प्रकृति वैसी-वैसी ही हो जाती है एवं इस अन्न को खाने वाले की श्रद्धा भी वैसी ही रहती है। जो दूषित अन्न खाते हैं—उनकी श्रद्धा का सम्बन्ध दूषित पदार्थों के साथ ही रहता है। अन्न द्वारा आगत श्रद्धारस क्रमिक विशकलन से मन में जाकर प्रतिष्ठित होता है। जैसे प्रज्ञानपुरुष काममय है, एवमेव इस श्रद्धारस के सम्बन्ध से यह श्रद्धामय है। चान्द्रभाग सोम है। 'त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वाः'[2]—के अनुसार यही चान्द्र सोम औषधि बनता है। यह सोम श्रद्धामय है। श्रद्धा पारमेष्ठ्य आप्यप्राण से उत्पन्न 'स्नेहतत्त्व' है। वह इसी चान्द्रसोम में प्रतिष्ठित है। इसी के सम्बन्ध से सोम में संकोचधर्म्म उत्पन्न होता है। स्थूल पानी में भी वही श्रद्धारस है, अतएव उसमें भी स्नेहगुण है। इसी गुण के कारण आटे के विशकलित परमाणु परस्पर जुड़ जाते हैं। गूंद में 'श्रद्धा' का भाग और भी अधिक है, अतः फटे कागज को जोड़ने के लिए उसकी आवश्यकता होती है। निदर्शनमात्र है। संसार में जितने भी 'चेप' वाले पदार्थ हैं—स्नेहधर्म्मा हैं, सबमें सोममय श्रद्धारस विद्यमान है। वही श्रद्धारस मनुष्य के मन में आता है। अन्न में सोममयी श्रद्धा है। सोमभाग मन बन जाता है। तद्गतश्रद्धा इसी सौम्य मन में व्याप्त हो जाती है। चूंकि श्रद्धा का आगमन अन्न द्वारा होता है, अतएव अन्न के गुणदोष अनुशयरूप से श्रद्धा से युक्त होकर मन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह जैसा अन्न खाता है, इसके मन में वैसी ही श्रद्धा होती है। पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ भी इस श्रद्धा का सम्बन्ध है। श्रद्धा के प्रभाव से मन विषयों से सम्बन्ध रखने में समर्थ होता है। बस, जैसी इसकी श्रद्धा होती है—वैसे ही विषयों पर मन दौड़ता है। आस्तिक्य, देवार्चन, गुरुभक्ति, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि भावों पर उसी की श्रद्धा जाती है—जो कि दिव्य संस्कारयुक्त है एवं दिव्य अन्न खाता है। विपरीतता में बुरे कार्य्यों के साथ श्रद्धा का सम्बन्ध होता है। इसी अभिप्राय से—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" ॥[3]

"तं यथा यथोपासते तदेव भवति-इत्यादि" ॥[4]

—यह कहा जाता है।

१–द्रष्टव्य तैत्ति० उप० ३।२।४।१। २–ऋग्वेद मं० १।९१।२२।
३–गीता १७।३। ४–शत० ब्रा० १०।५।२।२०

श्रद्धामय मन (श्रद्धा के द्वारा) जिससे बद्ध हो जाता है–उसी में डूब जाता है-तन्मय हो जाता है, अतएव उसके गुणदोष के विवेक करने में असमर्थ रहता है। वह उसे अच्छा ही समझता है। चाहे–फिर उसमें दोष ही क्यों न हों? इसीलिए दार्शनिक लोग श्रद्धा का–**'दोषदर्शनानुकूल प्रतिबन्धकवृत्ति धारणतत्वम्'**–यह लक्षण किया करते हैं। उस वस्तु को (चाहे वह असत् ही हो–बुरी ही हो) श्रद्धा के प्रभाव से श्रद्धामय मन सत् (अच्छी-उपादेय) समझ कर उस पर प्रतिष्ठित हो जाता है, अतएव **'श्रत् (सत्यत्वं) दधाति विषयेषु यया शक्त्या'**–इस व्युत्पत्ति से इसे **'श्रद्धा'**–कहा जाता है। गुरु पर श्रद्धा है। अब चाहे उसमें दोष हो, परन्तु शिष्य की उस पर दृष्टि जाती ही नहीं। मन को काममय बतलाया जाता है। यह काम उसी श्रद्धामय मन की श्रद्धा के अनुसार ही होता है, अतः श्रद्धा को 'कामनाओं की माता' कहा जाता है। श्रद्धा ही सोम की माता है। श्रद्धा के स्नेहतत्त्व का ही चन्द्रमण्डल में सोमरूप से विकास होता है। सौर दिव्याग्नि में श्रद्धातत्त्व आहुत होकर सोमरूप में परिणत होता है–जैसा कि पञ्चाग्निविद्या में निरूपण किया जाएगा। दीक्षा-तप-श्रद्धा तीनों एक लोक में (पारमेष्ठ्य लोक में) उत्पन्न होती हैं। परमेष्ठी के ऊपर तपोलोक है। यहाँ तप का प्रादुर्भाव होता है। दीक्षा का स्वयम्भू से सम्बन्ध है। स्वयम्भू में–वेद, सूत्र, नियति–ये तीन मनोता हैं। तीनों में नियति (अन्तर्य्यामी) ही दीक्षा की जननी है। इस दीक्षा से दीक्षित सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सारे पदार्थ दीक्षित होकर श्रद्धा द्वारा अपना-अपना तप (व्यापार) कर रहे हैं। **'अधिकारसमर्पणम्'** ही दीक्षा है। सब इसी दीक्षा से अधिकृत होकर प्राकृतिक नित्ययज्ञ में सम्मिलित हो रहे हैं, अतएव वैध-यज्ञ में यजमान तब तक यज्ञ नहीं कर सकता–जब तक कि वह दीक्षित नहीं बन जाता है। दीक्षित पदार्थ (जड़चेतनात्मक उभयविध) कुछ कर्म्म करता है। वह कर्म्म ही तप है। यह उस तपोलोक की वस्तु है। तत्तत्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य की तत्तत्कर्म्म में श्रद्धा होती है। यह श्रद्धा पारमेष्ठ्य प्राण से उत्पन्न स्नेहतत्त्व है। स्वयम्भू सत्यलोक है! दीक्षा यहीं की वस्तु है, अतएव दीक्षित यजमान के लिए **'तस्माद् दीक्षितो नानृतं वदेत्'**–यह आज्ञा दी जाती है। तपोलोक से आगत तप, सत्यस्वयम्भू से आगत नियतिसत्यरूपा दीक्षा, पारमेष्ठ्य सोममयी श्रद्धा से युक्त होते हैं। एक ओर दीक्षा है, दूसरी ओर तप है। मध्य में श्रद्धामय तप है। यहीं वायव्य गन्धर्वप्राण है। यही दीक्षा तपोवेष्टित श्रद्धामय सोम की तत्रस्थ आप्य आसुरप्राण के आक्रमण से रक्षा करती है, अतएव गन्धर्वों को सोमरक्षक कहा जाता है। भूपृष्ठ से निकलकर प्रबलवेग से ऊपर जाने वाला सुपर्ण नाम से प्रसिद्ध गायत्राग्नि वहाँ जाकर कुशीभूत (दीवार भूत) दीक्षा-तप-श्रद्धामय सोम तीनों को लाकर भूमण्डल के अग्नि में आहुत करता रहता है। अग्नि के द्वारा ही ये तीनों तत्त्व हमें प्राप्त होते हैं। इस रहस्य का प्रतिपादन करने वाला कल्पित आख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में–**'सौपर्णाख्यान'** नाम से प्रसिद्ध है। अस्तु, इस अप्राकृत विषय को हम अधिक नहीं बढाना चाहते। यहाँ हमें यही बतलाना है कि आप्यप्राण से श्रद्धातत्त्व उत्पन्न होता है। यह सोममय है, अतएव इसे आहुतिद्रव्य भी माना जाता है। निम्नलिखित ब्राह्मणवचन इसी श्रद्धातत्त्व का वैज्ञानिक-स्वरूप हमारे सामने रखते हैं—

"श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते । श्रद्धया विन्दते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि (सूर्यो भगः–तदुपरि) वचसाऽऽवेदयामसि ।।
श्रद्धां देवा यजमानाः वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या । श्रद्धया हूयते हविः ।।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे । श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि । श्रद्धे श्रद्धापयेह मा ।।
श्रद्धा देवानधिवस्ते । श्रद्धा विश्वमिदं जगत् ।
श्रद्धां कामस्य मातरम् । हविषा वर्द्धयामसि" ।।[1]

श्रद्धा पारमेष्ठ्य आप्यप्राणमयी है । आपः ही मैथुनीसृष्टि का आरम्भण है, अतएव तद्रूपिणी श्रद्धा के लिए **'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्'**–यह कहा जाता है । उस विज्ञानपुरुष के आपोभाग से ही यह तत्त्व उत्पन्न हुआ है ।

तीसरी है–वाक् । वाक् आकाश है । दूसरे शब्दों में वाक् से (अमृताकाश से) मर्त्याकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी–ये पांच तत्त्व उत्पन्न होते हैं । वाक् पञ्चभूत की जननी है । यह पूर्व के **'सत्यानृत'**–प्रकरण में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । वाक् ही उत्तरोत्तर के क्रमिक चितिसम्बन्ध से क्रमशः पांच भूतों में परिणत होती है ।

चौथी है–अन्नकला । अन्नकला से पांच इन्द्रिएँ और मन उत्पन्न होते हैं । इसी प्राणरूप अन्न से स्थूल अन्न, तद्द्वारा मन और इन्द्रिएँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार अन्न से–अन्न, मन, इन्द्रिएँ–ये तीन कलाएँ उत्पन्न होती हैं । इस अन्न से स्थूल अन्न द्वारा वीर्य्यकला उत्पन्न होती है । अन्न से सोम अभिप्रेत है । वही सोम पर्ज्जन्यद्वारा पानी बनता हुआ औषधि बनता है । औषधि अन्न इसी सोम से उत्पन्न हुआ है । अन्न में भूत, प्राण, प्रज्ञा–तीन भाग हैं । भूतभाग पार्थिव है । प्राणभाग आन्तरिक्ष्य है एवं प्रज्ञाभाग दिव्य है–जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । शरीर में भी ये ही तीन भाग हैं । वैश्वानराग्निमय धातुसमष्टि भूतभाग है । तैजस वायुविशिष्ट इन्द्रियसमष्टि प्राणभाग है एवं प्राज्ञसंपरिष्वक्त प्रज्ञानभाग प्रज्ञामात्रा है । यही पूर्वोक्त मन, प्राण, वाक् है । मन आध्यात्मिक मन है । प्राण इन्द्रिएँ हैं । वाग्भाग आध्यात्मिक अन्न है । अन्न को भोग्य कहते हैं । शरीर का इन्द्रियों द्वारा मन भोग करता है, अतएव धातुरूप शरीर को हम 'अन्न' कहने के लिए तय्यार हैं । उस विज्ञानपुरुष की अन्नकला से–मनःप्राणवाङ्मय अन्न उत्पन्न होता है । अन्न का स्थूलभाग शरीररूप अन्न का पोषक होने से अन्न है । अन्नगत प्राणभाग–आध्यात्मिक प्राणरूप इन्द्रियवर्ग का पोषक होने से इन्द्रिय-

---

१–तै० ब्रा० २।८।८।६-८ ।

स्थानीय है । सूक्ष्मचेतनामय सोमभाग मन का उपकारक होने से मनःस्थानीय है । इस प्रकार अन्नकला से उत्पन्न एक ही अन्न में–अन्न, इन्द्रिय, मन–तीन कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है । वह अन्नभाग स्वयं त्रिकल है, अतः अन्नरूप में परिणत होकर वह मन-इन्द्रिय-अन्न–इन तीन कलाओं में परिणत होता है ।

यही अन्न वीर्य्यकला का भी जनक है । अन्न सोम है । यह श्रद्धायुक्त पारमेष्ठ्य तत्त्व है । परमेष्ठिरूपसोम स्वयम्भू और सूर्य्य दोनों का रस लेकर वीर्य्ययुक्त बन जाता है । पारमेष्ठ्य सोमान्न ही महान् का स्वरूपसंपादक है । यही सोमान्न विज्ञानपुरुष की चौथी कला है । ऊपर ब्रह्म स्वयम्भू है । नीचे क्षत्र सूर्य्य है । परमेष्ठी में ही एक वायुविशेष और है । वह **'द्युतानमारुत'** नाम से प्रसिद्ध है । **'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः'**–के अनुसार दोनों का इससे सम्बन्ध होता है । ब्रह्म ब्रह्मवीर्य्य है । क्षत्रइन्द्र क्षत्रवीर्य्य है । **'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति- इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः'**[1]–के अनुसार सौर इन्द्र के ऊपर अमृतमण्डल के अन्त में उत्तमस्थानीय आंगिरस बृहस्पति है–वही ब्रह्म है । यह स्वायम्भुव ब्रह्मप्राण का अंशभूत होने से ही 'ब्रह्म' कहलाता है । इसके नीचे इन्द्र है । यहाँ का सोम इन दोनों से युक्त रहता है । तीसरे **'द्युतानमारुत'** से भी सम्बन्ध रखता है । आपः, वायु, सोम में इस मध्यपतित भार्गव वायु की शिव-हंस-द्युतानमारुत आदि अनेक जातियाँ हैं । इनमें द्युतान-मारुत ही विड्वीर्य्य कहलाता है । इन तीनों वीर्य्यों का इस अन्नसोम से सम्बन्ध रहता है । इस प्रकार इस चौथे अन्नरूप सोम्यप्राण में–अन्न, इन्द्रिय, मन, वीर्य्य–इन चार की सत्ता सिद्ध हो जाती है । इन चारों से अन्न उत्पन्न होता है, अतएव अन्न चतुष्कल है । स्थूलभाग अन्नकला है । प्राणभाग इन्द्रिय-स्थानीय है । सोमभाग मनःस्थानीय है एवं ब्रह्म-इन्द्र-द्यु तीनों भाग वीर्य्यस्थानीय है । अन्न को खाने से वीर्य्य का विकास होता है, अतएव यहाँ **'अन्नाद् वीर्य्यम्'** कहा है । 'मुण्डकोपनिषत्' में महान् की कलाओं का निरूपण करते हुए–**'अन्नात् प्राणो मनो वीर्य्यम्'**–कहा है । वहाँ वीर्य्य के लिए **'प्राण'** शब्द कहा है । वहाँ का **'प्राण'** और यहाँ का **'वीर्य्य'** शब्द समानार्थक हैं । अन्न से ऊक्‌बल उत्पन्न होता है । यह उक्‌बल पारमेष्ठ्य भाग है । इसी के लिए **'ऊर्ग् वै रसो उदुम्बरः'**–यह कहा जाता है । औषधि, वनस्पतियों में, गूलर में यह अत्यधिक मात्रा में रहता है, अतएव उसे उदुम्बर कहा जाता है । यही ऊक्‌बल यहाँ वीर्य्य शब्द से अभिप्रेत है । वहाँ प्राणशब्द से अभिप्रेत है । प्रसंगागत एक बात और समझ लेनी चाहिए । **'अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसु चामृतम्'**–का निरूपण करते हुए हम महान् (पशुरूप) की ११ कलाएँ बतलाने वाले हैं । यहाँ त्रिगुणरूप तीन कलाएँ बतलाई गई हैं । इसमें श्रुतिविरोध आता है । इस विरोध का परिहार करने का उपाय यही प्रतीत होता है कि महान् के तीन गुणों को कितने ही वैज्ञानिक स्वरूपधर्म्म मान लेते हैं । उनके मतानुसार रयिप्राण, तीन गुण–ये पाँच स्वरूपधर्म्म हो जाते हैं । शेष अन्नादि ११ कलाएँ इनके मतानुसार पशु हैं । जो विज्ञान की कला हैं–वे ही महान् की हैं । केवल महान् में खं-वायु-ज्योति-जल-पृथिवी–इन पाँच भौतिक कलाओं का सम्बन्ध नहीं है, अत. उसमें ११ ही कलाएँ रह जाती हैं । मुण्डक इसी सिद्धान्त को रख-

---

१–शत० ब्रा० ५।३।५।७ ।

कर महान् को एकादशकलायुक्त बतलाता है। यद्यपि–'**तावुभौ भूतसंपृक्तौ स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः**'[1]–इस मनुवचन के अनुसार महान् के साथ भी भूत (पञ्चभूत) का सम्बन्ध सिद्ध होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। 'विज्ञान, महान् से संपरिष्वक्त रहता है'–केवल इस अविनाभाव को ही लक्ष्य में रखकर '**तावुभौ भूतसंपृक्तौ**' कह दिया है। चूंकि महान् भूतातीत (पञ्चभूतातीत) है, अतः उसमें ११ कलाएँ ही रह जाती हैं। कितने ही विद्वानों के मतानुसार रयिप्राणमात्र ही महान् के स्वरूपधर्म्म हैं। त्रैगुण्य तो–'विज्ञान' के दर्शपूर्णमास से उत्पन्न होने के कारण आगन्तुक ही है। जैसा कि–'**या प्राणने संभवत्यदितिर्देवतामयी**'–इस कठ वचन में विस्तार के साथ बतला दिया गया है। इस मत के अनुसार त्रैगुण्यसम्बन्ध से महान् त्रिकल ही होता है। इस प्रश्न में हमने इसी मत को प्रधानता दी है। अस्तु, यह कथान्तर है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि विज्ञानात्मा के अन्न से–अन्न, इन्द्रिय, मन, वीर्य्य चारकलाओंयुक्त अन्न उत्पन्न होता है। इसी अन्नभोग से (अन्न खाने से) आध्यात्मिक चारों भाग प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अन्न में ब्रह्मवीर्य्य प्रधान है। ब्राह्मण के लिए स्ववीर्य्यरक्षार्थ वही अन्न उपादेय है। किसी में क्षत्रवीर्य्य–किसी में विड्वीर्य्य प्रधान है। अन्न में तीनों हैं। प्रधाना-प्रधानता का भेद है। तत्तद्वर्णों को स्ववीर्य्यरक्षार्थ तत्तदन्न खाने चाहिए। विरोधि अन्नों का परित्याग करना चाहिए।

पाँचवाँ प्राण है–अन्नाद। अन्नाद अग्नि है। इससे मन्त्र, तप, लोक, नाम, कर्म्म–ये पाँच कलाएँ उत्पन्न होती हैं।

१–तप–

'**मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः**'–तप का यही लक्षण है। इस तप से आत्मा में एक बल आता है। वह बलवान् आत्मा ही उस विज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होता है। यही बल 'तपोबल' नाम से प्रसिद्ध है। इस तपोबल का अग्नि से सम्बन्ध है। अग्नि ही असली बल है। इसी के आधार पर तप हो सकता है। निर्बल मनुष्य का मन, इन्द्रिएँ निर्बल हैं। वह इनका संयम क्या करेगा? तपोबल का उदय अग्निबल पर ही निर्भर है। दुर्बल मनुष्य में तपोबल का अत्यन्ताभाव है। अथवा तप प्राणव्यापार है। शरीर में जब तक अग्नि रहता है, तब तक ही व्यापार होता है। हाथ-पैर ठंडे होते ही सारा चर्खा बन्द हो जाता है। अग्नि ही तपःकला का जनक है।

२–मन्त्र, ३–कर्म्म–

मन्त्र से यहाँ वेदतत्त्व अभिप्रेत है। ऋग्-यजुः-साम ही वेदमन्त्र हैं। ऋग् अग्नि है। यजुः वायु है। आदित्य साम है। तीनों ही अग्नि हैं। इसी अग्नित्रयी का नाम 'यज्ञमात्रिक' वेद है। गार्हपत्य,

---

१–मनुस्मृति १२।१४।

दक्षिणा, आहवनीय का इसी (वेद) त्रयी से सम्बन्ध है। इस त्रयी के मन्त्र, विद्या, ब्रह्म-तीन विवर्त्त हैं। तीनों में साधारण अन्तर है। परमार्थतः तीनों अभिन्न हैं। विषय देखने से आत्मा में एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। विषय देखने से हमें एक ज्ञान होता है। विषय सामने है। उसका हमें ज्ञान हो रहा है। बस, इस विषयावच्छिन्न ज्ञान का ही नाम-'ब्रह्म' है। इस विषयज्ञान से आत्मा पर एक प्रकार का संस्कार हो जाता है। यह संस्कार-ज्ञानमय, कर्म्ममय विषयभेद से भावनावासनारूप बनकर आत्मा में (प्रज्ञान में) प्रतिष्ठित होता है। इसी संस्कार से प्रारम्भ में होने वाले विषयज्ञान का पुनः-पुनः स्मरण हुआ करता है। स्मृति का संस्कारावच्छिन्न ज्ञान से सम्बन्ध है। यही **'विद्या'** है। **शब्द** सुनने से भी एक प्रकार का ज्ञान होता है। बस, शब्दावच्छिन्न ज्ञान का ही नाम मन्त्र है-यही वेद है। विज्ञान-ब्रह्म एक तत्त्व है। शब्द, संस्कार, विषयरूप उपाधि से वह एक ही तीन भावों में परिणत हो जाता है। उपाधिशून्य वह एक है, अतएव ब्रह्म, वेद, विद्या-तीनों के लिए-**'त्रयं ब्रह्म, 'त्रयी विद्या', 'त्रयो वेदाः'**-यह अभिन्न व्यवहार होता है। तीनों के लिए मनशब्द प्रयुक्त हो सकता है। तीनों का आधार विज्ञानाक्षर का अन्नादभाग है। मन्त्र ब्रह्म (ज्ञान) का वाचक है। **ब्रह्म वेद है। वेद का मूल वाक्** है। वाक् अग्नि है। अग्नि ही त्रयी विद्या है। यही त्रयीब्रह्म है। यही तीन भेद हैं। यजुः ही प्रधानब्रह्म है। जैसा कि कठ के ब्रह्मतत्त्वनिरूपण में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। एक एक शब्दावच्छिन्न विज्ञान एक एक मन्त्र है। सर्वविज्ञानसमष्टि ब्रह्म है-प्रत्येक मन्त्र है। मन्त्र-समष्टि ब्रह्म है-यही विद्या है। यही ज्ञान है—

१-विषयावच्छिन्नं विज्ञानं—ब्रह्म।

२-संस्कारावच्छिन्नं (भावनावासनारूपं) विज्ञानं—विद्या।

३-शब्दावच्छिन्नं विज्ञानं—वेदः।

एकं विज्ञानं ब्रह्म। तदेवोपाधिभेदेन त्रिधा विभक्तम्॥

१-विषयोपहितं विज्ञानं	ब्रह्म	- त्रयं ब्रह्म	} →**'ब्रह्म' 'मन्त्रः'-ज्ञानं-विद्या-वेदः**
२-संस्कारोपहितं विज्ञानं	विद्या	- त्रयीविद्या	
३-शब्दोपहितं विज्ञानं	वेदः	- त्रयोवेदाः	

'विज्ञानं ब्रह्मेत्युपासीत'

इसी मन्त्ररूपविद्या के लिए मुण्डक में महान् की कलाओं का निरूपण करते समय 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस ज्ञानरूपमन्त्र का-वेदत्रयी का विकास अन्नाद से ही होता है, अतः मन्त्ररूप ब्रह्म को हम अन्नाद की कला मानने के लिए तय्यार हैं।

३–तीसरा है–कर्म्म—

विद्या-कर्म्म अविनाभूत हैं। चलना, फिरना, सोना, उठना, बैठना सारे कर्म्म–अन्नादाग्नि के आधार पर हैं–इसी से उत्पन्न होते हैं। **'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति'**–के अनुसार यही अग्नि सदा जाग्रत् रहता है। जब तक यह जाग्रत् रहता है–तभी तक सारे कर्म्म होते हैं, अतः मन्त्रवत् कर्म्म को भी हम अन्नाद से ही निकला हुआ मानने के लिए तय्यार हैं।

४–लोकाः—

पृथिवी-अन्तरिक्ष–द्यौ तीन लोक हैं। अध्यात्म में मूलद्वार से नाभि तक पृथिवीलोक है। नाभि से हृदय तक अन्तरिक्षलोक है। हृदय से मस्तक तक द्युलोक है। तीनों क्रमशः प्राण, अपान, व्यानाग्निमय है। तीनों में क्रमशः वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ प्रतिष्ठित हैं। वैश्वानर अग्नि है, तैजस वायु है एवं प्राज्ञ आदित्य है। तीनों आत्माग्नि हैं। आत्माग्नियुक्त लोकाग्नि का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण भी वही है।

५–नाम—

लोक तक अर्थब्रह्म है। नाम शब्दब्रह्म है। अर्थब्रह्मवत् शब्दब्रह्म भी उसी से उत्पन्न होता है। उसी के लिए यहाँ नामशब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद से अर्थसृष्टि होती है। अन्नाद से शब्दसृष्टि होती है। **'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'** के अनुसार एवं–**'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्'**०–इत्यादि शिक्षा के अनुसार सारे वर्ण भी इसी से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार तप, मन्त्र, लोक, कर्म्म, नाम–पाँचों उसी से उत्पन्न होते हैं। कुल मिलाकर १६ कलाएँ हो जाती हैं। जैसा कि आगे की तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

स प्राणमसृजत	–	(स्वायम्भुवप्राकृतप्राणेन–पञ्चात्मकं पशुप्राणमसृजत)
प्राणाच्छ्रद्धाम्	–	(पारमेष्ठ्यप्राकृताप्यप्राणेन–स्नेहरूपां श्रद्धामसृजत)
(सौरवाङ्मयप्राणेन)	–	(खं, वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी–इति पञ्चभूतमसृजत)
(चान्द्रसौम्यप्राणेन)	–	(इन्द्रियं, मनः, अन्नं (अन्नाद्) वीर्य्यमसृजत)
(पार्थिवाग्नेयप्राणेन)	–	(तपः, मन्त्राः, कर्म्म, लोकाः (लोकिनश्च), लोकेषु नाम च)

'सोऽयं विज्ञानात्मा षोडशकलः'

यह विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध मन के ऊपर प्रतिष्ठित रहकर ही इन १६ कलाओं का भोग करने में समर्थ होता है। आयुप्राणरूप विज्ञान–**'मनोधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे'**–के अनुसार प्रज्ञान मन के द्वारा ही प्रतिष्ठित होता है, अतएव ऐतरेय ने पूर्वोक्त १६ कलाओं का प्रज्ञान से भी सम्बन्ध मान लिया है। परन्तु वस्तुतः ये कलाएँ विज्ञान की हैं। प्रज्ञान की अपनी प्रातिस्विक २४ कलाएँ हैं–जिनका कि केनोपनिषत् में विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है। प्रज्ञान ही उन

विज्ञान की १६ कलाओं की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान भोगायतन है। उस पर प्रतिष्ठित १६ कला भोग हैं। प्राणअबादि पाँचों प्राण भोगसाधन हैं। विज्ञान भोक्ता है। यह भोगसंस्कार प्रज्ञान पर ही होता है, अतः विज्ञान के लिए **'असंगोह्ययं पुरुषः'**–यह कहा जाता है। प्रज्ञानयुक्त विज्ञान की (प्रज्ञान के आधाररूप होने से) प्रज्ञानरूप से इन्हीं सोलह कलाओं का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"एष ब्रह्म। एष इन्द्रः। एष प्रजापतिः। एते सर्वे देवाः। इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी, वायुराकाश आपो ज्योतींषि-इत्येतानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि'। तत् सर्वं प्रज्ञानेत्रम्" ।।[1]

कलाएँ हैं वस्तुतः विज्ञान की। प्रज्ञान पर ये प्रतिष्ठितमात्र हैं। इसी का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जा कर श्रुति कहती है—

"प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं, प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा" ।।[2]

बस, हमारा चौथा मन्त्र इसी अर्थ का निरूपण करता है—

।। इति प्रथमोऽर्थः ।।१।।

अथ द्वितीयोऽर्थः:—

अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर–यह त्रित्ववाद ही उपनिषदों का मूल है। उपनिषदों का ही क्या सारे **'शब्द' ब्रह्म** का मूल है। इस त्रित्ववाद के आधार पर सृष्टिविद्या तीन भागों में विभक्त है। कितने ही वैज्ञानिक अव्यय से सृष्टिधारा मानते हैं। कितने ही वैज्ञानिक अक्षर से सृष्टि का विकास मानते है एवं कितने ही वैज्ञानिक क्षर से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। अव्ययमूला सृष्टिविद्या उपनिषदों में **'अश्वत्थ'** विद्या नाम से प्रसिद्ध है। यह अश्वत्थमूलासृष्टि **'उर्ध्वमूला' 'स्वयम्भू मूला' 'मस्तकमूला'** आदि नामों व्यवहृत की जा सकती है। अव्यय को मूल मानकर सारी सृष्टि का निरूपण करना यह प्रथम उत्तमकल्प है। अक्षरमूला सृष्टिविद्या उपनिषदों में–**'हिरण्यगर्भविद्या'**–**'उद्गीथविद्या'** आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसे ही हम **'मध्यमूला'-'हृदयमूला'-'सूर्य्यमूला'** सृष्टि कहेंगे। इस प्रकार अक्षर को मूल मानकर सारी सृष्टि का निरूपण करना मध्यमकल्प है एवं क्षरमूलासृष्टि उपनिषदों में **'प्राणविद्या'**–**'उक्थविद्या'** आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसे ही हम–**'पादमूला' 'पृथिवीमूला'** सृष्टि कहेंगे। इस क्षर को मूल मानकर सृष्टि का निरूपण करना प्रथमकल्प है। तीनों में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः तीनों धाराएँ–**'सर्वं सहैव'**–के अनुसार एक साथ चलती हैं। ऊर्ध्वमूला अव्ययसृष्टि का आधिदैविक

१–ऐतरेयोप० ५।३।

२–ऐतरेयोप० ५।३।

प्रपञ्च से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यमूला अक्षरसृष्टि का आध्यात्मिक प्रपञ्च से घनिष्ठ सम्बन्ध है, एवं अधोमूला क्षरसृष्टि का आधिभौतिक प्रपञ्च के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वयम्भू से परमेष्ठी, परमेष्ठी से सूर्य्य, सूर्य्य से पृथिवी, पृथिवी से चन्द्रमा—यह उत्तमकल्प है। पृथिवी से चन्द्रमा, चन्द्रमा से सूर्य्य, सूर्य्य से परमेष्ठी, परमेष्ठी से स्वयम्भू—यह प्रथमकल्प है। मध्यस्थ अमृतमर्त्यभावापन्न सूर्य्य के अमृतभाग से परमेष्ठी-स्वयम्भू, मर्त्यभाग से चन्द्रमा-पृथिवी—यह मध्यमकल्प है। उपनिषत् प्रधानरूप से अध्यात्म का निरूपण करता है। अध्यात्मसृष्टि के मूलाधार का—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार मध्यपतित सौर अक्षर से सम्बन्ध है, अतएव उपनिषदों में इसी मध्यमूला सृष्टि को (प्रायः) अधिक माहात्म्य दिया जाता है। मध्यमूल अक्षर अव्ययात्मक्षराविनाभूत है। ऐसा अक्षर सूर्य्य में आकर 'विज्ञान' नाम धारण कर लेता है। यह सूर्य्य लोकचक्षु है। सारा विश्व इसी से देखने में समर्थ हो रहा है। चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध इसी से है। यह सौराक्षर विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध होता हुआ आध्यात्मिक सोममय प्रज्ञानात्मा पर प्रतिष्ठित होता है। इसी विज्ञानप्रकाश से प्रकाशित होता हुआ प्रज्ञानमन इन्द्रियों द्वारा विषय देखने में समर्थ होता है। इस प्रकार प्रज्ञानविज्ञानभेद से अध्यात्म में दो देखने वाले हो जाते हैं। इनमें प्रज्ञान विषय की ओर ही झुका रहता है। प्रज्ञान विना विषय के देखने में असमर्थ है। विषय को तभी देख सकता है, जबकि विज्ञान के समीप बैठा हो। विज्ञान-प्रकाश के समीप रहकर विषयमात्र देखना इसका (प्रज्ञान का) काम है, अतएव वैज्ञानिकों ने इसका नाम 'उपद्रष्टा' रक्खा है। परन्तु विज्ञानसूर्य्य चान्द्रप्रज्ञानवत् परज्योति नहीं है—अपि तु, स्वज्योति है। सब ओर से प्रकाशित रहता है। विषय को भी देखता है। विना विषय के भी अपने व्यापार में समर्थ रहता है। चूंकि इसकी द्रष्टृत्वशक्ति (स्वज्योतिर्भाव के कारण) सब ओर काम करती है, अतएव इसे 'परिद्रष्टा (परितः-सर्वतः-द्रष्टा)—कहा जाता है। आधिदैविकमण्डल में सूर्य्य परिद्रष्टा है—चन्द्रमा उपद्रष्टा है। चन्द्रमा में जो प्रकाश है वह—'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे'[1] के अनुसार इसी सूर्य्य से आया हुआ है। अध्यात्म में विज्ञान परिद्रष्टा है—प्रज्ञान उपद्रष्टा है। यह आध्यात्मिक विज्ञान उस आधिदैविक अक्षररूप विज्ञान का अंश है। इसी को मूल मानकर सृष्टि का विकास मानने वाले वैज्ञानिकों का कहना है कि अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत—तीनों का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही मध्य का सौर अक्षर है। यही सौर अक्षर आग्नेयभाव के कारण 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टि में सबसे पहले इसी का विकास होता है। स्वयम्भूपरमेष्ठीरूप द्युलोक एवं चन्द्र-पृथिवीरूप पृथिवीलोक दूसरे शब्दों में स्वयम्भूपरमेष्ठीरूप अमृतमण्डल, चन्द्रपृथिवीरूप मर्त्यमण्डल दोनों इसी से प्रादुर्भूत हुए हैं—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम"॥[2]

१—ऋग्वेद मं० १।८४।१५। २—ऋग्वेद मं० १०।१२१।१।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥[१]

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" ॥[२]

—इत्यादि मन्त्र इसी हिरण्यगर्भविद्या की प्रधानता बतलाते हैं । यही हमारे इस छठे प्रश्न का षोडशकल 'परिद्रष्टा' प्रजापति है । इस परिद्रष्टा प्रजापति के ऊपर अव्यय की प्रधानता है, अतएव उसे हम 'आधिदैविक' प्रपञ्च कहेंगे । इससे नीचे क्षर की प्रधानता है । 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'[3]—इस सिद्धान्त के अनुसार नीचे के प्रपञ्च को 'आधिभौतिक' कहेंगे । सूर्य्य स्वयं अक्षररूप है, अतएव उसे 'अक्षर' कहेंगे । भगवान् ने भी इसी अक्षररूप पराप्रकृति को जगत् का आधार माना है । अक्षर जीवप्रपञ्च से सम्बन्ध रखता, अतएव इसे वह 'जीवभूता' प्रकृति मानते हैं—

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" ॥[४]

—से यही सिद्धान्त प्रकट होता है । इस प्रकार सूर्य्याक्षररूप परिद्रष्टा षोडशी प्रजापति ही आधिदैविकरूप अमृतप्रपञ्च का उपपादक है । यही आधिभौतिक मर्त्यप्रपञ्च का उपपादक है । यही अध्यात्मप्रपञ्च का उत्पादक है । पूर्व के निरूपण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । 'तस्माद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात्—सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्'—इस सिद्धान्त के अनुसार नीचे का सारा मण्डल मर्त्य, अतएव क्षररूप है । ऊपर का सारा प्रपञ्च अमृत अतएव अव्ययरूप है । अक्षररूप सूर्य्य अमृताव्यय-मर्त्यक्षर दोनों का संचालक है । इसी अभिप्राय से—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥[५]

—यह कहा जाता है । आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधिभौतिक भेद से यह अक्षरपुरुष षोडशकल हो जाता है । पूर्व के अर्थ में हमने केवल आध्यात्मिक जीवात्मा की षोडशकला बतलाई थी । परन्तु अब उस अध्यात्मप्रपञ्च के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूप सूर्य्याक्षर की आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक—तीनों को को मिलाकर १६ कलाएँ बतलाते हैं—

१—यजुर्वेद ३४।३१ ।
२—ऋग्वेद मं० १।११५।१ ।
३—गीता १५।१६ ।
४—गीता ७।५ ।
५—कठोप० १।२।१६ ।

१–अश्वत्थविद्या – उर्ध्वमूला स्वयम्भूमूला– शिरोमूला – 'अव्ययविद्या' –'आधिदैविकी'
२–हिरण्यगर्भविद्या – मध्यमूला – हृदयमूला – 'अक्षरविद्या' –आध्यात्मिकी ।
३–प्रणवविद्या – अधोमूला – पादमूला – 'क्षरविद्या' –आधिभौतिकी ।

१–स्वयम्भूः, २–परमेष्ठी } →अमृतम्——'अव्ययः'—अधिदैवतम्—द्यौः
अमृतसूर्य्यः, मर्त्यसूर्य्यः } →'उभयभावापन्नः–अक्षरः'—अध्यात्मम्—अन्तरिक्षम्
३–चन्द्रमाः, ४–पृथिवी } →मर्त्यम्———'क्षरः'—अधिभूतम्——पृथिवी
} → षोडशकलः–प्रजापतिः 'परिद्रष्टा'

अक्षर को पूर्व में हमने अव्यय का 'स्वभाव' बतलाया है–अध्यात्म का सम्बन्ध इसी मध्यपतित अक्षर से है, अतएव इसके लिए–**'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'**–यह कहा जाता है । यह है–ब्राह्मी स्थिति । अव्ययात्मक्षरविशिष्ट मध्यस्थ अक्षर से (क्षरभाग द्वारा) सर्वप्रथम 'प्राण' उत्पन्न होता है । प्राण से श्रद्धा उत्पन्न होती है । प्राण से स्वयम्भूमण्डल अभिप्रेत है । श्रद्धा से परमेष्ठिमण्डल अभिप्रेत है । स्वयम्भू वाक्प्राणमय हैं । प्राणगर्भित यह वाक् ही–**'सोऽपोऽसृजत । वाच एव लोकात् वागेव साऽसृज्यत'**[1] यह कहा जाता है । असत्प्राण ऋषिप्राण है । वही सप्तपुरुषपुरुषात्मक बनकर सबसे पहले वाक्भाग से पानी बनता है । **'श्रद्धा वा आपः'**[2]–के अनुसार पारमेष्ठ्य आपोमयमण्डल श्रद्धारूप है । ऋषि को आध्यात्मिक श्रद्धातत्त्व का भी निरूपण करना है–परमेष्ठी का भी निरूपण करना है । श्रद्धा शब्द दोनों काम कर देता है, अतएव परमेष्ठी के लिए आपः न कहकर श्रद्धा कहा है । बस, प्राणरूप स्वयम्भू, श्रद्धास्वरूप परमेष्ठी–दोनों इस अक्षर के अव्ययप्रधान अमृतभाग से उत्पन्न हुए हैं । यही अमृता सृष्टि है । इसके बाद वही अक्षर अपने मर्त्य भूतोपादानभूत क्षरभाग से क्रमशः पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (मर्त्याकाश)–ये पाँच भूत उत्पन्न करता है । उत्पत्तिक्रम आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी यह है । सौर इन्द्र आकाश है । इससे वायु उत्पन्न होता है । वायु से तेज का प्रादुर्भाव होता है । अग्निघर्षण द्वारा पानीबनता है । पानी ही रुद्रवायु के प्रवेश से क्रमशः आपः, फेन, उषा, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयस्, हिरण्य–इन आठ व्याहृतियों में परिणत होता हुआ पृथिवी बन जाता है । यह पञ्चभूतसमष्टि अक्षर के मर्त्यक्षरभाग से उत्पन्न हुई है । यही आधिभौतिक प्रपञ्च है, एवं वही अक्षर अपने अव्ययक्षरगर्भित स्वभाव से (अक्षरभाग से) मन (प्रज्ञान मन), इन्द्रिएँ–अन्न, वीर्य्य की समष्टिरूप अध्यात्मप्रपञ्च को उत्पन्न करता है । बाकी

१–शत० ब्रा० ६।१।१।६ । २–तैत्ति० ब्रा० ३।२।४।१ ।

बचते हैं—मन्त्र, तप, लोक, कर्म्म, नाम । इन पाँच कलाओं का तीनों प्रपञ्चों से सम्बन्ध है । मन्त्र वेद है । तप दीक्षासम्बन्धी स्व-स्व अधिकार पालन है । भूः, भुवः आदि सात लोक हैं एवं तत्तत् पदार्थों का आदानविसर्गात्मक व्यापार ही **'विसर्गः कर्मसंज्ञितः'**—के अनुसार कर्म्म है । सबके स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य आदि नाम हैं। अव्ययात्मक्षरगर्भित अक्षर षोडशी है । **'अस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'**—के अनुसार उसमें प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद पाँच कलाएँ हैं । प्राण से वेदसृष्टि होती है । आपः से लोकसृष्टि होती है । वाक् से नामसृष्टि होती है । अन्नाद से तप और कर्म्म सृष्टि होती है । आदानविसर्ग ही कर्म्म है । आदान जिसका होता है—वह अन्न है । जो लेता है—वह अन्नाद है । दोनों के समुच्चय से ही 'यज्ञ' कर्म्म उत्पन्न होता है । इस यक्ष से आत्मरक्षा होती है, अतः यह बन्धन का कारण नहीं है । इसी अभिप्राय से **'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**[1]—यह कहा जाता है । यहाँ के कर्म्म से यज्ञकर्म्म अभिप्रेत है । इसी के लिए **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[2]—यह कहा जाता है । तप एक प्रकार का आत्मबल है । वह अन्न अन्नाद के समन्वयरूप यज्ञकर्म्म से ही उत्पन्न होता है। **'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति'**—तप का यही लक्षण है । किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए जो अपना प्राण खर्च किया जाता है (जिसे कि परिश्रम शब्द से व्यवहृत किया जाता है) वही व्यापार तप है । यह भी अन्न अन्नाद के समन्वय पर ही निर्भर है । पूर्वोक्त तीनों प्रपञ्च वेदमय हैं । तपोमय हैं । वषट्कारानुसार सब में भूः- आदि सात लोक हैं । सब में आदानविसर्गात्मक कर्म्म है । सब के पृथक् पृथक् नाम हैं । इस प्रकार प्राणादि पाँचों स्वरूपधर्म्मों से उत्पन्न इन पाँच कलाओं का सर्वसाधारण के साथ सम्बन्ध हो जाता है—

स प्राणमसृजत	–(आत्मक्षरगर्भिताव्ययप्रधानोऽक्षरः-स्वयम्भूमण्डलमसृजत)
प्राणाच्छ्रद्धाम्	–(स एव प्राणगर्भितवाचा परमेष्ठिनमसृजत)
खं-वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी	–(इति पञ्चभूतं-अव्ययगर्भितक्षरप्रधानोऽक्षरः-असृजत)
इन्द्रियं-मनोऽन्नाद् वीर्य्यम्	–(इति-अध्यात्मप्रपञ्चं-अव्ययात्मक्षरगर्भिताक्षरः असृजत)
तपो मन्त्राः कर्म्मलोकाः-नाम	–(इति साधारणप्रपञ्चं-पञ्चकलाभिः स षोडशी-असृजत)

'षोडशकलः—प्रजापतिरक्षरः परिद्रष्टा'

१– { १–प्राणः –प्राणमयः स्वयम्भू – प्राकृतप्राणादुत्पन्नः
२–श्रद्धा –श्रद्धामयः परमेष्ठी – प्राकृतप्राणगर्भितापोभागेन } **'क्षरगर्भिताव्ययप्रधानोऽक्षरः'** **'आधिदैविकतन्त्रम्'–१**

१–गीता ३।९ ।

२–शत० ब्रा० १।७।१।५ ।

'चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुः' ।

अक्षर से ही सब कुछ पैदा हुआ है–पूर्व के निरूपण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। इसी अक्षरसत्य की सर्वात्मकता बतलाती हुई मुण्डकश्रुति कहती है—

"तदेतत्सत्यम्—

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" ।।[1]

इसी श्रौत विज्ञान को लक्ष्य में रखकर–स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके"–इत्यादि ।।[2]

यही हमारे प्रकृतमन्त्र का द्वितीय अर्थ है ।।२।।

जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च" ।।४।।

।। ४ ।।

——❀——
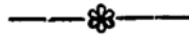
मध्य में अक्षर है । इसके एक तरफ अव्यय है–दूसरी तरफ क्षर है । क्षर मृत्यरूप होने से नानाभावापन्न है । अव्यय अमृत रूप होने से एककल है । यद्यपि अव्यय को पञ्चकल बतलाया जाता है, परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है । अव्यय अपने स्वस्वरूप से निष्कल है । अक्षर ही क्षर के चक्र में पड़कर अव्यय में अन्तश्चिति-बहिश्चिति करता हुआ उसे पञ्चकल बना डालता है । पूर्व के निरूपण से पाठकों को यह भी भली भाँति विदित हो गया होगा कि प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नादरूप क्षर ही इस अक्षर का स्वरूपधर्म्म बनकर पूर्वोक्त १६ कलाओं का जनक बनता है । कला नाना हैं । नानाभाव मृत्युरूप क्षर से सम्बन्ध रखता है । बस, जब तक अक्षर क्षर की तरफ झुका हुआ है तो यह षोडशकल है । यदि यह उस निष्कल-उपरिभागस्थ निष्कल अव्यय की ओर झुक जाता है तो पुरुष में जाकर इसकी वे १६ कलाएँ विलीन हो जाती हैं । उस समय केवल पुरुष ही रह जाता है । उस अकलअमृत को प्राप्तकर वह भोक्तात्मा भी अकलअमृत हो जाता है ।

पुरुष शब्द केवल अव्यय का वाचक है । यद्यपि गीता ने अक्षर-क्षर को भी पुरुष कहा है, परन्तु इन दोनों की पुरुषता अविनाभाव पर अवलम्बित है । वस्तुतः दोनों उस पुरुष की परा-अपरा प्रकृति हैं । पुरुष तो वही है । जैसे क्षर 'अवर' नाम से प्रसिद्ध है । अक्षर 'परावर' नाम से प्रसिद्ध है, तथैव

१–मुण्डकोप० २।१।१ ।　　२–गीता ८।१८ ।

अव्यय के लिए **'पर'** शब्द नियत है। व्यक्त क्षर **'अवर'** ही कहलाता है। अव्यक्ताक्षर **'परावर'** ही कहलाता है। दोनों से अतीत उत्तमपुरुष (अव्यय) **'पर'** ही कहलाता है। इसी अभिप्राय से–**'परस्तमात्तु-भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः'**[1]–यह कहा जाता है। वह 'पुरुष' भेदशून्य है। जो आत्मजिज्ञासु अक्षर को पहचानता हुआ तदविनाभूत पुरुष (अव्यय) को प्राप्त कर लेता है–उसकी क्षररूपा सोलहों कलाएँ—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" ॥[2]

—के अनुसार पुरुष में विलीन हो जाती हैं। उस समय यह आत्मा शुद्ध विमुक्त होकर लीन हो जाता है। सोलह कलाएँ उसमें कैसे लीन हो जाती हैं?–इसका विवेचन **'मुण्डकोपनिषत्'** में किया जाएगा जैसा कि ऋषि कहते हैं—

"स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः" ॥५॥

॥ ५ ॥

—❀—
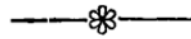
यदि जीवकलाएँ पुरुष में चली गईं तो क्या होगा? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—

"अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति" ॥६॥

"जिस अक्षरमय पुरुष में–रथनाभि में अर्पित आरों की तरह १६ कलाएँ प्रतिष्ठित हैं–वही 'वेद्य' है। उसे जानो जिससे कि तुमको मृत्यु पीड़ा न पहुँचा सके"। आत्मा दुःख से घबराता है। दुःख से भागता है--सुख चाहता है। बस, उसे प्राप्त कर लेने पर वही ऐकान्तिक सुख मिलता है। नित्य सुख प्राप्त करने वालों को उसी को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए–यही निष्कर्ष है।

॥ ६ ॥

—❀—
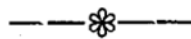
१–गीता ८।२०। २–मुण्डकोप० ३।२।७।

षोडशकल पुरुष का स्वरूप बतलाकर ऋषि छओं को सम्बोधन कर कहते हैं कि—हे आत्म-जिज्ञासु शिष्यो ! मैं तो इसे ही (अव्यय को ही) परब्रह्म समझता हूँ । इससे परे जानने की कोई भी वस्तु नहीं है । इस विषय का निरूपण—

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" ॥[1]

—इत्यादि कठश्रुति में किया जा चुका है ।

षोडशी पुरुष का स्वरूप छओं में से केवल भारद्वाज ने पूछा था । पिप्पलाद ने उसका स्वरूप बतलाया एवं अन्त में—**'तान् होवाच'**—इस प्रकार छओं को सम्बोधन कर—**'एतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद नातः परमस्ति'**—यह कहा । इससे ऋषि को बतलाना है कि—हे शिष्यो ! जिस षोडशी का स्वरूप भारद्वाज को हमने बतलाया है—उसे तुम भी पहचानो । तुमको हमने उसमें रहने वाले एक एक प्राण का स्वरूप बतलाया है । उसी को समझकर विश्राम मत लो । अपि तु, जिसमें तुम्हारे समझे हुए पांचों प्राण अर्पित हैं—उसे तुम पहचानो । तभी तुम्हें अमृत प्राप्त होगा । जैसा कि ऋषि कहते हैं —

"तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति" ॥

॥७॥

——❀——

इस प्रकार अपनी जिज्ञासा शान्त हो जाने पर परमश्रद्धा से महर्षि पिप्पलाद की पूजा करते हुए छओं—'आप हमारे सच्चे पिता हैं—जो कि आप हमें अविद्या-समुद्र से पार लगाने वाले हैं—

"ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः" ॥

॥ ८ ॥

——❀——

निष्कर्ष—

इस उपनिषत् में पाँच पाँच प्राणों का पञ्चप्राणाधारभूत षोडशकल विज्ञान प्रज्ञापति का निरूपण है । विज्ञानाक्षर अमृततत्त्व है । इसे प्राप्त करना है । अव्यक्त, महत्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मारूप पाँच प्राकृत प्राण हैं । पांचों में से किसी एक को आधार मानलो । उस पर पहुँच जाओ, क्योंकि सबका

१—कठोप० १।३।११ ।

परायण वही है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राण निरूपण के अन्त में ऋषि ने विज्ञानाक्षर पर ही उपसंहार किया है—

१–**'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः'** । (स वेदैतत्-परमं ब्रह्मधाम ।)–के अनुसार अक्षर ही ब्रह्मलोक है। प्रथम प्रश्न का यही उपसंहार है।

२–**'प्राणस्येदं वशे सर्वम्'**–इससे भी वह अक्षररूपविज्ञान'प्राण ही अभिप्रेत है।

३–**'य एवं विद्वान् प्राणं वेद'**–से भी वही अमृतप्राणरूप अक्षर अभिप्रेत है।

४–**'तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य'**–के लिए तो कुछ कहना नहीं है।

५–**'तमोङ्कारेणैव (अक्षरेणैव) आयतनेनान्वेति'**–से भी वही अव्यक्त अक्षर अभिप्रेत है।

अन्त में छठे प्रश्न में उस अक्षरप्रजापति का निरूपण कर सबका उसी में समन्वय कर दिया है। इस प्रकार यह उपनिषत् पञ्चप्राण द्वारा विज्ञानाक्षर (जो कि षोडशकल है) का ही निरूपण करता है।

"ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु" ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ इति षोडशीप्रजाप्रतिनिरूपणात्मकः षष्ठप्रश्नः ॥

॥ ६ ॥

॥ इति–अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषत् (पिप्पलादोपनिषत्-प्राणोपनिषत्) हिन्दीविज्ञानभाष्य सम्पूर्ण ॥